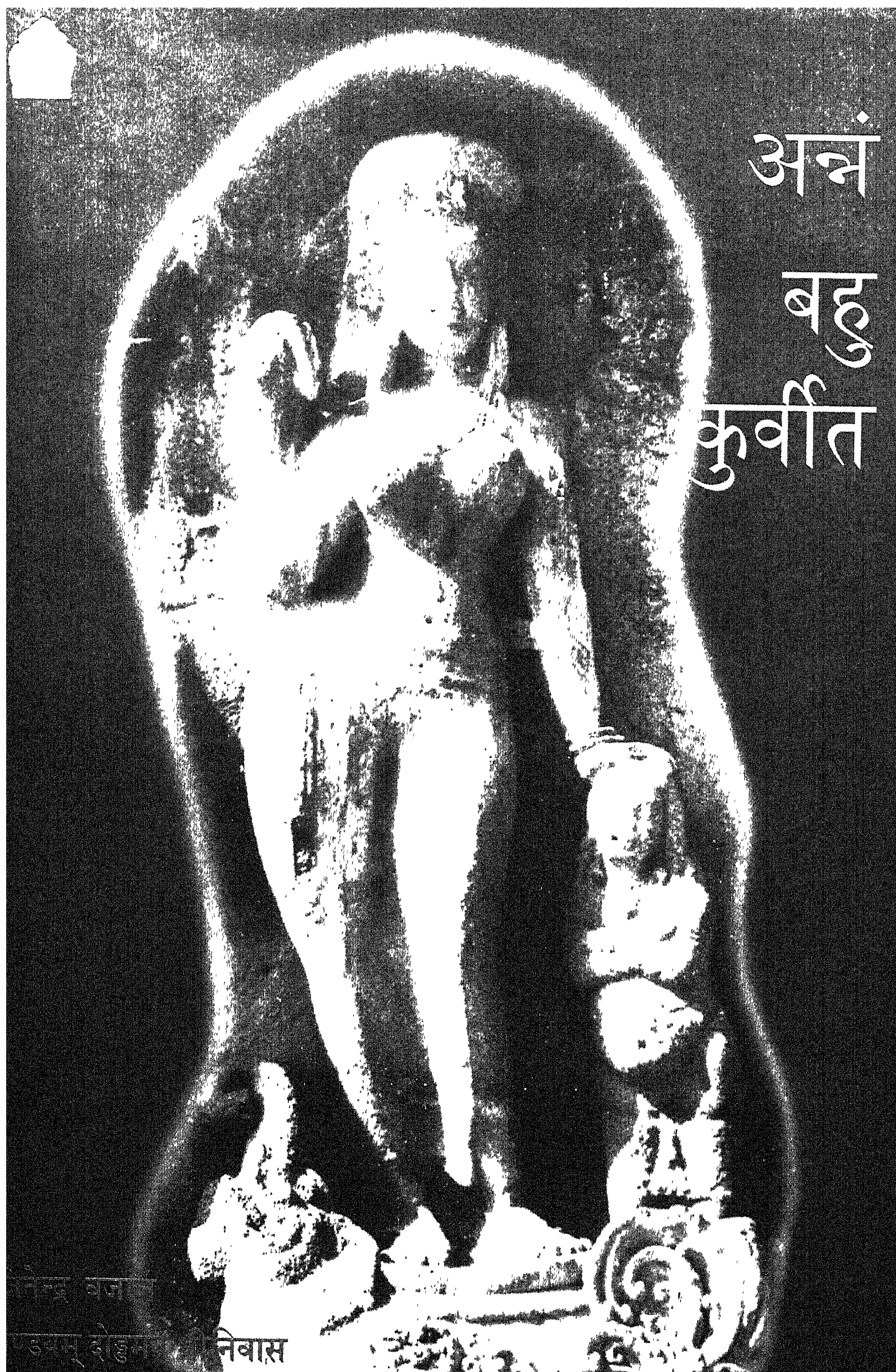

अन्नं
बहु
कुर्वीत
निवास

समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास

राष्ट्रनिर्माण के कार्य में महत्त्व लोगों के उत्साह एवं निष्ठा का ही होता है। राष्ट्र के लोग जब आत्मविश्वास एवं दृढ सङ्कल्प के साथ अपने किसी लक्ष्य की ओर चल निकलते हैं तो उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये समुचित साधनों, तकनीकों एवं व्यवस्थाओं आदि का सृजन तो वे सहज ही करते चले जाते हैं।

इस शती के पूर्वार्द्ध में महात्मा गान्धी ने भारतवर्ष में ऐसे ही दृढ सङ्कल्प एवं आत्मविश्वास का सञ्चार किया था और तब भारत के लोगों ने अपनी समस्त शक्ति को सहेजकर अपने-आप को स्वतन्त्रताप्राप्ति के महान् कार्य में लगा दिया था। उस सङ्कल्प एवं विश्वास के बल पर हम न केवल अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हुए, अपितु अपने उस अभूतपूर्व स्वतन्त्रता सङ्ग्राम को सम्पन्न कर हमने सम्पूर्ण विश्व को अनेक विलक्षण विचारों एवं विधाओं से समृद्ध किया।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् हमने स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के दिनों के उस दृढ सङ्कल्प एवं अविचल आत्मविश्वास को कहीं खो दिया है। दीर्घ राजनैतिक दासता ने हमें वैचारिक एवं व्यावहारिक तमस के गहन अन्धकार में धकेल दिया था। महात्मा गान्धी जैसे अवतार पुरुष के नेतृत्व में हम कुछ समय के लिये उस तमस से उबर पाये। उनके जाने के पश्चात् हम सहसा पुनः उसी तमस में डूब गये हैं। पिछले पचास वर्षों में हम सब प्रकार के ओज एवं उत्साह से विहीन जीवन ही जीते आये हैं। आज के विश्व में अपनी परिस्थिति को समझने और इस परिस्थिति में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को प्रतिष्ठाप्ति करने के लिये आवश्यक उद्यम करने के विषय में हमने कोई विचार ही नहीं किया। अपनी सांस्कृतिक गरिमा के अनुरूप विश्व में अपना कोई स्थान बनाने और अपनी कोई स्वतन्त्र दिशा स्थापित करने का कोई प्रयास हम से नहीं हुआ। स्वतन्त्र राष्ट्रीय जीवन के इन पचास वर्षों में हम तो अन्यों का अनुकरण करते हुए किसी प्रकार समय ही काटते आये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय हाट-बाजारों से उठने वाली विभिन्न झन्झाओं के समक्ष झुकते हुए, समय समय पर बह रही अन्तर्राष्ट्रीय पवन की दिशा के साथ अपने को घुमाते हुए, हम मात्र जीवनयापन ही करते आये हैं।

...शेष पृष्ठावरण पर

CENTRE FOR POLICY STUDIES
27 Rajasekaran Street
Mylapore, MADRAS-600 004
Tel: 8552802 Fax: 4900380

॥ अन्नं बहु कुर्वीत ॥

अन्नं बहु कुर्वीत



अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के
सनातन भारतीय धर्म का अनुस्मरण



जितेन्द्र बजाज

मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवास



समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास

१९९६

डा. जितेन्द्र बजाज द्वारा समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास से प्रकाशित

टङ्कण-सज्जा : अनुग्राफिक्स, मद्रास
मुद्रण : एम डब्ल्यू एन प्रेस, मद्रास

आई एस बी एन : ८१-८६०४१-०६-०



अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहम् ।
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम् ।
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥

अनुक्रमणिका

चित्र : आवरण पर श्रीरामेश्वर मन्दिर, एल्लोरा (गुहा २१), में उत्कीर्ण श्रीगङ्गा का चित्र है। अपने नकरवाहन पर प्रतिष्ठित श्रीगङ्गा ने श्रीयमुना पर अपना वरदहस्त रखा हुआ है। श्रीगङ्गा ने भारतभूमि को अपनी अथाह उर्वरक शक्ति से आप्लावित कर भारतीय सभ्यता को समृद्ध किया है। समर्पणपृष्ठ पर अमृतपात्र ला रहे प्रसन्नवदन श्रीहनुमान् की छवि बाली में प्रचलित काष्ठमूर्तियों से ली गयी है।

आमुख

सहज सस्यप्रबहुला भारतभूमि आज अन्नाभाव एवं व्यापक क्षुधा से त्रस्त है। अन्नभाव की यह स्थिति प्रायः दो सौ वर्षों से बनी हुई है। इस अवधि में देश में अनाज का उत्पादन इतना अल्प होता आया है कि सामान्य भारतीय जन के भाग में आने वाले अनाज की माध्य मात्रा २०० किलोग्राम प्रति वर्ष से ऊपर नहीं उठ पायी। २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष अनाज की यह मात्रा कोई सौ वर्ष पूर्व ब्रितानी प्रशासकों ने निश्चित की थी। उनका मानना था कि देश में इतनी मात्रा में अनाज उपलब्ध करवा दिया जाये तो दुर्भिक्ष से जीवनहानि होने की सम्भावना को टाला जा सकता है। हम आज तक उस दुर्भिक्ष जैसी स्थिति में ही चले आ रहे हैं। ब्रितानी प्रशासन के इस भूमि पर पाँव धरते ही यहाँ अकाल व्यापने लगा था और हम उस अकाल से अभी उबर नहीं पाये।

मानव का भोजन प्रायः सब स्थानों पर कृषि से उपजे अनाज एवं खाने योग्य कन्दों पर ही आधारित है। कृषि की इस मुख्य उपज में से ही पशुओं का भाग भी निकलता है। आज विश्व में अनाज एवं कन्दों का उत्पादन इतनी बहुलता से होता है कि विश्व के प्रायः किसी भी अन्य देश के वासी के भाग में माध्य भारतीय की अपेक्षा दोगुना से भी अधिक अनाज एवं कन्द आ पाते हैं। विश्व के आज समृद्ध माने जाने वाले देशों के वासियों के लिये तो माध्य भारतीय की अपेक्षा चार-पाँच गुना अधिक अनाज एवं कन्द उपलब्ध रहते हैं। भारत में कृषि की मुख्य उपज के इतना अल्प होने का परिणाम है कि आज हम इस उपज में से पशुओं के लिये किञ्चित् भाग भी नहीं निकाल पाते। और सम्पूर्ण उपज के मानवीय उपभोग को समर्पित कर दिये जाने के उपरान्त भी भारतीय जन के मुख्य भोजन की माध्य मात्रा विश्व-भर के लोगों के मुख्य भोजन की सामान्य मात्रा से एक-तिहाई अल्प बैठती है। भारतदेश के लोग एवं पशु दोनों ही भूखे हैं।

भारतभूमि ऐसी अभावग्रस्त तो कभी नहीं हुआ करती थी। आज से मात्र दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास नगर के आसपास के चेङ्गलपेट् क्षेत्र के लोग वहाँ की कठिन तटीय भूमि पर भी इतना अनाज उगा लेते थे कि क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति के भाग में प्रायः एक टन अनाज आ जाता था।

अपेक्षाकृत कठिन प्रदेशों में भी ऐसी बहुलता से अन्न उपजाने वाले हम भारतीय आज २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के उत्पादन को पर्याप्त मानने लगे हैं।

व्यापक क्षुधा एवं गहन अन्नाभाव की इस स्थिति से भारतवर्ष के हम समस्त सक्षम-सम्भ्रान्त जन परिचित हैं। जिन नीतिनियोजकों एवं अर्थशास्त्रियों का सांख्यिकी आँकड़ों से नित्य सम्बन्ध रहता है, वे तो देश में व्यापे अन्नाभाव से अपरिचित रह ही नहीं सकते। और जिनका आँकड़ों से सम्पर्क नहीं है अथवा जो आँकड़ों में विश्वास नहीं रखते, वे भी इस स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हैं। क्षुधाग्रस्त मानव एवं पशु तो देश में चहुँ ओर दिखते ही रहते हैं। परन्तु हमने उनकी क्षुधा के प्रति असम्पृक्त-सा भाव अपना लिया है। देश में व्याप्त क्षुधा एवं अन्नाभाव को जानते हुए भी हम यह भ्रम बनाये रखना चाहते हैं कि देश में हमारी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त अनाज उपलब्ध है।

जब किसी राष्ट्र की प्रजा के जीवन-मरण से सम्बन्धित किसी विषय के प्रति राष्ट्र के सक्षम-सम्भ्रान्त जन ऐसे असम्पृक्त हो जाते हैं, जब किसी राष्ट्र में अन्न जैसे मूलभूत विषय के सन्दर्भ में ऐसा विभ्रम छा जाता है, तब मात्र आँकड़ों की बात करना कदाचित् पर्याप्त नहीं रहता। ऐसे काल में तो अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के मूलस्रोतों की ओर मुड़कर वहीं से कोई नया दिशानिर्देश पाना होता है। अपनी संस्कृति के मूलस्रोतों से ही पुनः यह सीखना होता है कि राष्ट्र अथवा मानव के जीवन में किन विषयों का शाश्वत एवं मौलक महत्त्व है और कौन से विषय मात्र कालिक एवं आनुषङ्गिक होते हैं। यह पुस्तक इस अन्वेषण की दिशा में किञ्चित् प्रयास ही है।

भारतवर्ष में सर्वदा यह माना जाता रहा है कि बहुमात्रा में अन्न उपजाना और उपजाये अथवा पकाये गये अन्न का व्यापक-उदार संविभाग करने के उपरान्त ही उपभोग की ओर प्रवृत्त होना मानवीय जीवन का मौलिक अनुशासन है। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान मानवीय जीवन का मूलभूत एवं सनातन धर्म है। वस्तुतः धर्मनिष्ठ जीवन अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के इस मूलधर्म पर ही प्रतिष्ठित होता है, समस्त धर्मसम्मत एषणाओं की ओर प्रवृत्ति अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के इस सुस्थिर आधार पर स्थित होकर ही सम्भव होती है। यहाँ तक कि मोक्ष की साधना भी इसी आधारभूत धर्म के सम्यक् निर्वाह से ही प्रारम्भ होती है।

इस पुस्तक में हमने श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण का अवलम्बन लेकर अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के सनातन भारतीय धर्म के अनुस्मरण का प्रयास किया है। हमें आशा है कि यह पुस्तक राष्ट्र का ध्यान अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के इस मौलिक धर्म पर केन्द्रित करने में सहायक होगी।

भारतभूमि असाधारण नैसर्गिक वैभव से सम्पन्न है। राष्ट्र का ध्यान भारतभूमि पर केन्द्रित होने लगे तो भारत के अत्यन्त निपुण कृषक शीघ्र ही इस सहज उर्वरा भूमि से ऐसा अन्नबाहुल्य उत्पन्न कर लेंगे जिससे मानव और पशु सब की क्षुधा निवृत्त हो जाये और भारतवर्ष पुनः अपनी सांस्कृतिक गरिमा एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, ऐसा हमारा विश्वास है। हमारे यहाँ अभाव नैसर्गिक साधनों अथवा तकनीकी एवं संगठनात्मक कौशल का नहीं अपितु सम्यक् मनोयोग का ही है। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के धर्म का यह पुनःस्मरण इस मनोयोग को प्राप्त करने में सहाई हो, यही हमारी आकाङ्क्षा है। हम यह भी आशा करते हैं कि कतिपय भारतीय इस पुस्तक में संग्रहित विभिन्न श्लोकों एवं आख्यायिकाओं को अपने बच्चों को भारतीय सभ्यता की मूलवृत्तियों से परिचित करवाने में उपयोगी पायेंगे। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के मौलिक धर्म से परिचित होकर वे सम्भवतः यह जान पायेंगे कि भारतीय होने का अर्थ क्या होता है, और भारतीय होकर वे कैसे उच्च महत्त्व एवं उत्तरदायित्व के भागी हुए हैं।

अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान का विषय भारतीयों के लिये अर्थव्यवस्था का नहीं अपितु धर्मसम्मत जीवन की मूलभूत धारणा का ही विषय है। अतः हमने प्रकाशन से पूर्व इस पुस्तक को भारत के अनेक प्रमुख धर्माचार्यों के चरणों पर समर्पित किया है। हमारा सौभाग्य है कि उन्होंने इस पुस्तक को अपने आशीर्वाद से गौरवान्वित किया है। धर्माचार्यों का यह भी आशीर्वाद है कि भारतवर्ष शीघ्र ही अपने आप को पुनः अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के धर्म में प्रतिष्ठित कर पायेगा और यहाँ शीघ्र ही सुभिक्ष एवं बाहुल्य व्यापने लगेगा। अनेक आचार्यों ने पुस्तक को पढ़कर अपने लिखित मङ्गलाशासन भेजने की कृपा की है। आचार्यों के ये मङ्गलाशासन मूल संस्कृत एवं हिन्दी रूपान्तर में पुस्तक के प्रारम्भ पर प्रस्तुत हैं। हम इस अनुग्रह के लिये आचार्यों के प्रति नमन करते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में अनेक सहयोगियों का योगदान रहा है। हम विशेषतः अपने मित्र एवं निकट सहयोगी श्री बनवारी, श्री वरदराजन् एवं श्री गुरुमूर्ति के आभारी हैं। वे सब परिस्थितियों में हमारे लिये बल एवं आत्मविश्वास के स्रोत बने रहे। श्री कृष्णमूर्तिशास्त्रिगल् एवं श्री रामसुब्रमण्यन् संस्कृत सन्दर्भ-ग्रन्थों के अन्वेषण और उन्हें समझने में हमारी अनेक प्रकार से सहायता करते रहे। स्नेहपात्री भागिनेयी नीरू ने इस पुस्तक को प्रकाशनयोग्य बनाने में विशेष परिश्रम किया। श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने अपने सुदीर्घ एवं गहन अनुभव से इस पुस्तक की साज-सज्जा को परिष्कृत किया है। अनुग्राफिक्स, मद्रास के सहयोगियों एवं विशेषतः श्रीमति त्रिपुरा ने अत्यन्त लग्न एवं श्रम से इस पुस्तक को मुद्रण के लिये सज्जित किया है, और

एम डब्लयू एन प्रेस के श्री श्रीवास ने व्यक्तिगत रुचि लेकर इस पुस्तक का सुन्दर मुद्रण किया है। हम इन सब सहयोगियों के अत्यन्त आभारी हैं।

श्रीमति कुसुम बजाज एवं श्रीमति विजयलक्ष्मी श्रीनिवास ने इस पुस्तक के प्रथम प्रारूप को पढ़ा और तब से वे निरन्तर हमें इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये प्रेरित करती रहीं। उन के इस सस्नेह सहयोग के बिना यह कार्य ऐसा आनन्ददायक तो नहीं हो पाता।

इस पुस्तक को भाषा में निबद्ध करने का दायित्व हम दोनों में से मुख्यतः जितेन्द्र बजाज ने निभाया है।

मद्रास
धातृवत्सरीय व्यास पूर्णिमा कलि ५०९८
तदनुसार जुलाई ३०, १९९६

॥ मङ्गलाशासनानि ॥

आचार्यों के आशीर्वाद : मूल संस्कृत

॥ श्री शृङ्गेरी श्रीजगद्गुरुमहासंस्थानम् ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठ
तपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न श्रीशङ्कराचार्यगुरुपरम्पराप्राप्त षड्दर्शनस्थापनाचार्य
व्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय सांख्यत्रयप्रतिपादक वैदिकमार्गप्रवर्तक
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादिराजधानी विद्यानगरमहाराजधानी कर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य
श्रीमद्राजाधिराजगुरुभूमण्डलाचार्य ऋष्यशृङ्गपुरवराधीश्वर तुङ्गभद्रातीरवासि
श्रीमद्विद्याशङ्करपादपद्माराधक श्रीजगद्गुरु श्रीमदभिनवविद्यातीर्थस्वामिगुरुकरकमलसञ्जात

॥ श्री जगद्गुरु शृङ्गेरी श्रीमद्भारतीतीर्थमहास्वामिभिः ॥

। श्रीविद्याशङ्कर ।

निखिलास्तिकमहाजनेषु नारायणस्मरणपूर्वकं विरचिता आशिषस्समुल्लसन्तु ।

इह खलु श्रेयोऽर्थिनां नराणां धर्मानुष्ठानमेव परमं साधनम्। स च धर्मः अरोगदृढगात्रेणैवानुष्ठातुं शक्यः। तत्रारोगता दृढगात्रता च युक्ताहारविहारवत एव सम्भवति। अनश्नन् अत्यन्तमश्नंश्च धर्माचरणे अक्षमो भवति । तदुक्तं भगवता 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः' इत्यादिना। तदेव हितमितमेध्याशनं तप इति योगशास्त्रविदस्संगिरन्ते। तत्राहारो मुख्यतया अन्नशब्देनाभिधीयते। तस्य चान्नस्य वैशिष्ट्यं श्रुत्यैव 'अन्नं न निन्द्यात्, अन्नं न परिचक्षीत, अन्नं बहु कुर्वीत' इत्यादिना बहुधा प्रत्यपादि। अत अन्नस्य सम्यगुत्पादनं तस्य सम्यग्विनियोगश्च लोकानां हितायैव भवतः। इमं विषयं परित्यज्य विषयान्तरेषु परिश्रमः 'किमस्त्यनुपनीतस्य वाजपेयादिभिर्मखै'रिति न्यायमनुधावति।

अधुना **समाजनीति समीक्षण केन्द्र** नाम्नी संस्था अन्नस्य महिमानं लोकानवबोधयितुं **अन्नं बहु कुर्वीत** इति नाम्ना ग्रन्थमेकं प्रकाशयति, अस्मिन्नेव विषये काञ्चन गोष्ठीमपि

प्रविवर्तयिषति यस्यां बह्वो विद्वांसः नैके मठाधीशाः विशिष्टाः पुरुषाश्च समवेत्य चर्चां विधाय लोकानां चेतस्सु अन्ने श्रद्धामुत्पादयिष्यन्ति ।

वयमपीमां कार्यप्रणालीमवगत्य मोदामहे। संस्थेयं श्रीशारदाचन्द्रमौलीश्वरयोः कृपापूरेण संकल्पितकार्यनिर्वहणे विशिष्टां शक्तिमवाप्नोतु, गोष्ठी चेयं निष्प्रत्यूहं सम्पद्यतामिति चाशास्महे ।

शृङ्गगिरिः **इति नारायणस्मरणम्**

धातृवत्सरीय वैशाखकृष्णदशमी भानुवासरः **श्री**

१२.५.१९९६

श्रीः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमत् परमहंस

।। श्री कलियन् वानमामलै रामानुज जीयर् स्वामिगल् ।।

श्री वानमामलै मठम्

नाङ्गुनेरि

अभिनन्दनपत्रम्

।। स्वस्ति श्रीर्दिशतात् ।। ११.३.९६ तमे दिने द्वौ भौतिकशास्त्रप्राचार्यौ अर्थशास्त्रप्राचार्यश्चैकइति त्रयो विवेकिनः प्राज्ञा अत्रास्मदीय श्रीमठमागतवन्तश्चिरमस्माभिस्सम्भाषणसौख्यमनुभूतवन्तश्च। ते चासन् – क्रमशः श्री जितेन्द्र बजाजाभिधेयः प्राचार्यः, श्री मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवासार्यनामा प्राचार्यस्तथा श्रीवरदराजार्यनामधेयः प्राचार्यः कीर्तिमूर्तीनां सुप्रसिद्धविद्वद्वरिष्ठानां श्रीमदुभयवेदान्ताचार्य कारप्पङ्काडु श्रीवेङ्कटाचार्यस्वामिनां पुत्रमणिश्च। एते त्रयोऽपि **समाजनीति समीक्षण केन्द्र** नाम्नस्सङ्घादायातवन्तः। संवादोऽस्माकं सुविस्तृतः परमफलेग्रहिश्च समपद्यत। तद्दिने तथा द्वाभ्यां भौतिकप्राचार्याभ्यां विरचितम् **अन्नं बहु कुर्वीत** इति शीर्षकभूषितं प्रचिकाशयिषितं पुस्तकरत्नं समर्पितमस्मभ्यम्।

पुस्तकरत्नमिदं सत्यामपि कार्यन्तरव्यापृतावस्माभिरामूलाग्रं समवेक्षितम्। अधुनास्माकमयं सुदृढो विश्वासः यदीदृशो ग्रन्थः प्रप्रथमं विरचितः प्रकाशमुपनीयमानोऽस्तीति। स्वकीयकेन्द्रस्य लक्ष्याण्यनुसृत्य नितरां विलक्षणया सरण्या ग्रन्थोऽयं विरचित आभ्यां प्राचार्याभ्यां बाभाति। ग्रन्थरचनायाः पूर्वं श्रुतिपुराणेतिहासग्रन्थानां बहूनां सम्यगालोडनं परिश्रमेण कृतवन्तावेतौ द्वावपि रचयितारावविति सुस्पष्टं भासते। कृष्णयजुर्वेदतैत्तिरीयोपनिषदि प्रतिपादितमन्नमाहात्म्यम् अन्नदानमाहात्म्यञ्च प्रधानतयावलम्ब्य 'अन्नं बहु कुर्वीत' इत्यौपनिषदवाक्यमेव शीर्षकतया परिगृह्य परममनोहारिणा विषयविवेचनवर्त्मना क्रमशोऽध्यायशस्सुसंवर्धितश्चकास्त्ययं ग्रन्थः।

सन्दर्भानुसारेण भविष्यपुराणादिस्थश्श्वेतराजवृत्तान्तः इतरे च बहवस्समुचिता उदन्ताः श्रीरामायणीयाः महाभारतस्थाश्च सुनिपुणमुपपादिताः शतशश्च श्लोकास्समुद्धृताश्च विभान्त्यत्र ग्रन्थरत्ने। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' इति तत्रैवातिथिसत्कारविषयस्तैत्तिरीयोपनिषदि यो वा दृष्टोऽस्ति, अस्मत्पुण्यभूमेर्भारतवर्षस्य सनातनसिद्धान्तोऽयमिति विषयं विवरीतुमतिबहवः पुराणेतिहासश्लोकास्समुद्धृता विलसन्ति। अत्रास्मद्द्राविड्यां वाण्यां सुप्रसिद्धसङ्घकालिकग्रन्थरत्ने 'तिरुक्कुरळ्' नाम्नि यद्धा प्रतिपादितमस्ति तत्वं, स्मारयन्ति तस्य समग्रा अप्येते समुद्धृतश्लोकाः।

'अतिथि' शब्द एवेदं बोधयति यत् यः कोऽपि वा समागच्छत्यस्मद् गृहद्वारे, तस्य पूर्वं स्वागमनाय तिथेस्समयस्य च सूचनमनावश्यकमिति। तादृश्यासीदस्माकं पुण्यभूमेः भारतस्य प्राचीनतमा संस्कृतिः। यदि वयं पूर्वतनयुगैराधुनिकस्यातिविवृद्धस्य वैज्ञानिकस्यापि युगस्य तुलनां कुर्मः, तर्हि वयं पश्यामोऽन्नोत्पादनविषये, प्रजानां पर्याप्तान्नलाभविषये च महानस्ति व्यत्यास इति। तथैवान्यैर्देशैस्तुलनायामपि वयं सम्पश्यामोऽपर्याप्तिमेव सुतराम्। इमानावश्यकान्विषयान्सम्यग्विवेचनपूर्वकं, प्रात्यक्षिकविश्लेषणपुरस्सरश्च ग्रन्थेऽस्मिन् श्रीबजाजमहोदयः श्रीश्रीनिवासार्यमहाभागश्च सुविस्तृतं प्रतिपादितवन्तौ।

एवमिमं जीवनाधारभूतं, प्राचीनास्मदीयसंस्कृतिस्तम्भभूतश्च विषयमभूतपूर्वतया, प्रप्रथमतया च स्वीकृत्य ग्रन्थरत्नमिदं विरचितवन्तावेतौ द्वावपि प्राचार्यौ निश्चप्रचं परमप्रशंसनीय-प्रतिभाशालिनौ विभात इति हार्दमाचक्ष्महे। इयं कृतिमतल्लिका सर्वत्र प्रसृता समधीता च भूत्वा परमफलेग्रहिर्भूयादिति वयं सप्रेम समाशास्महे। प्रार्थयामहेचास्मत्कुलदैवतदिव्यदम्पत्योः श्रीवरमङ्गाम्बायाः श्रीदेवनायकविभोश्च पादपाथोरुहयुगलमूले यदेतौ द्वावपि ग्रन्थकर्तृमहानुभावौ सुचिरं जीवेताम् अथैतादृशसेवामस्माकं जन्मधरण्या भारतमहाराष्ट्रस्य बहुशः कुर्यातामिति च।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

नाङ्गुनेरि
१९.३.९६

श्रीरामानुजन्
श्रीकलियन् वानमामलै रामानुजजीयर् स्वामी

श्रीहरिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यपरम्परागत

॥ जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्रीनिश्चलानन्द सरस्वती महाराज ॥

श्रीगोवर्धनपीठ

पुरी

'अन्नं बहु कुर्वीत' इति तैत्तिरीयोपनिषत् अन्नस्य प्रचुरोत्पादनं सञ्चयं वितरणञ्चोपदिशति। स्थूलदेहोपादानपञ्चमहाभूतानि अन्नमिति सञ्ज्ञायन्ते पञ्चदश्याम्। छान्दोग्यम् आहारोऽन्नमिति ब्रवीति। दार्शनिकदृष्ट्या अन्नादाख्यस्य भोक्तुर्भोग्यम् अर्थात् शेषपदार्थोऽन्नमित्यभिधीयते। सप्तान्नब्राह्मणे तु देवमनुष्यादिप्राणिभोग्यानि जीवोपभोग्यानि वस्तूनि अन्नमिति व्यवह्रियन्ते। पूर्वोक्तरीत्या दर्शपौर्णमासौ देवान्नम्, व्रीह्यादिकं मनुष्यान्नम्, वीरुधादिकं पश्वन्नम्, वाङ्मनःप्राणाश्च जीवान्नमिति सिद्ध्यति।

भारतीयमनीषिणो विविधलोकलोकान्तरस्थित स्वयंभूमनसिजजरायुजाण्डजोद्भिज्ज-स्वेदजप्राणिवर्गस्य भोग्यपदार्थमन्नं स्वीकुर्वन्ति। अमृतं वै देवानाम्, सुधा वै नागानाम्, स्वधा वै पितॄणाम्, वीरुधश्च पशूनाम्, व्रीह्यादयो वै मनुष्याणाम् अन्नम्, अन्नं वै प्राणाः सर्वेषाम्।

सर्वाणि चान्नानि जलात् प्रादुर्भवन्ति। श्रीमद्भागवते पृथुचरित्रमाध्यमेन पृथ्वीदोहन-प्रसङ्गे विविधान्नसम्बन्धिनी बृहन्मीमांसा समुपवर्णिता व्यासाचार्यैः। आपो वै सकलान्नानां मूलानि, आपो वै अन्नपोषकस्य सोमस्य अभिव्यञ्जकानि। तस्मादन्नदानस्य जलदानस्य च महत्त्वं विजयतेतराम्। देहत्यागानन्तरं दानवीराः दिव्यातिदिव्यान् लोकानधिगम्य यशस्विनो जायन्ते। आयुष्मन्तो धनवन्तश्च भवन्ति।

न तस्मात् परमं दानं किञ्चिदस्तीति मे मनः।
अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः॥

तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते ।
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ।।

अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत ।
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते ।।

अन्नं वापि प्रभवति पानीयात् कुरुसत्तम ।
नीरजातेन हि विना न किञ्चित् सम्प्रवर्तते ।।

नीरजातश्च भगवान् सोमो ग्रहगणेश्वरः ।
अमृतं च सुधा चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा ।
अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः ।
यतः प्राणभृतां प्राणाः सम्भवन्ति विशाम्पते ।
देवानाममृतं ह्यन्नं नागानां च सुधा तथा ।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ।।

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः ।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्त्तते ।
तस्मात् पानीयदानाद् वै न वरं विद्यते क्वचित् ।।

तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते ।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ।।

सर्वकाममवाप्नोति कीर्तिं चैव हि शाश्वतीम् ।
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ।।

तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते ।
अक्षयान् समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ।।

पुरी
२८.३.९६

निश्चलानन्दः

श्रीमन्नारायणरामानुजयतिभ्यो नमः

॥ श्री श्री त्रिदण्डी श्रीमन्नारायण रामानुज जीयर् स्वामीजी ॥

सीतानगरम्

अभिनन्दनम्

श्रीमते नारायणाय नमः

अनेकानि मङ्गलाशासनानि

अवलोकितस्तत्र तत्र **अन्नं बहु कुर्वीत** इति शुभाख्यया शोभमानोऽयं निबन्धः। 'अन्नं बहु कुर्वीत' इति श्रुतिवचनमधिकृत्य विवरणरूपतया श्रीमद्भ्यां जितेन्द्र बजाजुना, मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवासेन च संग्रथितोऽयं ग्रन्थः अस्माभिः सकुतूहलं परिशीलितः। अन्नदानविषये अन्नसम्पादनविषये च बहुभ्यः ग्रन्थेभ्यः बहूनि उपबृंहणवाक्यानि उपात्तानि। अयं परिश्रमः परिशोधकयोः विषयपौष्कल्यसाधने श्रद्धां बुद्धिनैशित्यं च व्यञ्जयति।

श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासेषु तत्र तत्र श्रूयमाणाः अन्नसम्बन्धिन्यः बह्व्यः सूक्तयः कथाः अत्र एकत्र क्रमेण पाठकानां दृष्टिपथे पतन्ति। मानवमात्रस्य बहुधा उपयोगि किल! अन्नं भवति। अतः सर्वमानवसमुदायानाम् अवश्यं ज्ञातव्यं ननु अन्नं भवति। अतश्च प्राचीनवाङ्मयनिबद्धनानावाक्यश्लोककथासंग्रथनात्मकोऽयं ग्रन्थः सत्यमेव समभिनन्दनीयतायाः चरमां कोटिमाटीकते।

आर्षवाङ्मये बद्धश्रद्धाः श्रद्धाविधुराः अपि जनाः ग्रन्थस्य अस्य सबहुमानं स्वागतं समुदीरयेयुरिति मन्यामहे। यतो ह्ययं ग्रन्थः प्राक्तनानां परमर्षीणाम् अन्नसम्बन्धिनीमखिलामपि विचारधारामेकत्र खलु निबध्नाति। अनेन च निबन्धेन प्राचीनपरमर्षिमेधासम्पत्तिर्ननु प्रकाशिता भवति। पूर्वे हि भारतीयाः न केवलमाध्यात्मिकभावनाप्रचारक्षेत्र एव कृतश्रमाः! अपि तु प्रापञ्चिकभोगानुभूतिव्यवस्थाविषयेऽपि सुष्ठु प्रयतन्ते स्म।

आध्यात्मिकजीवनसरणिः अनुश्रियमाणा, अत्र परत्र चाऽपि आनन्दमभिमतम् अवश्यमेव सम्पादयतीति किल आर्यमिश्राणाम् अतिदृढः अध्यवसायः । आस्तिक्यबुद्धेर्यावता आघातप्रतिबन्धादिशङ्कैव नोदियात् तावान् वैषयिको भोगः सर्वासामपि व्यक्तीनां समनुमन्यते स्म 'अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशयः' इतीयं काचन प्राचीनसूक्तिरपि विषयेऽस्मिन् आलोकप्रसारमारचयति ।

समीचीनजीवनविधानं समाजस्य साक्षात्कर्तुकामानां वैदिकवाङ्मयश्रद्धाविधुराणामपि अन्नस्वरूपस्वभावोपयोगविनियोगादिकमवश्यमेव खलु विज्ञातव्यं विलसति, यतः तेऽपि सर्वे अन्नगतप्राणा एव समुपलभ्यन्ते । 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'इति उपदिशन्ती औपनिषदी सरस्वती कस्य वा सहृदयस्य स्वान्तं नावर्जयति? 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' इत्यादीनि सूक्तिशतानि कस्य वा समालोचकस्य शीर्षं सबहुमानं नो कम्पयति?

सत्यामेव खलु मनश्शुद्धौ परिशुद्धा भावनाधारा परिवहति, या किल प्रतिव्यक्ति-भासमाना समाजस्य सत्यसाक्षात्कारिसमीचीनमार्गसञ्चारे साहाय्यकम् आरचयति । अतः मानवमात्रस्य जीवनसौष्ठवसम्पादने मुख्यसाधनभूतस्य अन्नस्य विज्ञानसर्वस्वमिव विभ्राजमानोऽयं निबन्धः सर्वेषामप्युपकारकः उपादेयश्चेति दृढमभिधातुं शक्यते ।

अन्नं हि नाम धनकनकवस्तुवाहनाद्यपेक्षया मर्त्यस्य संपूर्णां संतृप्तिं जनयति । यदि पर्याप्तमन्नं प्रजाः लभेरन् तर्हि पारस्परिकहिंसास्तेयदौर्जन्यादिसङ्घविद्रोहकार्यकलापप्रवृत्तेः विरता भवेयुः विश्वशान्तिश्च प्रपञ्चे सुस्थिरा विराजेत । अतः अन्नक्षेत्राणि न कुत्रापि यन्त्रस्थापनक्षेत्ररूपेण वा आवासक्षेत्ररूपेण वा परिवर्तितानि भवेयुः। आवासादिकृते अन्नोत्पादक-क्षेत्रेभ्योऽपि, अन्यानि ऊषरक्षेत्राणि उपयुञ्जेरन् । तेन वर्तमानकालोत्पाद्यमानाहारापेक्षया अधिकान्नं सम्पादितं भवेत्। एवं बह्वन्नप्राप्तचै अन्नदानकूटान्यपि तत्र तत्र स्थापनीयानि भवन्ति, तदा प्रजानां सर्वासां जठरभरणापेक्षितपर्याप्तप्रशस्तान्नप्राप्तिः, ततश्च विश्वशान्तिः अवश्यमेव विजृम्भेत सर्वथा ।

अन्नदानव्रतिभिः कृपालुभिः कैश्चन महात्मभिः बह्व्यः धर्मशालाः निर्मिताः, तन्निर्वहणाय महान्ति क्षेत्राणि धनानि च दत्तानि । भारतदेशे सर्वत्र ग्रामेषु पत्तनेषु नगरेषु च अद्यापि धर्मशालाः निर्वाह्यन्ते । अयमंशः अस्माकं सुविदित एव ।

परस्सहस्रं वर्षाणि घोरं तपस्तप्त्वा अनन्तरं यदृच्छालब्धं यत्किञ्चिदपि अन्नं क्षुधातुरेभ्यः अर्थिभ्यः दत्वा अभुक्त्वा अपीत्वा च पुनः तपश्चर्यायै प्रवृत्तान् भारतीयान् ऋषीन् प्रति शृणुमः । स्वार्जितमन्नं अतिथिभ्यो दत्वा उपोषितवर्ती भारतीयगृहिणीं संस्मरामः । श्येनस्य

क्षुधाशान्तये स्वशरीरमांसं दत्वा कपोतं ररक्ष शिबिचक्रवर्ती इति गाथा अस्माकं स्मृतिपथं न जहाति। स्वगृहमागताय निजभार्यां कपोतीं गृहीतवते व्याधाय स्वमेव शरीरमन्नतया दत्तवन्तं कपोतं महात्यागिनं मन्यामहे।

अहो कालस्य विपर्ययः! किं ब्रूमः? 'द्वारं द्वारम् अटन् भिक्षुः शिक्षत्येव न याचते। अदत्वा मादृशो मा भूः दत्वा त्वं त्वादृशो भव' इति। अन्नार्थी वा अन्यार्थी वा यदि कश्चन भिक्षुः द्वारमागतः सः मम हितमुपदेष्टुमागत इत्येव मन्तव्यं न तु भिक्षणायेति प्राचीनभावना अस्तु!

श्रीमतोः महाभागयोः जितेन्द्रबजाज्श्रीनिवासयोः महता परिशोधनेन निष्पन्नोऽयं ग्रन्थः, बह्वन्नोत्पादनबह्वन्नदानव्रतदीक्षितानां प्राचीनानां भारतीयानाम् औदार्यं निरूपयन् अद्यतनानां भारतीयानां मार्गं दर्शयन् देशान्तरेषु च भारतीयानां दानशौण्डतां प्रथयतात् इति आशास्महे।

योयं कृतः प्रयत्नः अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशने, स सर्वेषामपि समभिनन्दनीयतायाः समीचीनं पात्रं भवत्विति।

सीतानगरम्
१३.३.९६

अनेकानि मङ्गलानि आशास्महे
जय श्रीमन्नरायण

।। श्री विश्वेशतीर्थ स्वामीजी ।।

श्री पेजावर अधोक्षज मठ
जगद्गुरु मध्वाचार्य संस्थान
उडुपि

लोभदुराशाक्रान्तमानवकुलं प्रति भगवता ब्रह्मणा 'द' इत्युद्धोषणेन दानसन्देशः प्रदत्तः । दीयताम्, त्यागजीवनमुपादीयतामित्येवास्य सन्देशस्य सारः । परन्तु दानितायाः स्थाने दीनतामेव समाजजीवने सर्वत्र वयमिदानीं पश्याम इति सविषादमावेदयामः । दानकार्येऽपि अन्नदानस्य विशेषतः प्रशंसा शास्त्रेषु परिदृश्यते । 'अन्नस्य क्षुधितं पात्रम्' इति जातिवर्गभेदमतिक्रम्य क्षुधितसर्वजनसन्तर्पणं विधेयमिति शास्त्रं समादिशति ।

जनेषु असंविभज्य अन्येषामन्नवितरणमविधाय केवलमेकः यदश्नाति स पातकपिण्डमेव भुङ्क्त इति भगवता कृष्णेन उद्घोषितम् । अन्नदानस्य एतादृशं महिमानं विविधग्रन्थपरिशीलनेन विशदीकुर्वत्पुस्तकमिदं सादरं समभिनन्दामः । अनेन समुचिता सामाजिकजागृतिः सम्पद्यतामित्याशास्महे ।

तिरुपतिः
२४.१२.९५

इति
सप्रेम नारायणस्मरणानि

।। विरक्त शिरोमणि श्री स्वामी वामदेवजी महाराज ।।

अखिल भारतीय सन्त समिति
आनन्द कुटीर
वृन्दावन

श्रीगणेशाय नमः

अन्नं बहु कुर्वीत इतिशीर्षकवत्पुस्तकं मयाऽवलोकितम् । यत् जितेन्द्रबजाज्श्रीनिवासाभ्यां महता प्रयत्नेन निष्पादितम् ।

'अन्नं बहु कुर्वीत' इति तैत्तिरीयश्रुतिरप्यस्ति । अस्याः श्रुतेः कः अभिप्रायः? अभिप्रायस्त्वयमेव प्रतीयते, यत् यदि अन्नं बहु स्यात् तर्हि तस्य दानमपि बहु स्यात् । बहुदानेन किं स्यात् । कोऽपि क्षुत्पीडितोऽशान्तो न स्यात् । यदा सर्वेऽशान्ता न स्युः, तदा सर्वेसुखिन एव भूत्वा जीवनस्य योऽर्थः तत्वजिज्ञासा तां प्राप्नुयुः । भोजनादिचिन्तारहितस्य शान्तस्य धर्माचरणे प्रवृत्तस्य शुद्धचित्तस्यैव तत्वजिज्ञासा जायते । तया च विचारे प्रवृत्तिः । तत्वविचारेण तत्वज्ञानं जायते । अत एवोक्तं भागवते 'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।' आपवर्ग्यस्य अपवर्गस्य मोक्षस्य साधनं तत्वज्ञानं, तस्य साधनस्य धर्मस्य अर्थः धनं प्रयोजनं न भवति अपि तु तत्वज्ञानमेव । ये दातारस्तेषामपि विविदिषा (तत्वजिज्ञासा) भवत्येव । एवं दानेन दातारो ग्रहीतारश्च कल्याणभाजनं भवन्ति । जीवनसाफल्यं च गच्छन्ति । दातॄणामपि जिज्ञासा (विविदिषा) जायते । अस्मिन्नर्थे 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति बृहदारण्यकश्रुतिरपि प्रमाणमस्ति ।

अनेन पुस्तकविचारेण दानस्य यत् फलमवगतं तदपि लिख्यते । अन्नदानं साक्षात्प्राणदानमर्थात् जीवनदानमेवास्ति । जीवने सत्येव धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्विध-पुरुषार्थानां साधनं सम्प्राप्तिश्च संभवति । एवं त्वन्नदानं परम्परया चतुर्विधपुरुषार्थदानमपि वक्तुं शक्यते । अत एव बुभुक्षितस्य भिक्षुकस्य चातिथेः भिक्षाधिकारिणः संन्यासिनो ब्रह्मचारिणो

ब्राह्मणस्य क्षुन्निवृत्यर्थमन्नाप्रदातुः धर्मशास्त्रेषु बहुधा निन्दा श्रूयते। शास्त्रवचनानि तु पुस्तकस्य प्रथमभागे समुद्धृतान्येव । यज्ञैर्देवानां प्रसादः । देवानां प्रसादेन वृष्टिद्वारा बह्वन्नोत्पत्तिः । उत्पन्नस्यान्नस्य देवानप्रदाय भोक्ता स्वशरीरं पुष्णाति तथा तपआदिसाधनबलात् स्वर्गलोकेऽपि गत्वा क्षुत्पीडित एव सन् स्वमांसमेव खादति। अतः अन्नदानस्य महान् महिमाऽस्ति।

आधुनिकतथाकथितसमाजवादस्यापेक्षया भारतीयैकशासकस्य शासने कीदृक् सुरम्यः समाजवाद आसीत् सोऽपि पुस्तके प्रदर्शितः । अयं समाजवादोऽपि अन्नादिदानेनैव चलति स्म । अस्य वर्णनं पुस्तकस्यान्तिमभागे तञ्जावूरराज्यप्रकरणे कृतम् । यत् पठित्वा हृदयं द्रवीभूतं भवति । यदा यातायातसमृद्धसाधनानि नासन् तदापि हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरमपि यात्राणां प्रवाहः आसीत् । सोऽपि अन्नदानस्यैव महिमा आसीत् । पुस्तकस्य अवलोकनेन प्रतिभाति यत् अन्नदाननिष्ठानामात्मबलमपि वर्धते तत् आत्मबलं यं विना परमात्मप्राप्तिर्न संभवति। यथा वदति श्रुतिरपि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

किं बहुना। अधिकजिज्ञासया पुस्तकमेवावलोकनीयम् ॥ इति शुभम्॥

वृन्दावनम्
१०.८.९६

विद्वदनुचरः
परमहंस स्वामी वामदेवः

श्रीः

श्री चन्द्रमौलीश्वराय नमः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य
श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यपरम्परागत

॥ जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती स्वामिगल् ॥

श्रीकामकोटिपीठमहासंस्थानम्
काञ्चीपुरम्

अन्नदानात् तीर्थदानाच्च परं दानं नास्ति इत्येका प्राचीना श्रुतिः। केभ्यः अन्नं दातव्यम्? 'अन्नस्य क्षुधितं पात्रम्' इति उत्तरं भवति। अन्नदानविषये प्रत्येकमेकमौन्नत्यं दृश्यते। इतरेषु दानेषु यः दानं लभते, सः पूर्णसन्तुष्टिम् अलंबुद्धिं च न प्राप्नोति। अन्नदाने तु यो दानमवाप्नोति सः उदरपूर्त्या यदा अन्नमश्नाति तदा 'सन्तुष्टोऽहम्', 'अलम् अलम्' इति चिन्तयति वदति च।

अन्नशब्दस्य तात्पर्यम् 'आहारः' इति वक्तुं शक्यते। मनुष्यादारभ्य क्रिमिकीटपर्यन्तं सर्वे प्राणिनः अन्नेनैव (आहारेणैव) जीवन्ति। अन्नमेव प्राणिनां उत्पत्तिकारणम् इत्यर्जुनाय भगवता कृष्णेन गीतायां स्पष्टतया प्रोक्तम् 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' इति।

अन्नं बहु कुर्वीत इति शीर्षकेदत्तं पुस्तकं दृष्ट्वा अत्यन्तं मोदामहे। चेन्नपुरीस्थौ श्रीयुतौ जितेन्द्र बजाज्, मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवासश्च द्राविडहिन्द्याङ्ग्लभाषासु अन्नदानस्य महत्त्वं विस्तरेण लिखित्वा पुस्तकमिदंप्रकाशितवन्तौ। अस्मिन् पुस्तके अन्नदानस्य श्रैष्ठ्यं विशेषफलमित्यादयः उपनिषत्सु मनुधर्मशास्त्रे इतिहासपुराणेषु च दृश्यमानैः वाक्यैः तेषु तेषु विद्यमानाभिः काश्चिद्भिः आख्यायिकाभिश्च सम्यक् वर्णिताः।

अद्यत्वे खाद्यधान्योत्पत्तौ कृषौ धान्यरक्षणे तण्डुलादिपरिणमने च बहवः नूतनाः क्रमाः अनुस्रियन्ते। परं धान्यस्य हितमेध्यतारक्षणे न अवधीयते। बहुधान्योत्पत्तिः इत्येव लक्ष्यं दृश्यते।

परं पूर्वैः कृषौ धान्योत्पत्तौ धान्यरक्षणे वितरणे अन्नदाने धर्म्यः आरोग्याय हितः मार्गः आदृतः बहुधान्योत्पत्तिविषये जागरुकैः। स श्रेयोवहः दैर्घकालिकलोकहिताय प्रभवति।

अस्य पुस्तकस्य पठनेन अन्नदानं प्रति पूर्णं ज्ञानं लभ्यते। भारतदेशीयै : सर्वैःपुस्तकमेतद् अवश्यं पठनीयं, यावत् शक्यं तावत् अन्नदानमपि कर्तव्यं इत्याशास्महे।

काञ्चीपुरम्
३१-७-१९९८

नारायणस्मृतिः

।। मङ्गलाशासनानि ।।

आचार्यों के आशीर्वादों का हिन्दी रूपान्तर

।। श्री शृङ्गेरी श्रीजगद्‌गुरुमहासंस्थानम् ।।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठ
तपश्चक्रवर्त्यनाद्यविच्छिन्न श्रीशङ्कराचार्यगुरुपरम्पराप्राप्त षड्दर्शनस्थापनाचार्य
व्याख्यानसिंहासनाधीश्वर सकलनिगमागमसारहृदय सांख्यत्रयप्रतिपादक वैदिकमार्गप्रवर्तक
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रादिराजधानी विद्यानगरमहाराजधानी कर्णाटकसिंहासनप्रतिष्ठापनाचार्य
श्रीमद्राजाधिराजगुरुभूमण्डलाचार्य ऋष्यशृङ्गपुरवराधीश्वर तुङ्गभद्रातीरवासि
श्रीमद्विद्याशङ्करपादपद्माराधक श्रीजगद्‌गुरु श्रीमदभिनवविद्यातीर्थस्वामिगुरुकरकमलसञ्जात

।। श्री जगद्‌गुरु शृङ्गेरी श्रीमद्‌भारतीतीर्थमहास्वामिभिः ।।

। श्रीविद्याशङ्कर ।

नारायणस्मरणपूर्वक विरचित ये आशीर्वचन समस्त आस्तिक महाजनो में सम्यक् उल्लास का प्रसार करें।

इस जगत् में श्रेय प्राप्ति की इच्छा रखने वालों के लिये अनुशासित धर्माचरण ही एकमेव परम साधन है। धर्मसम्मत अनुशासित आचरण रोगमुक्त दृढ शरीर से ही सम्भव हो पाता है, और रोगमुक्त दृढ शरीर सम्यक् आहार-विहार से सम्भव होता है। अतः अत्यन्त भोजन करने वाले और नितान्त भोजन न करने वाले दोनों ही धर्माचरण में असमर्थ हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश है कि योग अति भोजन करने वाले अथवा भोजन की सर्वथा उपेक्षा करने वाले के लिये नहीं है – नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः, इत्यादि। इसीलिये योगशास्त्र के ज्ञाता सर्वदा सम्यक् हितकारी एवं पौष्टिक अन्न का सम्यक् मात्रा में उपभोग करने के अनुशासन को, हित-मित-मेध्य आहार करने के नित्य अनुष्ठान को ही तप की संज्ञा देते हैं।

अन्न शब्द का अर्थ मुख्यतः आहार से ही है – जो खाया जाता है वही अन्न है। उस अन्न

की विशिष्टता अनेक श्रुतिवाक्यों में प्रतिपादित हुई है, यथा 'अन्नं न निन्द्यात्', अन्न की निन्दा न करें, 'अन्नं न परिचक्षीत', अन्न की उपेक्षा न करें, 'अन्नं बहु कुर्वीत', अन्नबाहुल्य करें, आदि।

अन्न के समुचित उत्पादन एवं विनियोग में निश्चय ही लोगों का हित निहित है। अन्न के समुचित उत्पादन एवं विनियोग के इस मूलभूत विषय को छोड़कर अन्य विषयों के प्रति परिश्रम करने वाले पर तो 'किमस्त्यनुपनीतस्य वाजपेयादिभिर्मखैः' का न्याय ही सटीक बैठता है। भला जिसका अभी उपनयन ही न हुआ हो उसका वाजपेयादि यज्ञों से क्या लेना-देना हो सकता है?

अब 'समाजनीति समीक्षण केन्द्र' नामक संस्था द्वारा लोगों में अन्न की महिमा का प्रसार करने के उद्देश्य से 'अन्नं बहु कुर्वीत' शीर्षकयुक्त एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। इसी सन्दर्भ में एक गोष्ठी का भी आयोजन हो रहा है। इस गोष्ठी में अनेक मठाधीश, बहुत से विद्वान् एवं अन्य विशिष्ट जन एकत्र हो इस विषय पर विचार करेंगे और लोगों में अन्न के प्रति चेतना एवं श्रद्धा जागृत करेंगे।

इस कार्यक्रम को जानकर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं। श्रीशारदाम्बा एवं श्रीचन्द्रमौलीश्वर की पूर्ण कृपा से इस संस्था को अपने सङ्कल्पित कार्य के समुचित निर्वाह के लिये विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो और यह गोष्ठी भी निर्विघ्न सम्पन्न हो! यही हमारा आशीर्वाद है।

इति नारायणस्मरणम्

श्री

शृङ्गगिरि

धातृवत्सरीय वैशाखकृष्णदशमी भानुवासर

१२.५.१९९६

श्रीः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीमत् परमहंस

।। श्री कलियन् वानमामलै रामानुज जीयर् स्वामिगल् ।।

श्री वानमामलै मठम्

नाङ्गुनेरि

अभिनन्दनपत्रम्

। स्वस्ति श्रीर्दिशतात्। ११.३.९६ के दिन दो भौतिकशास्त्री और एक अर्थशास्त्रविद्, ये तीन विवेकशील विद्वान् श्रीमठ में आये और हमें उनके साथ दीर्घ वार्तालाप का सुख प्राप्त हुआ। इन तीन विद्वानों का परिचय है – श्री जितेन्द्र बजाज, श्री मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवास और सुप्रसिद्ध वरिष्ठ विद्वान् कीर्तिमूर्ति श्रीमद् उभयवेदान्ताचार्य कारप्पाङ्काडु श्रीवेङ्कटाचार्य स्वामी के पुत्ररत्न श्री वरदराजन्। ये तीनों 'समाजनीति समीक्षण केन्द्र' नामक संस्था की ओर से श्रीमठ में उपस्थित हुए थे। इन के साथ हमारा संवाद अत्यन्त विस्तृत एवं फलग्राही रहा। उस दिन इन दो भौतिकशास्त्रियों द्वारा विरचित 'अन्नं बहु कुर्वीत' शीर्षकयुक्त पुस्तक की पूर्वप्रकाशन प्रति भी हमें समर्पित की गयी।

अन्य कार्यो की व्याप्ति में भी हमने इस पुस्तक का आरम्भ से अन्त तक अवलोकन किया है। और अब हमारा यह दृढ विश्वास है कि इस प्रकार का ग्रन्थ प्रथमतः ही रचा गया है और प्रथमतः प्रकाशित हो रहा है। अपने केन्द्र के उद्देश्यों का अनुसरण करते हुए इन दो विद्वानों ने सर्वथा विलक्षण रीति से इस सुशोभन ग्रन्थ की रचना की है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस ग्रन्थ की रचना करने से पूर्व इन दोनों रचयिताओं ने अनेक श्रुति, पुराण एवं इतिहास ग्रन्थों का सम्यक् आलोड़न किया है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रतिपादित अन्न एवं अन्नदान

के माहात्म्य का प्रधानतया अवलम्बन लेते हुए और तैत्तिरीयोपनिषद् के ही श्रुतिवाक्य 'अन्नं बहु कुर्वीत' के शीर्षक से रचे गये इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों को क्रमपूर्वक विभिन्न अध्यायों में सुसज्जित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में अन्न एवं अन्नदान से सम्बद्ध समस्त विषयों का परम मनोहारी विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थरत्न में श्रीभविष्यपुराण एवं अन्य अनेक स्थानों पर पायी जाने वाली राजा श्वेत की कथा का वर्णन भी आया है, और अन्य अनेक कथाओं एवं विशेषतः श्रीरामायण एवं श्रीमहाभारत से शतशः श्लोकों को सन्दर्भानुसार अत्यन्त निपुणता से उद्धृत किया गया है।

अतिथिसत्कार के सन्दर्भ मे तैत्तिरीयोपनिषद् का स्पष्ट निर्देश है – 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव', माँ तुम्हारे लिये देवसमान हों, पिता देवसमान हों, आचार्य देवसमान हों एवं अतिथि देव समान हों। उपनिषद् का यह प्रतिपादन हमारी पुण्य भारतभूमि पर अतिथि सत्कार के सम्बन्ध में सनातन सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठापित रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पुराणों एवं इतिहासों से अनेक श्लोक उद्धृत कर इस सनातन सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ उद्धृत श्लोकों के परिशीलन से हमारी अपनी द्रविड़ भाषा के सुविख्यात सङ्ककालिक ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल्' में इस विषय में हुए प्रतिपादन का स्मरण सहज ही हो आता है।

किसी गृहस्थ के गृहद्वार पर जो भी जिस किसी भी समय उपस्थित होता है वह उस गृहस्थ के लिये 'अतिथि' ही है, अतिथि के लिये अपने आगमन के तिथि-काल की पूर्वसूचना देना आवश्यक नहीं होता। हमारी पुण्यभूमि भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृति ऐसी उदार हुआ करती थी। यदि हम अपने पूर्वयुग की अतिसंवृद्ध विज्ञान से युक्त आज के युग से तुलना करें तो भी अन्न उत्पादन एवं प्रजा को प्राप्त होने वाले अन्न की मात्रा के विषय में हमारा पूर्वयुग आज की अपेक्षा महत्तर ही दिखायी देता है। और आज हमारे यहाँ अन्यों की तुलना में भी सर्वथा अपर्याप्त अन्न उपलब्ध हो पाता है। श्रीबजाज एवं श्रीश्रीनिवास ने अन्न के उत्पादन एवं उपलब्धि के इस महत्त्वपूर्ण विषय का सांख्यिकी आँकड़ों के आधार पर सम्यक् विवेचन करते हुए विशद प्रतिपादन किया है।

जीवन के आधारभूत और हमारी प्राचीन संस्कृति के स्तम्भभूत इस विषय का अभूतपूर्व एवं सर्वथा प्रथमतः विवेचन प्रस्तुत करते हुए इस ग्रन्थरत्न की रचना करने वाले परम प्रशंसनीय प्रतिभा के धनी इन दोनों प्राचार्यों की ख्याति सब ओर प्रकाशित हो! यही हमारा हार्दिक आशीर्वाद है। हम सप्रेम आशीर्वाद देते हैं कि इस उत्कृष्ट रचना का सर्वत्र प्रसार हो! यह सर्वत्र पढ़ी जाये और यह ग्रन्थ परम फलवान् हो! हम अपने कुलदेवता दिव्यदम्पती श्रीवरमङ्गाम्बा और

श्रीदेवनायकविभु के चरणकमलों पर प्रार्थना करते हैं कि इस ग्रन्थ के कर्ता ये दोनों महानुभाव दीर्घायु हों, और इसी प्रकार हमारी जन्मभूमि इस महान् भारतभूमि की बहुशः सेवा करते रहें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों, सब रोगमुक्त हों, सब का भला हो, किसी के भाग में किसी प्रकार का कोई दुःख प्रस्तुत न हो।

नाङ्गुनेरि
१९.३.९६

श्रीरामानुजन्
श्रीकलियन् वानमामलै रामानुजजीयर् स्वामी

श्रीहरिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य
श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यपरम्परागत

।। जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्रीनिश्चलानन्द सरस्वती महाराज ।।

श्रीगोवर्धनपीठ
पुरी

'अन्नं बहु कुर्वीत', अन्नबाहुल्य करो!, इस श्रुतिवाक्य के माध्यम से तैत्तिरीयोपनिषद् अन्न के प्रचुर उत्पादन, प्रचुर सञ्चय एवं प्रचुर वितरण का उपदेश देता है। स्थूलदेह के उपादान पञ्चमहाभूतों को 'पञ्चदशी' में अन्न की ही संज्ञा दी गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि आहार ही अन्न है। दार्शनिक दृष्टि से भोक्ता का भोग्य अन्न ही है, जो भी पदार्थ किसी अन्य के उपभोग में आता है वह अन्न है, और इस प्रकार समस्त भोग्य पदार्थ अन्न हैं। सप्तान्नब्राह्मण में देवों, मनुष्यों और अन्य समस्त जीवों के उपभोग में आने वाली समस्त वस्तुओं के लिये 'अन्न' शब्द का व्यवहार हुआ है। इस रीति से दर्शपौर्णमास आदि कर्म देवों के लिये अन्न हैं, व्रीहि आदि अनाज मनुष्यों के लिये अन्न हैं, वीरुध आदि घास पशुओं के लिये अन्न हैं, और वाक्, मन एवं प्राण समस्त प्राणधारी जीवों के लिये अन्न हैं।

भारतीय मनीषियों ने विविध लोक-लोकान्तरों में स्थित स्वयम्भू, मनसिज, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज वर्ग के प्राणियों के भोग्य पदार्थों को अन्न की संज्ञा दी है। अतः अमृत देवों के लिये, सुधा नागों के लिये, स्वधा पितरों के लिये, वीरुध पशुओं के लिये और व्रीहि आदि मनुष्यों के लिये अन्न हैं, और प्राण तो सब प्राणियों के लिये अन्न हैं ही।

समस्त अन्न जल से ही उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवत के पृथिवीदोहन प्रसङ्ग में श्री व्यासाचार्य पृथु के चरित्र के माध्यम से विविध अन्न सम्बन्धी वृहद् मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। निश्चय ही जल ही समस्त अन्नों का मूल स्रोत है, और इस सन्दर्भ में 'जल' से अन्नपोषक 'सोम' की ही व्यञ्जना

होती है। अतः अन्नदान एवं जलदान की महिमा अन्य दानों की अपेक्षा कहीं गुरुतर हैं। दानवीर लोग देह त्यागने के उपरान्त दिव्यातिदिव्य लोकों में पहुँचकर यशस्वी होते हैं। इस लोक में भी वे दीर्घायु एवं विपुल धन-सम्पदा के भागी होते हैं।

महाभारत के अनुशासनपर्व के सत्तासठवें अध्याय में भीष्म पितामह युधिष्ठिर के लिये अन्नदान एवं जलदान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं –

न तस्मात् परमं दानं किञ्चिदस्तीति मे मनः।
अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः ॥

अन्न एवं जलदान से बढ़कर कोई दान नहीं होता, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। क्योंकि, समस्त जीव अन्न से ही प्राण प्राप्त करते हैं और अन्न से ही जीवित रहते हैं।

तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते।
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा ॥

इसीलिये समस्त जन अन्न को ही इस लोक में सर्वोपरि बताते हैं। प्राणियों के तेज एवं बल में सर्वदा अन्न से ही वृद्धि हुआ करती है।

अन्ने दत्ते नरेणेह प्राणा दत्ता भवन्त्युत।
प्राणदानाद्धि परमं न दानमिह विद्यते ॥

इस लोक में अन्यों को अन्न देने वाला प्राणों का ही दाता बन जाता है। और प्राणदान से उच्चतर तो कोई दान होता ही नहीं है।

अन्नं वापि प्रभवति पानीयात् कुरुसत्तम।
नीरजातेन हि विना न किञ्चित् सम्प्रवर्तते ॥

कुरुसत्तम युधिष्ठिर! वह अन्न जल से ही पैदा होता है। नीरजात अन्न के बिना किसी का प्रवर्तन सम्भव नहीं।

नीरजातश्च भगवान् सोमो ग्रहगणेश्वरः।
अमृतं च सुधा चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा।
अन्नौषध्यो महाराज वीरुधश्च जलोद्भवाः।

यतः प्राणभृतां प्राणाः सम्भवन्ति विशाम्पते ।
देवानाममृतं ह्यन्नं नागानां च सुधा तथा ।
पितॄणां च स्वधा प्रोक्ता पशूनां चापि वीरुधः ॥

समस्त ग्रहों के ईश्वर भगवान् सोम जल से ही उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार अमृत, सुधा, स्वाहा एवं स्वधा का उद्गम भी जल से ही हुआ है। महाराज युधिष्ठिर! अन्न, औषधियाँ एवं वीरुध भी जल से ही उत्पन्न होते हैं। प्रजाओं के रक्षक युधिष्ठिर! समस्त प्राणधारियों के प्राण जल से उत्पन्न हुए इन विविध अन्नों से ही सम्भव होते हैं। इन में से अमृत को देवों का, सुधा को नागों का, स्वधा को पितरों का और वीरुध को पशुओं का अन्न कहा गया है।

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः ।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्त्तते ।
तस्मात् पानीयदानाद् वै न वरं विद्यते क्वचित् ॥

मनीषियों ने अन्न को ही मनुष्यों का प्राण कहा है। और नरव्याघ्र युधिष्ठिर! अन्न जल से उत्पन्न होता है। अतः जलदान से उच्च अन्य कोई दान नहीं होता।

तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते ।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥

जो मनुष्य इस लोक में एवं परलोक में श्रेय प्राप्ति की इच्छा रखते है, उन्हें नित्य जलदान में प्रवृत्त होना चाहिये। जलदान करने वाला इस लोक में धन, यश एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। कौन्तेय युधिष्ठिर! जल का दाता अपने शत्रुओं से सदा गुरुतर बैठता है।

सर्वकाममवाप्नोति कीर्तिं चैव हि शाश्वतीम् ।
प्रेत्य चानन्त्यमश्नाति पापेभ्यश्च प्रमुच्यते ॥

जल का दाता इस लोक में अपनी सब कामनाओं की पूर्ति और शाश्वत कीर्ति को प्राप्त होता है, और अन्ततः सब पापों से मुक्त हो परलोक में अनन्त सुख का उपभोग करता है।

तोयदो मनुजव्याघ्र स्वर्गं गत्वा महाद्युते ।
अक्षयान् समवाप्नोति लोकानित्यब्रवीन्मनुः ॥

मनुजव्याघ्र एवं महाद्युति युधिष्ठिर! स्वयं मनु कह गये हैं कि जल का दाता स्वर्ग में पहुँचकर अक्षय लोकों को प्राप्त होता है।

पुरी
२८.३.९६

निश्चलानन्दः

श्रीमन्नारायणरामानुजयतिभ्यो नमः

।। श्री श्री त्रिदण्डी श्रीमन्नारायण रामानुज जीयर् स्वामीजी ।।

सीतानगरम्

अभिनन्दनम्

श्रीमते नारायणाय नमः
अनेकानि मङ्गलाशासनानि

'अन्नं बहु कुर्वीत' शीर्षकयुक्त इस शुभाख्य एवं शोभनीय निबन्ध का अवलोकन किया। श्री जितेन्द्र बजाज एवं श्री मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवास द्वारा 'अन्नं बहु कुर्वीत' के श्रुतिवाक्य का आश्रय लेकर इस श्रुतिवाक्य की व्याख्यास्वरूप विरचित इस ग्रन्थ का हमने सकुतूहल परिशीलन किया है। इस ग्रन्थ में अन्नदान एवं अन्नसम्पादन के विषय में अनेक ग्रन्थों से अनेक उपबृंहण वाक्य उद्धृत किये गये हैं। ग्रन्थ से इसके दोनो रचयिताओं की अपने विषय में परिश्रमसाध्य निपुणता और इस विषय के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठावान् बुद्धि स्पष्ट भासित होती है।

श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहास ग्रन्थों में अन्नसम्बन्धी जो अनेक कथाएँ एवं सूक्तियाँ पायी जाती हैं, वे सब यहाँ एक ही स्थान पर क्रमबद्ध हो पाठक के दृष्टिपथ में आ प्रस्तुत होती हैं। अन्न निश्चय ही मानवमात्र के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अतः समस्त मानव समाजों के लिये अन्न की महिमा का ज्ञान तो आवश्यक ही है। इसलिये प्राचीन वाङ्मय में निबद्ध अनेक वाक्यों, श्लोकों एवं कथाओं को संग्रहित कर रचा गया यह ग्रन्थ निश्चय ही चरमकोटि के अभिनन्दन के योग्य है।

हमारा विश्वास है कि आर्ष वाङ्मय में श्रद्धा रखने वालों में ही नहीं अपितु ऐसी श्रद्धा से वञ्चित जनों में भी यह ग्रन्थ अत्यन्त स्वागत पायेगा। इस ग्रन्थ में भारत के प्राचीन परमर्षियों के

॥ श्री विश्वेशतीर्थ स्वामीजी ॥

श्री पेजावर अधोक्षज मठ
जगद्गुरु मध्वाचार्य संस्थान
उडुपि

भगवान् ब्रह्मा ने 'द' शब्द का उद्धोष कर लोभ एवं दुराशा से आक्रान्त मानवकुल के प्रति दान का सन्देश दिया। त्यागमय जीवन जीते हुए दान करते चले जाओ, यही इस सन्देश का सार है। परन्तु हमें विषादपूर्वक यह निवेदन करना पड़ रहा है कि आजकल तो सामाजिक जीवन में सर्वत्र 'दानिता' के स्थान पर 'दीनता' का ही प्रसार हुआ दिखायी देता है।

दानकार्यों के सन्दर्भ में शास्त्रों में अन्नदान की विशेष प्रशंसा हुई है। 'अन्नस्य क्षुधितं पात्रम्', जो भी भूखा है वह अन्न पाने का पात्र है, इस आदेश के साथ शास्त्र जाति एवं वर्ग भेद की उपेक्षा कर समस्त क्षुधित जनों को सन्तुष्ट करने का विधान प्रतिपादित करते हैं।

भगवान् कृष्ण ने स्वयं घोषणा की है कि जो अन्यों के साथ बाँटे बिना, अन्यों के लिये समुचित अन्नवितरण का प्रबन्ध किये बिना, अकेले स्वयं अपने लिये अन्न का उपभोग करता है, वह वस्तुतः अन्न का नहीं मात्र पातकपिण्ड का ही उपभोग करता है।

अन्नदान की ऐसी उच्च महिमा का प्रस्तुत पुस्तक में विविध ग्रन्थों का परिशीलन कर विशद विवेचन किया गया है। हम अन्नदान की महिमा सम्बन्धी इस पुस्तक का सादर अभिनन्दन करते हैं। इस पुस्तक के माध्यम से समुचित सामाजिक जागृति का सम्पादन हो! यही हमारा आशीर्वाद है।

तिरुपति
२४.१२.९५

इति
सप्रेम नारायणस्मरणानि

।। विरक्त शिरोमणि श्री स्वामी वामदेवजी महाराज ।।

अखिल भारतीय सन्त समिति
आनन्द कुटीर
वृन्दावन

श्रीगणेशाय नमः

'अन्नं बहु कुर्वीत' शीर्षकयुक्त पुस्तक का अवलोकन हमने किया। यह पुस्तक जितेन्द्र बजाज एवं श्रीनिवास द्वारा महान् प्रयत्नपूर्वक रची गयी है।

'अन्नं बहु कुर्वीत', अन्नबाहुल्य करो!, यह तैत्तिरीयोपनिषद् का श्रुतिवाक्य है। इस श्रुति का क्या अभिप्राय है? अभिप्राय तो यही है कि जब अन्न की बहुलता होती है तभी अन्नदान भी बहुलता से हो पाता है। और, अन्नदान की बहुलता से क्या होता है? तब कोई क्षुधा से पीड़ित अथवा अशान्त नहीं रहता। और, जब कहीं कोई अशान्त नहीं रहता तो सब लोग सुखी होकर जीवन के अर्थ के प्रति जिज्ञासा अर्थात् तत्वजिज्ञासा को प्राप्त होते हैं। भोजन आदि की चिन्ता से रहित, शान्त एवं धर्माचरण में प्रवृत्त शुद्ध चित्त में ही तत्वजिज्ञासा उत्पन्न होती है। तत्वजिज्ञासा के उत्पन्न होने पर तत्वविचार में प्रवृत्ति होती है। और तत्वविचार से, जीवन के सत्य पर सम्यक् चिन्तन से, तत्वज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में कहा गया है – 'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते।', धर्म जो निश्चय ही आपवर्ग्य है उसका अर्थ धन-सम्पत्ति की कल्पना करना नहीं है। आपवर्ग्य अपवर्ग अथवा मोक्ष के साधन को कहा जाता है, और यह साधन तत्वज्ञान ही है। अतः तत्वज्ञान के साधनरूप धर्म का प्रयोजन धन-सम्पदा नहीं तत्वज्ञान ही हो सकता है।

जो दान देते हैं उनमें भी विविदिषा का आविर्भाव होता है और विविदिषा तत्वजिज्ञासा का ही पर्याय है। इस प्रकार दान के कर्म से दान देने वाला और लेने वाला दोनों ही कल्याण के पात्र बनते हैं। दान पाने वाले को तृप्ति की और देने वाले को विविदिषा की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ में बृहदारण्यक का श्रुतिवाक्य है – 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन

तपसाऽनाशकेन', ब्राह्मण वेदानुवचन से, यज्ञ से, दान से और अनुशासित तप से विविदिषा प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पर विचार करने से दान के फल सम्बन्धी जो बोध होता है वह भी लिख दिया जाये। अन्नदान साक्षात् प्राणदान अर्थात् जीवनदान ही है। जीवन के सुरक्षित रहने से ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूपी चतुर्विध पुरुषार्थों की साधना एवं प्राप्ति सम्भव होती है। अतः अन्नदान को चतुर्विध पुरुषार्थ के दान का ही पर्याय कहा जा सकता है। इसीलिये क्षुधित भिक्षुक एवं अतिथि अथवा भिक्षा पाने के सहज अधिकारी संन्यासी, ब्रह्मचारी एवं ब्राह्मण की क्षुधानिवृत्ति के लिये भी अन्न न देने वाले की धर्मशास्त्रों में बहुधा निन्दा सुनी जाती है। इस सन्दर्भ में शास्त्रों के वचनों को प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम भाग में सम्यक् उद्धृत किया गया है। इन वाक्यों के माध्यम से बताया गया है कि कैसे यज्ञ से देव प्रसन्न होते हैं, देवों के प्रसाद से वृष्टि होती है और सम्यक् वृष्टि से बहुमात्रा में अन्न की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार देवों के प्रसाद से उत्पन्न हुए अन्न से देवों का भाग निकाले बिना अकेले स्वयं भोजन करने वाला भोक्ता मात्र अपने ही शरीर को पुष्ट करता है। ऐसा भोक्ता तप आदि साधनों के बल से स्वर्ग को प्राप्त होने पर भी क्षुधा से पीड़ित ही रहता है।

आज के तथाकथित समाजवाद की अपेक्षा भारतवर्ष के किसी एकछत्र शासक के शासन में भी किस प्रकार का सुरम्य समाजवाद हुआ करता था, यह भी पुस्तक में दर्शाया गया है। भारत का वह सामाजिक बोध भी अन्नदान पर ही टिका था। इस विशिष्ट भारतीय सामाजिक बोध का वर्णन पुस्तक के अन्तिम भाग में तञ्जावूर राज्य से सम्बन्धित प्रकरण में हुआ है। इस वर्णन को पढ़कर हृदय द्रवीभूत हो उठता है। तब जब यातायात के साधन आज जैसे समृद्ध नहीं हुआ करते थे, उन दिनों भी हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक यात्रियों का प्रवाह बना रहता था। वह अन्नदान की ही महिमा थी।

प्रस्तुत पुस्तक के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि जिनकी अन्नदान में निष्ठा होती है उनमें आत्मबल का भी संवर्धन होता है, और ऐसे आत्मबल के बिना तो परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। जैसे कि श्रुति का आदेश है – 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', इस आत्मा तक बलहीन की पहुँच नहीं हो सकती।

अधिक क्या कहा जाये? जिन्हें अधिक की जिज्ञासा हो उन्हें पुस्तक का ही अवलोकन करना चाहिये॥ इति शुभम्॥

वृन्दावन
१०.५.९६

विद्वदनुचर
परमहंस स्वामी वामदेव

श्रीः

श्री चन्द्रमौलीश्वराय नमः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यपरम्परागत

॥ जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती स्वामिगल् ॥

श्रीकामकोटिपीठमहासंस्थानम्
काञ्चीपुरम्

प्राचीन श्रुति है कि अन्नदान एवं जलदान से उच्च कोई अन्य दान नहीं होता। परन्तु, अन्न किसे दिया जाना चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जो भी भूखा है वह अन्न पाने का पात्र है, 'अन्नस्य क्षुधितं पात्रम्' इति।

अन्य दानों की अपेक्षा अन्नदान में एक औन्नत्य स्पष्ट दिखायी देता है। अन्य दानों के सन्दर्भ में दान पाने वाला कभी भी सम्पूर्ण सन्तुष्टि को प्राप्त नहीं होता, उसे कभी ऐसा आभास नहीं होता कि, 'पर्याप्त हुआ, अब और नहीं चाहिये!' परन्तु जो अन्नदान पाता है वह उदरपूर्ति तक भोजन करने के उपरान्त पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाता है। 'मैं सन्तुष्ट हुआ, यह पर्याप्त हुआ, पर्याप्त हुआ', वह इस प्रकार सोचने एवं कहने लगता है।

अन्न शब्द से आहार का अर्थ लिया जा सकता है। मनुष्य से लेकर कृमि-कीट पर्यन्त सब प्राणी अन्न अथवा आहार के आधार पर ही जीवित रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' का उपदेश देकर स्पष्टतया अन्न को ही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण बताया है।

अब, 'अन्नं बहु कुर्वीत' शीर्षक पुस्तक का अवलोकन कर हम अत्यन्त प्रसन्न हैं। चेन्नपुरी के श्री जितेन्द्र बजाज एवं मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवास ने अन्नदान के महत्त्व का विस्तार से विवेचन करते हुए यह पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक को हिन्दी, द्रविड़ एवं आङ्ग्ल भाषओं में

प्रकाशित किया जा रहा है। उपनिषद्, मनुधर्मशास्त्र एवं इतिहास-पुराण में पाये जाने वाले अन्नदान सम्बन्धी अनेक वाक्यों और कतिपय आख्यायिकाओं का आधार लेकर इस पुस्तक में अन्नदान की श्रेष्ठता एवं विशिष्ट फल आदि का सम्यक् वर्णन किया गया है।

आजकल खाद्य एवं धान की खेती, धान्य के संरक्षण एवं कृषि से उत्पन्न अनाज के परिष्कार के लिये अनेक नये ढङ्ग अपनाये जा रहे हैं। परन्तु इन नूतन क्रियाओं में धान्य की हितमेध्यता के रक्षण पर, धान्य को मानव के लिये हितकारी एवं पौष्टिक बनाये रखने पर, ध्यान नहीं दिया जाता। किसी प्रकार अधिक मात्रा में अन्न का उत्पादन कर लेना ही इन नूतन क्रियाओं का एकमेव लक्ष्य है। पूर्वकाल में हम धान्य की खेती, संरक्षण, समुचित वितरण एवं अन्नदान के विषय में धर्मसम्मत, आरोग्यकारक एवं हितकारी मार्ग का अनुसरण करते हुए भी अन्न के प्रचुर उत्पादन के प्रति जागरूक रहा करते थे। वही लोगों के दीर्घकालिक हित एवं श्रेयस् का मार्ग है।

प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर अन्नदान के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। सभी भारतीय इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें और यथाशक्ति अन्नदान भी करें! यही हमारा आशीर्वाद है।

काञ्चीपुरम् **नारायणस्मृतिः**
३१-७-१९९८

॥ अन्नं बहु कुर्वीत ॥



अध्याय १

ददस्वान्नं युधिष्ठिर

अन्न माहात्म्य एवं अन्नदान माहात्म्य

ददस्वान्नं ददस्वान्नं ददस्वान्नं युधिष्ठिर

''युधिष्ठिर! अन्नदान करो, अन्नदान करो, अन्नदान करो!'' श्रीभविष्यमहापुराण में अन्नदान की महिमा का आख्यान प्रारम्भ करते हुए श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को यही आदेश देते हैं।[१]

श्रीभविष्यमहापुराण का यह प्रसङ्ग सम्भवतः महाभारत में अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण में हुई धर्मचर्चा पर आधारित है। अश्वमेध के समारम्भ से पूर्व युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के आग्रह पर भीष्म पितामह से धर्म की शिक्षा प्राप्त करते हैं। युधिष्ठिर और उनके सब भाई शरशय्या पर लेटे भीष्म पितामह के चरणों में जा बैठते हैं और वे श्रीकृष्ण की उपस्थिति में युधिष्ठिर को धर्म के सब रूपों एवं सब पक्षों की और विशेषतः राजधर्म की विस्तृत शिक्षा देते हैं। भीष्म पितामह का यह विशद एवं वृहत् प्रवचन महाभारत के प्रायः पूरे शान्ति पर्व और सम्पूर्ण अनुशासन पर्व में चलता है। महाभारत महाकाव्य के शतसहस्र श्लोकों का एक चौथाई इन दो पर्वों में आ जाता है। इस महान् धर्मप्रवचन के सम्पन्न होने पर ही भीष्म पितामह अपनी भौतिक देह का त्याग करते हैं। तब श्रीकृष्ण और कृष्णद्वैपायन व्यास युद्ध में हुए संहार और भीष्म पितामह के अवसान से विषण्ण युधिष्ठिर को अश्वमेध यज्ञ के लिये प्रेरित करते हैं।

अश्वमेध यज्ञ का आयोजन तो बड़ा कठिन होता है। उसके लिये अनन्त साधन, साहस और शौर्य की अपेक्षा रहती है। युद्ध में हुए विनाश से क्षीण और प्रियजनों के संहार से विषण्ण युधिष्ठिर को अश्वमेध के लिये पर्याप्त साधन, साहस व शौर्य जुटाने के लिये अनेक उपक्रम करने पड़ते हैं। तब कहीं उनका अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हो पाता है।

---

[१] भविष्य ४.१६९.२, पृ.५२६।

अन्न माहात्म्य एवं अन्नदान माहात्म्य

अश्वमेध के सम्पन्न होने पर, यज्ञ सम्बन्धी सारे आयोजन एवं प्रयास से निवृत्त होकर युधिष्ठिर स्वयं श्रीकृष्ण से धर्म की शिक्षा पाने का अनुरोध करते हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण प्रायः १३०० श्लोकों में युधिष्ठिर को धर्म का ज्ञान करवाते हैं। महाभारत के दक्षिण भारतीय पाठों में ये १३०० श्लोक आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत वैष्णवधर्म पर्व के नाम से पाये जाते हैं।

वैष्णवधर्म पर्व के प्रायः अन्त में युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से भीष्म पितामह के सारे प्रवचन का सार जानने का आग्रह करते हैं – भीष्मवाक्यात् सारभूतं वद धर्मं सुरेश्वर।[२] युधिष्ठिर के आग्रह को स्वीकार करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं – अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतच्चराचरम्... अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत्। तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता।[३] 'यह जड़-जङ्गम विश्व अन्न पर ही टिका है... जो अन्नदान करता है वह मानो प्राणदान ही करता है, और जो किसी को प्राणदान देता है वह तो सब कुछ ही दे देता है। इसलिये इहलोक एवं परलोक में सुख-वैभव पाने की इच्छा रखने वाले को अन्नदान के प्रति विशेषतः प्रवृत्त होना चाहिये।'

भीष्म पितामह के वृहत् प्रवचन का सार भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार अन्नदान की महिमा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कदाचित् इसी प्रसङ्ग को स्मरण करते हुए श्रीभविष्यमहापुराण में अन्नदान माहात्म्य का आरम्भ श्रीकृष्ण के उस अनुल्लङ्घनीय आदेश वाक्य से किया गया है– ददस्वान्नं ददस्वान्नं ददस्वान्नं युधिष्ठिर!

अन्नदान माहात्म्य

भीष्म पितामह की सम्पूर्ण शिक्षा का सार युधिष्ठिर को समझाते हुए श्रीकृष्ण कुल १५ श्लोक कहते हैं। उनमें से पहले दस श्लोक गृहस्थ जीवन में अन्नदान की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं और आगे के पाँच श्लोकों में अन्न की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि कैसे रसगर्भित पृथिवी से अन्न उपजता है और कैसे उस अन्न से ही जीवसृष्टि का आविर्भाव एवं निर्वाह होता है। भारत के आर्ष साहित्य में अन्न और अन्नदान की महिमा का विस्तृत वर्णन और विवेचन हुआ है। अगले अध्यायों में हम अन्न व अन्नदान से सम्बन्धित आर्ष साहित्य के कुछ प्रसङ्गों को समझने का प्रयास करेंगे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्न एवं अन्नदान सम्बन्धी सारा भारतीय साहित्य, सम्पूर्ण आर्ष वर्णन और विवेचन मानो महाभारत के वैष्णवधर्म पर्व में श्रीकृष्ण के मुख से उच्चरित पन्द्रह श्लोकों पर एक दीर्घ भाष्य ही हो।

---

[२] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५।

[३] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५।

अन्नदान माहात्म्य

युधिष्ठिर को अन्नदान की महिमा बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं[४] –

अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।
अन्नात् प्रभवति प्राणः प्रत्यक्षं नास्ति संशयः ।।

यह जड़-जङ्गम विश्व अन्न पर ही टिका है। अन्न से जीवन की उत्पत्ति होती है। यह प्रत्यक्ष ही है, इस विषय में कोई शङ्का नहीं हो सकती।

कलत्रं पीडयित्वा तु देशे काले च शक्तितः ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ।।

इसलिये इहलोक व परलोक में सुख-वैभव की इच्छा रखने वाले को चाहिये कि जो भी माँगे उसे अन्न देता जाये। परिवार के कष्ट की चिन्ता छोड़कर अपने सामर्थ्य की सीमा तक और देश-काल के अनुरूप अन्नदान करते जाना चाहिये।

विप्रमध्वपरिश्रान्तं बालं वृद्धमथापि वा ।
अर्चयेद् गुरुवत् प्रीतो गृहस्थो गृहमागतम् ।।

गृहस्थ को घर पर आये वृद्ध, बालक, श्रान्त यात्री और विप्र का ऐसे सप्रेम स्वागत-सत्कार करना चाहिये जैसे स्वयं गुरु ही घर पर आ पधारे हों।

क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः ।
अर्चयेदतिथिं प्रीतः परत्र हितभूतये ।।

इस लोक से परे भी सुख-वैभव की इच्छा रखने वाले गृहस्थ को चाहिये कि सब प्रकार के क्रोध व मत्सर का संवरण करके घर आये अतिथि का प्रीति एवं शीलपूर्वक स्वागत-सत्कार करे।

अतिथिं नावमन्येत नानृतां गिरमीरयेत् ।
न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन ।।

घर आये अतिथि की कभी अवमानना न करें, उसकी उपस्थिति में कोई असत्य वचन

[४] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५।

न बोलें और कभी उसके गोत्र-चरण या उसकी पढाई एवं पाण्डित्य के विषय में प्रश्न न उठायें।

चण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः।
अन्नेन पूजनीयः स्यात् परत्र हितमिच्छता ।।

उचित समय पर घर पर यदि चण्डाल अथवा श्वपच भी आ जाये तो परलोक में हित चाहने वाले गृहस्थ को निश्चय ही उसे भी अन्न समर्पित कर उसका सम्मान-सत्कार करना चाहिये।

पिधाय तु गृहद्वारं भुङ्क्ते योऽन्नं प्रहृष्टवान्।
स्वर्गद्वारपिधानं वै कृतं तेन युधिष्ठिर ।।

जो गृहस्थ अपने घर का द्वार रुद्ध करके प्रसन्नतापूर्वक अकेले ही अन्न का उपभोग करता है, उसने तो युधिष्ठिर! मानों अपने लिये स्वर्ग के द्वार ही रुद्ध कर लिये हैं।

पितॄन् देवानृषीन् विप्रानतिथींश्च निराश्रयान्।
यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ।।

जो व्यक्ति पितरों, देवों, ऋषियों, घर आये अतिथियों और आश्रयहीन जनों को अन्न से प्रसन्न करता है, उसके पुण्य का फल महान् है।

कृत्वा तु पापं बहुशो यो दद्यादन्नमर्थिने।
ब्राह्मणाय विशेषेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।

अनेक पाप करके कोई पापी यदि याचक को और विशेषतः ब्राह्मण याचक को अन्न दे देता है तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत्।
तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ।।

जो अन्नदान करता है, वह मानो पाने वाले के लिये प्राणों का ही दान करता है, और जिसने प्राण दिये हैं उसने तो सब कुछ ही दे दिया। इसलिये इहलोक एवं परलोक में सुख-वैभव पाने की इच्छा रखने वाले को अन्नदान के प्रति विशेषतः प्रवृत्त होना चाहिये।

अन्न माहात्म्य

ऊपर के दस श्लोकों में अन्नदान के महत्त्व का वर्णन हुआ है। अगले पाँच श्लोकों में जीवन की उत्पत्ति व निर्वाह में अन्न की प्रमुखता का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं[५] –

अन्नं ह्यमृतमित्याहुरन्नं प्रजननं स्मृतम्।
अन्नप्रणाशे सीदन्ति शरीरे पञ्च धातवः ।।

अन्न को ही अमृत कहा गया है और अन्न को ही जीवों के जन्म में कारक माना गया है। अन्न नहीं रहता तो शरीर की घटक पाँचों धातुएँ नष्ट हो जाती हैं।

बलं बलवतो नश्येदन्नहीनस्य देहिनः ।
तस्मादन्नं विशेषेण श्रद्धयाश्रद्धयापि वा ।।

देहधारियों में बलवान् का बल भी अन्न न प्राप्त होने पर नष्ट हो जाता है। इसलिये जीवन में अन्न का विशेष महत्त्व है। अन्न का सेवन श्रद्धा से किया जाये अथवा अश्रद्धा से, अन्न के बिना जीवन का निर्वाह नहीं।

आदत्ते हि रसं सर्वमादित्यः स्वगभस्तिभिः ।
वायुस्तस्मात् समादाय रसं मेघेषु धारयेत्।
तत् तु मेघगतं भूमौ शक्रो वर्षति तादृशम्।
तेन दिग्धा भवेद् देवी मही प्रीता च भारत ।।

सूर्य अपनी किरणों से सारे रस को खींच लेता है और वायु उस रस को ले जाकर मेघों में स्थापित कर देती है। मेघों में सञ्चित रस को इन्द्र वैसे-का-वैसा पृथिवी पर बरसा देते हैं। भारत युधिष्ठिर! उस रस से सिक्त हुई देवी पृथिवी प्रसन्नता को प्राप्त होती हैं।

तस्यां सस्यानि रोहन्ति यैर्जीवन्त्यखिलाः प्रजाः ।
मांसमेदोऽस्थिमज्जानां सम्भवस्तेभ्य एव हि ।।

इस प्रकार तृप्त एवं प्रसन्न हुई पृथिवी से धान्य उपजता है और उस धान्य से सारी प्रजा

---

[५] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५-५६।

के जीवन का निर्वाह होता है। मांस, मेद, अस्थि और मज्जा का निर्माण पृथिवी से उपजे उस धान्य से ही होता है।

इस प्रकार इन पन्द्रह श्लोकों में श्रीकृष्ण अन्न और अन्नदान की महिमा का सम्पूर्ण वर्णन कर देते हैं। इन श्लोकों में अन्नदान से सम्बन्धित प्रायः सभी भारतीय अवधारणाओं का प्रतिपादन हो गया है। भगवान् श्रीकृष्ण अन्नदान से प्राप्य महान् एवं अतुलनीय पुण्य के विषय में बताते हैं, स्वयं खाने पर बैठने से पूर्व सर्वदा दूसरों को खिलाने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन की व्याख्या करते हैं, याचक के प्रति सम्मान एवं विनय का भाव रखने का उपदेश देते हैं, घर पर आये अतिथि के वर्ण, गोत्र-चरण अथवा पाण्डित्य का विचार किये बिना प्रत्येक आने वाले का सम्मान-सत्कार करने का पाठ पढ़ाते हैं और याचकों के लिये अपना द्वार रुद्ध करके अकेले अन्न का रसास्वादन करने वाले अभागे के भाग में आने वाले घोर पाप के प्रति सब को सचेत करते हैं। और फिर श्रीकृष्ण बताते हैं कि कैसे जीवसृष्टि की उत्पत्ति और निर्वाह में प्रमुख कारक के रूप में अन्न भारतीय चेतना में व्याप्त है। श्रीकृष्ण के श्रीमुख से प्रतिपादित ये अनुशासन एवं अवधारणाएँ अन्न एवं अन्नदान सम्बन्धी भारतीय चेतना के मूल सूत्र हैं। भारत के वृहद् आर्ष साहित्य में यही सूत्र विभिन्न सन्दर्भों में और विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होते रहते हैं। आगे के अध्यायों में अन्न एवं अन्नदान सम्बन्धी भारतीय अनुशासन व अवधारणाओं की कतिपय विशेषतया विशद अभिव्यक्तियों और जीवन्त आख्यायिकाओं को हम सुनेंगे। परन्तु उससे पहले स्वयं श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग का पाठ पढ़ाते हुए सृष्टि में अन्न व अन्नदान की भूमिका की जो व्याख्या की है, उसे सुन लिया जाये।

कर्मयोग

श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा देते हुए श्रीकृष्ण बताते हैं कि यह संसार मानव और सृष्टि के समस्त भावों के अभिमानी देवों के मध्य आदान-प्रदान की एक शृङ्खला ही है। इस शृङ्खला को अविच्छिन्न रखना, आदान-प्रदान के इस सृष्टि चक्र को चलाये रखना ही यज्ञ है, यही योग्य कर्म है। और यज्ञशिष्ट अन्न खाना, सृष्टि के समस्त भावों का भाग निकालने के उपरान्त बचे अन्न का उपभोग करना ही सम्यक् भोजन है, दूसरों का भाग उन्हें दिये बिना अकेले खाना तो पाप का ही भोग करना है। श्रीकृष्ण कहते हैं[६] –

[६] श्रीमद्भगवद्गीता ३.१०-१६, देखिये महाभारत *भीष्म* २७.१०-१६, पृ.२६१४-१६।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने प्रजा और यज्ञ का एक साथ सृजन किया और फिर प्रजा को आशीर्वाद देते हुए कहा – इस यज्ञ से तुम फलो-फूलो। यह यज्ञ तुम्हारे लिये इष्टकामधुक् बने, इसके माध्यम से तुम्हारी सब इच्छाओं की पूर्ति हो।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।

इस यज्ञ से तुम इन्द्रादि सृष्टि के विभिन्न भावों के अभिमानी देवों को भावित करो, उनकी वृद्धि में सहाई बनो और वे सम्यक् वृष्टि आदि के माध्यम से तुम्हारी वृद्धि करें। एक-दूसरे को भावित करते हुए, एक दूसरे की वृद्धि में सहाई होते हुए तुम दोनों, मानव और देव दोनों ही, परमश्रेयस् को प्राप्त होओ।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।

यज्ञ से भावित हुए, यज्ञ से सन्तुष्ट एवं उन्नत हुए देव मानव को इच्छित भोगों से सम्पन्न करते हैं। देवों से प्रदत्त इन भोगों को देवों को ही समर्पित किये बिना जो स्वयं उनका उपभोग करता है, वह तो चोर-सा ही है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।

जो यज्ञशिष्ट अन्न का उपभोग करते हैं, जो सृष्टि के सभी भावों का भाग निकालने के उपरान्त शेष अन्न का भोजन करते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। जो केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं, वे पापी जन तो पाप ही खाते हैं।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।

सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से सम्भव होती है और यज्ञ योग्य कर्म से उत्पन्न होता है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।

योग्य कर्म का स्रोत वेदरूपी ब्रह्म में है और वेदरूपी ब्रह्म अक्षर से, कभी न क्षय होने वाले परम पुरुष के मानो प्रथम निःश्वास से उत्पन्न हुआ है। इसलिये अर्जुन! यह जानो कि ब्रह्म सर्वव्यापी होते हुए भी यज्ञ में सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।

इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदान का यह चक्र स्वयं ब्रह्म से प्रारम्भ हुआ है। जो ब्रह्म से प्रवर्तित इस चक्र के अनुरूप व्यवहार नहीं करता, इस चक्र को चलाये नहीं रखता, वह पापमय जीवन जीता है। वह केवल इन्द्रियविलास में ही रमा है। अर्जुन! ऐसे व्यक्ति का जीना तो निश्चय ही व्यर्थ है।

श्रीकृष्ण के इन वाक्यों में अन्न व अन्नदान सम्बन्धी भारतीय चेतना की सम्पूर्ण परिभाषा आ गयी है। आगे के अध्यायों में हम अन्न व अन्नदान का जो विवेचन करेंगे वह श्रीकृष्ण के इन वाक्यों की व्याख्या का किञ्चित् प्रयास मात्र है। आगे का यह विवेचन श्रीकृष्ण के युधिष्ठिर को दिये गये उस अनुल्लङ्घनीय आदेश को पुनः स्मरण करने की सविनय चेष्टा भी है, जिसमें अन्नदान की महिमा का सार प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं –

ददस्वान्नं ददस्वान्नं ददस्वान्नं युधिष्ठिर!



अध्याय २

नादत्तमुपतिष्ठति

राजा श्वेत की कथा

अन्नदान करने और करते जाने का श्रीकृष्ण का आदेश श्रीभविष्यमहापुराण में अन्नदान माहात्म्य के वर्णन के प्रारम्भ में ही आता है। माहात्म्यवर्णन को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने वनवास के दिनों में श्रीराम को भी अन्न प्राप्त करने के लिये श्रम करना पड़ता है। उस समय अन्नप्राप्ति के प्रयास में लगे श्रीराम एकदा लक्ष्मण से कहते हैं कि देखो यह सारी पृथिवी धन-धान्य से परिपूर्ण है, परन्तु हमें भोजन प्राप्त करने के लिये दौड़-धूप करनी पड़ रही है। और आगे वे लक्ष्मण को बताते हैं कि पूर्वकाल में हमने पर्याप्त अन्नदान नहीं किया होगा, तभी हमें अब अन्न के लिये इस प्रकार भटकना पड़ रहा है, क्योंकि अन्न तो उतना ही प्राप्त होता है जितना दान करके अर्जित कर लिया जाता है –

यन्न प्राप्यं तदप्राप्यं विद्यया पौरुषेण वा।
सत्यो लोकप्रवादोऽयं नादत्तमुपतिष्ठति ॥[१]

जो अर्जित नहीं किया गया वह तो कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। अनर्जित को न विद्या से पाया जा सकता है, न पौरुष से। लोक में यह सत्य ही प्रचलित है कि जो दिया नहीं जाता, वह अपने पास भी स्थिर नहीं रहता, उसका उपभोग हो ही नहीं पाता।

श्रीराम के इस अनुभव का युधिष्ठिर को स्मरण करवाने के पश्चात् श्रीकृष्ण उसे राजा श्वेत की कथा सुनाने लगते हैं। विदर्भ के राजा सुदेव के पुत्र श्वेत एक महान् कीर्तिमान् राजा हुए हैं। राजा श्वेत जीवन पर्यन्त धर्मनिष्ठ रहे और उदारता से दान-पुण्य करते रहे। परन्तु उनके

[१] भविष्य ४.१६९.६, पृ.५२७।

हाथों किसी याचक का अन्न-जल से सत्कार नहीं हो पाया। अपनी धर्मनिष्ठा और अपने गुणों के कारण समय आने पर राजा श्वेत स्वर्ग में सादर सत्कृत हुए। परन्तु क्योंकि इहलोक में उन्होंने कभी किसी भूखे-प्यासे को अन्न-जल से तृप्त नहीं किया था, इसलिये स्वर्ग में भी वे भूख-प्यास से मुक्त नहीं हो पाये।

स्वर्ग में रहते हुए भी क्षुधा-पिपासा से पीड़ित राजा श्वेत अत्यन्त दीन हो कर चतुर्मुख ब्रह्मा के पास गये और अपनी व्यथा उनके सम्मुख रखते हुए पूछा कि उनके साथ ऐसा अघटनीय क्यों घट रहा है। और ब्रह्मा ने राजा श्वेत को बताया कि –

अनन्नदानस्य फलं त्वयेदमुपभुज्यते।
तर्ह्यन्नदानतो नान्यच्छरीरारोग्यकारकम्।
नान्यदन्नादृते पुंसां किञ्चित्सञ्जीवनौषधम्॥[२]

राजा श्वेत! तुम अनन्नदान का, कभी अन्नदान न करने का फल भोग रहे हो। अन्नदान को छोड़कर शरीर को स्वस्थ बनाये रखने का कोई अन्य साधन नहीं है और अन्न के अतिरिक्त मानवजाति के लिये अन्य कोई सञ्जीवनी औषध नहीं है।

राजा श्वेत दीर्घ काल तक क्षुधा-पिपासा से पीड़ित रहते हैं और पुनः पुनः अपने ही पार्थिव शरीर का भक्षण कर अपनी भूख को शान्त करने का प्रयास करते रहते हैं। अन्ततः अगस्त्य मुनि राजा श्वेत से अन्न ग्रहण करके उन्हें अनन्नदान के पाप से मुक्त करते हैं। अगस्त्य मुनि को श्रद्धापूर्वक अन्न से तृप्त करने के पश्चात् राजा श्वेत अपने गले से एक देदीप्यमान माला उतार मुनि को दक्षिणा के रूप में भेंट कर देते हैं। इस प्रकार राजा श्वेत का दक्षिणायुक्त अन्नदान सम्पन्न होते ही, उनकी भूख-प्यास मिट जाती है और वे स्वस्थचित्त हो स्वर्ग में वास करने लगते हैं। अनन्त काल उपरान्त जब श्रीराम अगस्त्य मुनि के आश्रम पर आते हैं, तो वे उन्हें राजा श्वेत की कथा बताते हैं और राजा श्वेत की वही देदीप्यमान माला श्रीराम को सस्नेह भेंट कर देते हैं।

अगस्त्य मुनि का श्रीराम को कथा सुनाना

राजा श्वेत का प्रसङ्ग श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड में आता है। श्रीराम शम्बूकवध के उपरान्त अयोध्या लौटते हुए अगस्त्य मुनि के आश्रम पहुँचते हैं। उनका स्वागत-सत्कार करते हुए अगस्त्य मुनि राजा श्वेत से मिली देदीप्यमान माला श्रीराम को भेंट कर देते हैं और फिर

[२] भविष्य ४.१६९.२२-२३, पृ.५२७।

उस दिव्य आभूषण की प्राप्ति की कथा सुनाने लगते हैं। श्रीराम को राजा श्वेत के विकट अनुभव का स्मरण करवाते हुए अगस्त्य मुनि कहते हैं[३] –

''श्रीराम! यह कथा पूर्वकाल के एक त्रेता युग की है। उस काल में एक विशाल वन हुआ करता था। वह वन चारों ओर सौ योजन तक फैला हुआ था। परन्तु उस विस्तृत वन में न कहीं कोई पशु थे, न पक्षी।

''उत्तम तपस की साधना के लिये उपयुक्त स्थान ढूँढते हुए एकदा मैं उस निर्जन एकान्त वन में प्रविष्ट हुआ। उस वन की शोभा अकथनीय थी। वहाँ अनेक रूप-रङ्ग के पेड़ थे और सारा वन मधुर सुस्वादु कन्दमूलों और फलों से परिपूर्ण था। उस अनन्त बाहुल्य के मध्य एक अत्यन्त सुन्दर सरोवर फैला था। एक योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा वह सरोवर हंस, कारण्डव और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित था। उस सरोवर का जल कमल-कमलिनियों से आच्छादित था, उसमें काई आदि के लिये कोई अवकाश ही नहीं था। वह सरोवर अपने आप में एक आश्चर्य ही था। उसके पानी-सा स्वादु और सन्तुष्टिकर पानी और कहीं नहीं हो सकता।

''उस सुन्दर-स्वच्छ सरोवर के निकट एक पुरातन आश्रम था। सरोवर के समान ही वह आश्रम भी विशाल और अद्भुत था। और वह महान् आश्रम निर्जन पड़ा था, किसी तपस्वी का वहाँ वास नहीं था।

''पुरुषोत्तम श्रीराम! ग्रीष्म की उस रात मैंने उस आश्रम में निवास किया और फिर प्रभात-वेला में उठकर मैं स्नानादि प्रातः कर्म करने के लिये निकल पड़ा। तब अचानक मुझे उस सरोवर पर एक शव तैरता हुआ दिखायी दिया। वह शव भली भाँति पोषित था। वह स्वस्थ और स्वच्छ दिखायी देता था, उसमें सड़न का आभास-मात्र भी नहीं था। वास्तव में उस सरोवर पर तैरता वह शव अत्यन्त लक्ष्मीसम्पन्न ही दिखायी दे रहा था।

''उस शव को देख कर मैं आश्चर्यचकित रह गया और उसी के विषय में सोचता हुआ कुछ घड़ी के लिये मैं वहीं सरोवर के तट पर बैठ गया। तभी मैंने वहाँ एक दिव्य रथ को उतरते देखा। उस रथ की शोभा भी अतुलनीय थी। वह अत्यन्त विशाल रथ हंसों से जुता था और मन की गति से विचरण कर रहा था।

''उस दिव्य रथ पर स्वर्गलोक का कोई दिव्य पुरुष विराज रहा था। दिव्य वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित सहस्रों अप्सराएँ उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगी थीं। उसकी प्रसन्नता के लिये उन अप्सराओं में से कुछ रम्य गीत गा रही थीं, कुछ मृदङ्ग, ढोल और वीणा जैसे वाद्य

[३] रामायण उत्तर ७७ व ७८, पृ.१६२७-३०।

बजा रही थीं, कुछ नाच रही थीं, और कुछ अन्य कमलनयनी अप्सराएँ सोने के दण्डों वाले एवं चन्द्रकिरणों से शुभ्र चँवर उस दिव्य पुरुष के मुख पर धीरे-धीरे झुला रही थीं।

''रघुकुलनन्दन श्रीराम! तब सहसा स्वर्गलोक का वह दिव्य पुरुष अपना सिंहासन छोड़ उस विमान से ऐसे नीचे उतरने लगा मानो अंशुमान सूर्य ही मेरु पर्वत के शिखर से नीचे उतर रहे हों। और फिर मेरे देखते-देखते वह सरोवर पर तैरते उस शव का भक्षण करने लगा। उस शव के सुपुष्ट एवं प्रचुर मांस को जी भरकर खाने के उपरान्त स्वर्गलोक का वह पुरुष उस सरोवर में उतरकर हाथ-मुँह धोने लगा। विधिपूर्वक आचमन कर जब वह विमान पर चढ़ने को उद्यत हुआ तो मैंने उस देवतुल्य पुरुष के सम्मुख प्रस्तुत हो उससे इस प्रकार पूछा –

'सौम्य! देवों जैसे दिखने वाले आप कौन हैं? आप क्यों ऐसे गर्हित आहार का उपभोग करते हैं? ऐसा देवोपम भाव और ऐसा आहार किसका हो सकता है? सौम्य! मैं आश्चर्यचकित हूँ। मैं यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकता कि यह शव ही आपके लिये उपयुक्त आहार है। मैं इस सब का यथार्थ जानना चाहता हूँ।'

''रघुकुलनन्दन श्रीराम! शुभ वचनों से युक्त मेरे उस प्रश्न के उत्तर में स्वर्गलोक का वासी वह पुरुष दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा –

'ब्रह्मन्! मेरे पूर्वकर्म ही वर्तमान में मेरे शुभाशुभ के कारण हैं। उन अनतिक्रमणीय पूर्वकर्मों की कथा सुनो –

'बहुत पहले की बात है। तब मेरे महायशस्वी पिता सुदेव विदर्भ के राजा हुआ करते थे। वे अत्यन्त वीर्यवान् थे, उनकी ख्याति तीनों लोकों में व्याप्त थी। राजा सुदेव की दो पत्नियाँ थीं। उन दोनों से उनको एक-एक पुत्र की प्राप्ति हुई। उन दो पुत्रों में से ज्येष्ठ मैं, श्वेत के नाम से जाना गया। मेरे छोटे भाई का नाम सुरथ रखा गया।

'पिता सुदेव का स्वर्गवास होने पर पुरवासियों ने मुझे राजा के पद पर अभिषिक्त किया। मैंने अत्यन्त सावधानी से धर्म का अनुसरण करते हुए राज्य किया। उत्तम व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मन्! इस प्रकार धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा और राज्य का संवहन करते हुए एक सहस्र वर्ष बीत गये।

'तब एक दिन मुझे सहसा अपनी नियत आयु का ज्ञान हुआ। काल की अटल गति का स्मरण कर मैं वन की ओर निकल पड़ा। उस समय मैंने तपस्या के लिये पशु-पक्षियों से शून्य इसी दुर्गम वन में प्रवेश किया। अपने भाई सुरथ का राजपद पर अभिषेक कर मैंने इस सरोवर के समीप चिरकाल तक तपस्या की। इस विस्तृत वन में तीन सहस्र वर्षों तक मैं कठिन तपस्या करता रहा। तब मुझे उत्तम ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई।

'परन्तु हे द्विजोत्तम! ब्रह्मा के स्वर्गलोक में भी मैं क्षुधा-पिपासा का कष्ट भोगता रहा। हे परम उदार महर्षे! वहाँ स्वर्गलोक में भी भीषण भूख और प्यास से मेरी सब इन्द्रियाँ व्यथित हो उठती थीं।

'तब अपनी व्यथा लेकर एकदा मैं तीनों लोकों में श्रेष्ठ पितामह ब्रह्मा के पास गया और उनसे इस प्रकार निवेदन किया – 'भगवन्! आपका यह ब्रह्मलोक तो क्षुधा-पिपासा से मुक्त है। फिर यहाँ भी मैं भूख-प्यास से सन्तप्त क्यों हो रहा हूँ? यह मैं अपने किन कर्मों का फल भोग रहा हूँ? और अब मेरा आहार क्या होगा? हे देव! पितामह! कृपया मुझे बताइये?'

'मेरा निवेदन सुनकर पितामह ब्रह्मा बोले –

'हे सुदेव के पुत्र श्वेत! तुम जाकर नित्य अपने पार्थिव शरीर का सुस्वादु मांस खाया करो। यही तुम्हारा आहार है। श्वेत! तुमने उत्तम तप किया है। परन्तु तुम्हारे हाथों से केवल अपने ही शरीर का पोषण हुआ है। तुमने कभी सूक्ष्म मात्रा में भी अन्न का दान नहीं किया। और महामते श्वेत! जो बोया नहीं जाता वह कभी काटा भी नहीं जा सकता – अनुप्तं रोहते श्वेत न कदाचिन्महामते।[४]

'तुमने केवल तप ही किया है, कभी अन्नदान नहीं किया। इसीलिये वत्स! अब ब्रह्मलोक में भी तुम भूख-प्यास से पीड़ित हो रहे हो।

'तुमने अनेक प्रकार के आहार से अपने ही शरीर को पुष्ट किया है। वह शरीर अमृततुल्य रसों से परिपूर्ण है। अब उसी का भक्षण करो। वही तुम्हारा भोजन है।

'श्वेत! जब भविष्य में महर्षि अगस्त्य इस वन में आयेंगे तब वे तुम्हें तुम्हारे इस कठिन कष्ट से मुक्त कर देंगे। सौम्य! महाबाहो! अगस्त्य मुनि तो देवों को भी मुक्ति दिलवाने में समर्थ हैं। क्षुधा-पिपासा के चङ्गुल में पड़े तुम मनुष्य-मात्र को सङ्कट मुक्त करना उनके लिये क्या बड़ी बात है।'

''इसके पश्चात् राजा श्वेत ने अपनी त्रासद कथा आगे बढ़ाते हुए मुझसे कहा –

'हे द्विजश्रेष्ठ अगस्त्य! देवों के देव भगवान् ब्रह्मा का निर्णय सुन मैं अपने ही शरीर का गर्हित आहार करने लगा। ब्रह्मन्! मैं अनेक वर्षों से इस शरीर का भोजन कर रहा हूँ। परन्तु हे ब्रह्मर्षि! फिर भी यह शरीर क्षीण नहीं हुआ। इससे मुझे सम्पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती रहती है।

'इस प्रकार मैं भीषण सङ्कट में पड़ा हूँ। हे द्विज! आप मुझे इस सङ्कट से मुक्त करें। इस निर्जन वन में कुम्भयोनि अगस्त्य के अतिरिक्त और किसी का पहुँच पाना असम्भव है। आप निश्चय

---

[४] रामायण उत्तर ७८.१९, पृ.१६३०।

ही स्वयं अगस्त्य ही हैं। इसलिये द्विजों में श्रेष्ठ सौम्य! आप मेरा उद्धार करने के लिये यह आभूषण मुझसे ग्रहण कीजिये और अपने प्रसाद से मुझे उपकृत कीजिये।

'ब्रह्मन्! यह दिव्य आभूषण सुवर्ण, धन, वस्त्र, भोजन और अन्य सब प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करता है। हे मुनियों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि! यह आभूषण आपको देकर अपनी समस्त कामनाओं और अपने समस्त भोगों को भी मैं आपको ही समर्पित कर रहा हूँ। भगवन्! मुझ पर कृपा करें। मुझे इस स्थिति से मुक्त करवायें।' "

यहाँ तक राजा श्वेत की कहानी उन्हीं के शब्दों में श्रीराम को सुनाने के पश्चात् अगस्त्य मुनि कहते हैं कि उन्होंने श्वेत के हाथों से वह दिव्य आभूषण स्वीकार कर लिया और उस शुभ आभूषण के अगस्त्य मुनि के हाथ पहुँचते ही राजा श्वेत का पार्थिव शरीर पूर्णतया नष्ट हो गया। उस शरीर के नष्ट होने पर राजर्षि श्वेत परमानन्द से तृप्त हो उठे और सुख एवं प्रसन्नतापूर्वक ब्रह्मलोक को चले गये।

श्रीवराह का अन्नदानव्रत का उपदेश

श्रीवराहपुराण में श्रीविष्णु के तृतीय पूर्णावतार श्रीवराह देवी धरणी को अन्नदानव्रत की महिमा समझाते हुए राजा श्वेत की कथा सुनाते हैं। देवी धरणी श्रीवराह से किसी ऐसे व्रत का विधान सुनना चाहती हैं जिसे धरणीपुत्र मानव अपनी सङ्क्षिप्त आयु और सीमित सामर्थ्य के होते हुए भी निभा सके। इसके उत्तर में श्रीवराह कहते हैं कि पूर्वकाल में राजा श्वेत ने ऐसा ही प्रश्न वसिष्ठ मुनि से पूछा था और वसिष्ठ मुनि ने राजा को समुचित उपदेश देते हुए कहा था –

अन्नदानं ददद् राजन् सर्वकालसुखावहम्।
अन्नेन चैव दत्तेन किं न दत्तं महीतले ॥[५]

राजन्! अन्नदान कीजिये। अन्नदान सर्वदा सब समय सुख का कारक है। अन्नदान करने के उपरान्त पृथिवी पर अन्य कौन सी ऐसी वस्तु है जिसे दान करना शेष रह जाता है? जिसने अन्नदान कर दिया उसने तो मानो सब कुछ ही दे दिया।

आगे श्रीवराह बताते हैं कि राजा श्वेत को वसिष्ठ मुनि के इस उपदेश पर विश्वास नहीं हुआ।

---

[५] वराह ९८.६१, पृ.३४५।

उन्होंने सोचा कि उन जैसे वैभवशील राजा के लिये अन्न जैसी तुच्छ वस्तु भी क्या दान देने योग्य है? राजा श्वेत ने अनन्त दान किये। वे बहुमूल्य रत्न-आभूषण, उत्तम वस्त्र, अनमोल हाथी और भरे-पूरे नगर तक दान में देते रहे। उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर अनेक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया और प्रत्येक यज्ञ की समाप्ति पर अथाह धन-सम्पत्ति दान में बाँट दी। परन्तु राजा श्वेत ने कभी किसी को अन्न-जल का दान नहीं दिया।

समय आने पर राजा श्वेत परलोकगामी हुए और वहाँ उनके भव्य दान कर्म के अनुरूप उन्हें स्वर्ग में सादर स्थान दिया गया। परन्तु स्वर्ग में भी राजा श्वेत भूख-प्यास से मुक्त नहीं हो पाये। स्वर्ग में इस प्रकार भूख-प्यास से व्यथित होते हुए राजा श्वेत को एक बार वसिष्ठ मुनि दिखायी दिये। राजा श्वेत अत्यन्त दीन भाव से उन्हें अपनी त्रासद नियति से छुटकारा दिलवाने की प्रार्थना करने लगे।

वसिष्ठ मुनि राजा श्वेत की दशा देखकर चिन्तित हो उठे। परन्तु उन्हें भी समझ नहीं आ रहा था कि वे राजा श्वेत की सहायता कैसे करें। अतः श्रीभविष्यमहापुराण में उद्धृत श्रीराम के वचनों को प्रायः दोहराते हुए वसिष्ठ मुनि ने राजा श्वेत को स्मरण कराया कि जो दिया नहीं गया, वह तो प्राप्त नहीं हो सकता – अदत्तं नोपतिष्ठेत कस्यचित् किंचिदुत्तमम्।[६]

अन्ततः मुनि वसिष्ठ राजा श्वेत के लिये एक लम्बे प्रायश्चित्त का विधान करते हैं। परन्तु उससे पूर्व एकदा पुनः राजा श्वेत को अन्नदान की महिमा समझाते हुए वे कहते हैं –

> रत्नहेमप्रदानेन भोगवान् जायते नरः।
> अन्नदानप्रदानेन सर्वकामैस्तु तर्पितः।
> तन्न दत्तं त्वया राजन् स्तोकं मत्वा नराधिप ॥[७]
>
> बहुमूल्य स्वर्ण-रत्न आदि का दान करने से व्यक्ति ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। परन्तु सब कामनाओं की तुष्टि तो अन्नदान से ही होती है। राजन्! उसी अन्न का दान आप से नहीं हुआ। अन्न को तुच्छ मानकर आप अन्नदान से वञ्चित रह गये।

इस प्रकार राजा श्वेत की कथा के माध्यम से श्रीवराह ने अन्नदान के सरल परन्तु अपरिहार्य व्रत का विधान किया।

---

[६] वराह ९८.७५, पृ. ३४६।

[७] वराह ९८.७६, पृ.३४६।

राजा श्वेत की कथा
अन्नदान ही सदाव्रत है

राजा श्वेत की कथा तेरहवीं शती के ग्रन्थ हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि में भी कही गयी है। हेमाद्रि चालुक्य राज्य के एक विद्वान् मन्त्री थे। उन्होंने अपने वृहद् ग्रन्थ में इतिहास, पुराण और अन्य स्मृतियों के आधार पर धर्म के सार-तत्व का सङ्ग्रह किया।

चतुर्वर्गचिन्तामणि ग्रन्थ का एक प्रमुख खण्ड 'व्रतखण्ड' है। इस खण्ड में गृहस्थ द्वारा नियमपूर्वक अनुसरणीय व्रतों का माहात्म्य बताया गया है। साथ ही प्रत्येक व्रत के लिये उपयुक्त तिथि-मुहूर्त और उसके विधि-विधान का वर्णन भी इस खण्ड में हुआ है। व्रतखण्ड के बत्तीस अध्यायों में से एक लम्बा अध्याय 'नानातिथिव्रतानि' शीर्षक से है। इस अध्याय में अतिथियों के सादर-सत्कार सम्बन्धी व्रत-नियमों का विधान है। अध्याय के एक प्रमुख परिच्छेद में अन्नदानमाहात्म्य का वर्णन है। इस परिच्छेद में हेमाद्रि श्रीभविष्यमहापुराण के उत्तरकाण्ड से राजा श्वेत की कथा उद्धरित करते हुए अन्त में लिखते हैं – 'इति श्रीभविष्योत्तरे सदाव्रतं नामान्नदानमाहात्म्यम्।'[८] श्रीभविष्योत्तर से लिया गया 'सदाव्रत' नाम का यह अन्नदान माहात्म्य पूरा हुआ।

इस प्रकार हेमाद्रि अन्नदान को सदाव्रत की संज्ञा देते हैं। सदाव्रत का अर्थ ऐसे व्रत से है जो नित्य निभाया जाये। व्रतखण्ड के अन्य प्रायः सभी व्रत नैमित्तिक व्रत हैं – उनका अनुष्ठान नियत तिथि-मुहूर्त में, तारा-ग्रहों की अन्तरिक्ष में नियत स्थिति के समय, करने का विधान है। परन्तु अन्नदान सदाव्रत है। अन्नदान के लिये तिथि-मुहूर्त का विचार नहीं किया जाता। वह तो सर्वदा सब समय ही करने योग्य है।

आज भी भारतवर्ष में अन्नदान को सदाव्रत के नाम से ही जाना जाता है।

अन्न बाँटकर खाना
अनुशासित जीवन की मर्यादा है

अन्नदान सदाव्रत है और इस व्रत का माहात्म्य राजा श्वेत की कथा में है। वैभवशाली, वीर्यवान् और धर्मभीरु राजा श्वेत, जिन्होंने धर्म के अनुरूप जीवन जिया और धर्म के अनुरूप ही राज्य किया, जिन्होंने अनेक यज्ञ किये और अथाह धन-सम्पत्ति दान में बाँट दी, जो अपनी नियत आयु का आभास पाते ही सब धन-वैभव और राजपाट छोड़कर वानप्रस्थ हो गये, परन्तु

[८] चतुर्वर्गचिन्तामणि *व्रतखण्ड* २१, पृ.४७५।

जो इतना सब करते हुए भी अन्नदान करना भूल गये और इस भूलस्वरूप जो स्वर्ग में भी भूखे-प्यासे रहे और अपने ही शरीर का भक्षण करने पर बाध्य हुए – ऐसे राजा श्वेत और ऐसी उनकी कथा भारतीय चेतना में अन्नदान की गहन पैठ की ही द्योतक है।

राजा श्वेत की कथा आर्षसाहित्य में अनेक स्थानों पर आती है। विभिन्न ग्रन्थों में राजा श्वेत की कथा के सन्दर्भ और वर्णन में थोड़ा-बहुत अन्तर तो रहता ही है। परन्तु जहाँ भी राजा श्वेत की कथा कही गयी है वहाँ इस बात पर अवश्य बल दिया गया है कि जिस वस्तु का दान नहीं किया जाता उसका उपभोग भी नहीं हो पाता, और इसलिये जो लोग अपने पार्थिव जीवन में दूसरों की भूख-प्यास नहीं मिटाते, वे उत्तम लोकों में भी भूखे-प्यासे रहने के लिये अभिशप्त हो जाते हैं। श्रीराम अपने वनवास के दिनों लक्ष्मण को यही शिक्षा देते हैं, यही शिक्षा श्रीभविष्यपुराण में भगवान् ब्रह्मा राजा श्वेत को देते हैं और यही उपदेश श्रीवराहपुराण में राजा श्वेत को वसिष्ठ मुनि से मिलता है।

श्रीवराहपुराण में वसिष्ठ मुनि राजा श्वेत को यह भी समझाते हैं कि अनेक प्रकार के बहुमूल्य दान अन्नदान का स्थान नहीं ले सकते। राजा श्वेत की उदार दानशीलता से अन्ततः उनका अनन्नदान का दोष तो नहीं धुल पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चेतना में अन्नदान केवल पुण्य अर्जन का साधन नहीं है, ऐसे किसी पुण्य के अर्जन का तो निश्चय ही नहीं जिसे अन्यथा अर्जित पुण्यों के प्रतिफल स्वरूप पाया जा सके। स्वयं भोजन पर बैठने से पहले दूसरों को खिलाना तो अनुशासित जीवन की अनुल्लङ्घनीय मर्यादा है। अन्नदान करने से कुछ पुण्य-अर्जन तो होता ही होगा, परन्तु इस सन्दर्भ में महत्त्व पुण्य अर्जन का नहीं, मर्यादाभङ्ग के पाप से बचने का है। अपने शरीर का भक्षण करने को बाध्य हुए महान् वैभवशील राजा श्वेत की दिव्य छवि अर्जित पुण्यों के अभाव का नहीं, किसी सनातन मर्यादा के घोर उल्लङ्घन का ही स्मरण कराती है।

भारतीय दृष्टि में जीवन सृष्टि के सभी भावों से अंशदान पाकर ही सम्भव होता है। इसलिये उत्पन्न होने और जीवन निर्वाह करने की सहज क्रिया से ही व्यक्ति मानव समाज के प्रति ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति ऋणी हो जाता है। स्वयं भोजन करने से पूर्व सृष्टि के अन्य सभी पक्षों का भाग निकालना और दूसरों की भूख-प्यास शान्त करने का प्रयास करना उस सहज ऋण को स्वीकारना और उसका आंशिक प्रतिदान करना है। उस ऋण को स्वीकार न करने और उससे उऋण होने के सतत प्रयास से विमुख होने वाला व्यक्ति आदान-प्रदान की उस निरन्तर शृङ्खला से च्युत हो जाता है जिस पर यह पूरी सृष्टि आधारित है। इस शृङ्खला से च्युत व्यक्ति मानव समाज के लिये ही नहीं सम्पूर्ण सृष्टि के लिये ही चण्डाल-सा है। सृष्टि में कुछ ऐसा नहीं जो उसे प्रदान

करने योग्य हो, जो उसका भोजन हो सके। सृष्टि के आदान-प्रदान से विमुख अपने ही में रत उस व्यक्ति को तो अपने ही शरीर का भोजन करना पड़ता है। इस प्रकार अपने शरीर का भक्षण कर रहे राजा श्वेत सृष्टि से बहिष्कृत चण्डाल-से ही दिखते हैं।

अपने शरीर का भक्षण कर रहे राजा श्वेत की छवि का आर्ष साहित्य में जो चित्रण हुआ है वह प्रायः जुगुप्सा का भाव जगा जाता है। परन्तु यह जुगुप्सित छवि सम्भवतः उस गहन जुगुप्सा की ही परिचायक है जो अपनी सनातन मर्यादाओं के अनुरूप चलते भारतीय समाज में अन्यों का भाग निकाले बिना स्वयं खाने की क्रिया के प्रति रही होगी। आगे के अध्यायों में हम पुनः पुनः उस घोर पाप का वर्णन सुनेंगे जो उन लोगों के भाग्य में निश्चित लिखा जाता है जो सब याचकों पर अपने द्वार रुद्ध कर अकेले भोजन का आनन्द लेते हैं, जो अपने आसपास के कीट-पतङ्गों, पशु-पक्षियों और मनुष्यों को खिलाये बिना स्वयं भोजन पर बैठते हैं और जो तरसाई आँखों से देख रहे भूखे बच्चों की अवहेलना कर अपना पेट भरते हैं। फलों एवं कन्दमूलों से परिपूर्ण निर्जन वन में उस सुन्दर सरोवर के तट पर बैठकर अपने ही पार्थिव शरीर का भोजन कर रहे महान् वैभवशील राजा श्वेत बाँटे बिना अकेले खाने के पाप की भयङ्कर परिणति के द्योतक हैं।

राजा श्वेत की त्रासद नियति उनके कर्मों का ही परिणाम है। वे अन्न सम्बन्धी सनातन भारतीय मर्यादाओं के उल्लङ्घन का अनतिक्रमणीय फल ही भोगते हैं। अन्न सम्बन्धी ये सनातन भारतीय मर्यादाएँ भारतीय साहित्य के मूलभूत ग्रन्थों से लेकर सम्पूर्ण आर्ष साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् जैसी श्रुति का उपदेश है –

> न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया
> बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते॥[१]
>
> द्वार पर आये किसी याचक को उसका अन्न-जल से सत्कार किये बिना, उसका समुचित आतिथ्य किये बिना, न लौटायें। यह व्रत है, मानव जीवन की मर्यादा है। इसलिये किसी-न-किसी प्रकार से प्रचुर अन्न प्राप्त करें और घोषणा करें कि प्रचुर अन्न उपस्थित है, सभी आयें और इसका उपभोग करें।

अन्न की बहुलता के इस व्रत का विधान करने के पश्चात् उपनिषद् इस अनुल्लङ्घनीय नियम का प्रतिपादन करता है कि अन्न तो ठीक उतनी मात्रा में ही प्राप्त होता है जितनी मात्रा में उसका

---

[१] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०।

दान किया जाता है –

एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै
मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा
अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते॥[१०]

जो प्रचुर मात्रा में अन्न पकाकर ऊँचे सम्मान-सत्कार के साथ प्रचुर अन्नदान करता है, उसे वैसे ही ऊँचे सत्कार के साथ प्रचुर अन्न प्राप्त होता है।

जो मध्यम मात्रा में अन्न पकाकर मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्नदान करता है, उसे वैसे ही मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्न प्राप्त होता है।

और जो हीन मात्रा में अन्न पकाकर, अवहेलना के भाव से किञ्चित् मात्रा में ही अन्नदान करता है, उसे वैसी ही अवहेलना के साथ किञ्चित् अन्न प्राप्त हो जाता है।

---

[१०] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०।



अध्याय ३

प्रहृष्टमुदितो लोकः

महान् राजाओं के महान् यज्ञ : रामायण

अपने द्वार से किसी को भूखा-प्यासा अथवा निराश्रय न लौटाने के व्रत, न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत, का विधान करने से पूर्व तैत्तिरीयोपनिषद् में एक अन्य व्रत का उपदेश दिया गया है। वह व्रत है –

> अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्।[1]
>
> अन्नबाहुल्य की व्यवस्था करें। यह व्रत है, मानव जीवन की यह अनुल्लङ्घनीय मर्यादा है।

श्रुतिवाक्य में प्रतिपादित इस सुस्पष्ट मर्यादा में बद्ध भारतीय परम्परा के सभी महान् राजा अन्न की बहुलता सुनिश्चित करने और सभी के लिये प्रचुर अन्न का प्रबन्ध करने के सतत प्रयास और चिन्ता में रत दिखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् राजाओं के राज्य में सब स्थानों पर सदा ही अन्नदान चलता रहता है, कहीं कोई अर्थी भूखा-प्यासा या निराश्रय नहीं रहता। महान् राजाओं के महान् यज्ञ तो विशेषतः दीर्घकाल तक चलने वाले उदार एवं भव्य अन्नदान के उत्सव-से ही दिखते हैं।

महान् राजाओं के महान् यज्ञों में निश्चय ही निर्बाध अन्नदान के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ घटता है। महान् यज्ञ राजधानी में आकृष्ट होने वाली सब प्रकार की धन-सम्पदा को पुनः राष्ट्र में विसर्जित करने के उत्सव होते हैं। समय-समय पर ऐसे विसर्जन का आयोजन करते रहना भारतीय राजनैतिक परम्परा की मुख्य प्रवृत्तियों में से एक है। महान् राजाओं के महान् यज्ञ सम्पूर्ण

[1] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.९, पृ.२२९।

भारतवर्ष में पनप रहे सब प्रकार के कला-कौशल, सब प्रकार के शिल्प और सब प्रकार की विद्वत्ता के प्रदर्शन एवं सम्मान का अवसर भी होते हैं। इन यज्ञों में भारतवर्ष के कोने-कोने से शिल्पी, स्थपति, काष्ठकार और धातुकार पहुँचकर अपने शिल्प व कार्यकौशल का परिचय देते हैं, और दूर-दूर से सम्मानित विद्वान्, कवि और वैयाकरण आकर एक-दूसरे से सीखने और एक-दूसरे की विद्वत्ता आँकने का अवसर पाते हैं।

आर्ष साहित्य में अत्यन्त सम्मान एवं विस्तार से वर्णित महान् राजाओं के ये महान् यज्ञ भारतवर्ष की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता की भव्य अभिव्यक्ति के उत्सव भी होते हैं। समस्त राजकुलों के राजा और राजकुमार, समस्त जनपदों के सम्मानित अग्रजन, समस्त जातियों और समुदायों के प्रमुख, विभिन्न विषयों के सर्वोत्तम पण्डित, विभिन्न विधाओं के दक्ष साधक, सब-के-सब इन यज्ञों में एकत्रित होते हैं। भारतीय परम्परा में यह माना जाता है कि राजशक्ति अनेक राजकुलों, अनेक जनपदों, अनेक समुदायों में बँटकर और विभिन्न विद्याओं और विधाओं के अनेक साधकों द्वारा पोषित होकर ही धर्म की मर्यादा में स्थापित रह सकती है। महान् राजाओं के महान् यज्ञों में राजशक्ति के धारक और पोषक विभिन्न लोगों का एकत्र होना इस तथ्य का प्रमाण है कि राजशक्ति के इस प्रकार अनेक केन्द्रों में विभाजित होते हुए भी भारतवर्ष अविभाज्य रहता है।

भारतीय परम्परा के ये महान् यज्ञ भारतवर्ष की गहनतम प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के महोत्सव हैं। और आर्ष साहित्य में पाये जाने वाले इन यज्ञों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि इन महोत्सवों का केन्द्रीय उत्सव अन्नदान ही होता है। इन महान् यज्ञों में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटती हैं और उनमें से कुछ तो काल के नई दिशा लेने की ही सूचक होती हैं। परन्तु ये इतनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भव्य और निर्बाध अन्नदान की पृष्ठभूमि में ही घटती दिखायी देती हैं। महान् यज्ञ का शायद अर्थ ही महान् अन्नदान है। अकेले अन्नदान को तो यज्ञ की संज्ञा दी जा सकती है, परन्तु अन्नदान के बिना किसी महान् यज्ञ का सम्पन्न होना शायद असम्भव ही है।

श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ

श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ आर्ष साहित्य में वर्णित भव्यतम यज्ञों में से एक है। श्रीराम अपने राज्य के चरमोत्कर्ष पर इस यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं और इस यज्ञ के सम्पन्न होने पर पृथिवी-पुत्री सीता पुनः अपनी माँ की गोद में समा जाती हैं। यह श्रीराम के इस पृथिवी पर गमन की

प्रायः अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में इस यज्ञ के उपरान्त केवल एक बड़ी घटना का वर्णन आता है, जब श्रीराम अपने भाइयों और सभी पुरवासियों के साथ पुण्यसलिला सरयू के जल में प्रवेश कर अपने परमधाम के लिये प्रस्थान करते हैं।

अगस्त्य मुनि से राजा श्वेत की कथा सुनकर अयोध्या लौटते ही श्रीराम इस यज्ञ का अनुष्ठान करने का उपक्रम करने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या पहुँचने से पहले ही वे कोई बड़ा यज्ञ करने का मन बना लेते हैं। अगस्त्य मुनि के आश्रम से उड़कर उनका पुष्पकविमान सीधे अयोध्यापुरी के मध्यवर्ती प्राङ्गण में उतरता है। विमान से उतरकर श्रीराम तुरन्त उसे विदा करते हैं और द्वारपाल को आदेश देते हैं कि भरत एवं लक्ष्मण को बुला लाये। भरत एवं लक्ष्मण के आते ही वे प्रायः बिना किसी भूमिका के उन्हें कोई महान् यज्ञ करने के अपने निश्चय से अवगत करवाते हैं।

भाइयों में इस विषय पर कुछ चर्चा होती है कि श्रीराम को राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये या अश्वमेध का। प्रारम्भ में श्रीराम राजसूय यज्ञ करने की इच्छा प्रकट करते हैं। तब भरत उन्हें स्मरण कराते हैं कि राजसूय यज्ञ से सभी राजवंशों का विनाश होने और पृथिवी पर पुरुषार्थ का अभाव होने की सम्भावना रहती है। श्रीराम तो राजकुलों के संवर्धक और शूरवीरों के ही नहीं अपितु सभी जीवों के संरक्षक हैं। सभी राजा और समस्त जीव उन्हें अपने पिता समान मानते हैं। वे ऐसा यज्ञ कैसे कर सकते हैं जिससे राजकुल तिरोहित हों, पुरुषार्थ का अभाव हो और जीवों का विनाश हो?

भाइयों के मध्य का यह वार्तालाप कदाचित् यह स्मरण कराने के लिये ही है कि भारतीय परम्परा के आदर्श राज्य रामराज्य में शक्ति का सङ्कुचन नहीं अपितु व्यास होता है। श्रीराम का तो यह सहज गुण ही है कि जब वे राज्य करते हैं तो राजवंश शतगुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के प्रथम अध्याय में ही कहा गया है – राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।[२]

अन्ततः श्रीराम अश्वमेध यज्ञ करने का निर्णय लेते हैं। इस यज्ञ के सम्पन्न होने से पूर्व उनके यज्ञ का अश्व लक्ष्मण के संरक्षण में पृथिवी पर विचरण करता हुआ सभी राजाओं के राज्य में पहुँचकर उन सब का सत्कार प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रीराम जैसे आदर्श राजा के यज्ञ के अश्व का सत्कार करने से राजाओं के गौरव में वृद्धि ही होती है, उनकी शक्ति का ह्रास नहीं।

अश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान करने का निर्णय होते ही श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं कि वे वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि और काश्यप आदि सभी श्रेष्ठ द्विजों को बुला लायें। इन सब के आने पर

[२] रामायण *बाल* १.९६, पृ.३०।

श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ

श्रीराम विनयपूर्वक उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने के अपने निश्चय से अवगत कराते हैं और उनका आशीर्वाद पाकर वे यज्ञ के आयोजन में जुट जाते हैं।

उपक्रम

यज्ञ के आयोजन का उपक्रम करते हुए सर्वप्रथम श्रीराम लक्ष्मण से अपने प्रिय मित्र वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण को बुला भेजने का आग्रह करते हैं। मानवेतर साम्राज्यों के ये महान् राजा श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में आतिथेय का दायित्व सँभालते हैं।

तब श्रीराम लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि सभी राजाओं को, सभी ब्राह्मणों, ऋषियों और तपस्वियों को, सभी विद्वानों को, सभी रङ्गकर्मियों, नटों व नर्तकों को बुला लिया जाये। देश-विदेश से ये सब लोग आयें, और अपने सेवकों, अनुयायिओं और स्त्रियों को साथ लेकर आयें।

इसके उपरान्त श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं कि वे नैमिषारण्य में गोमती के तट पर विशाल यज्ञमण्डप बनवाने का प्रबन्ध करें, यज्ञभूमि में सैकड़ों धर्मज्ञ लोगों को बुलायें और तुरन्त यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये शान्तिकर्म आरम्भ करवायें।

ये सब प्रबन्ध पूरे होने पर श्रीराम लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि वे शीघ्र ही सब लोगों को आमन्त्रित करें और यह सुनिश्चित करें कि यज्ञभूमि में जो भी आये वह तुष्ट, पुष्ट और मानित होकर लौटे। यहाँ श्रीराम विशेषतः सब को, बिना किसी विशेषण के समस्त जनों को, बुलाने और सभी को सत्कृत एवं सम्मानित करने का आग्रह करते हैं। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के शब्दों में श्रीराम का आदेश है –

> तुष्टः पुष्टश्च सर्वोऽसौ मानितश्च यथाविधि।
> प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यतां जनः ।।[३]

सभी लोगों को इस प्रकार तुष्ट-पुष्ट करने के लिये बड़ी मात्रा में भोजन का प्रबन्ध होना आवश्यक है। इसलिये श्रीराम यज्ञ के लिये जुटाये जाने वाले भण्डार के बारे में स्पष्ट और विस्तृत निर्देश देते हुए कहते हैं –

> शतं वाहसहस्राणां तण्डुलानां वपुष्मताम्।
> अयुतं तिलमुद्गस्य प्रयात्वग्रे महाबल।

[३] रामायण उत्तर ९१.१८, पृ.१६४९।

चणकानां कुलित्थानां माषाणां लवणस्य च ।
अतोऽनुरूपं स्नेहं च गन्धं संक्षिप्तमेव च ॥[४]

महाबल लक्ष्मण! लाखों बोझे उत्कृष्ट अनाज और दसियों सहस्र बोझे तिल, मूंग, चना, कुलत्थी, उड़द और लवण, इस सब के अनुरूप मात्रा में घी-तेल और सुगन्धित पदार्थ पहले ही यज्ञभूमि में भेज जायें।

श्रीराम का आदेश था कि इस सारे भण्डार और स्वर्ण एवं हिरण्य की शतकोटि से भी अधिक मुद्राओं से लदे पशु आगे-आगे चलें। उनके पीछे पाकशास्त्रियों, नट-नर्तकों, शिल्पियों, वणिकों, कोषाध्यक्षों, वैदिकों, पुरोहितों आदि का बड़ा समूह हो। उनके साथ ही अयोध्या के बड़े-बूढ़े, स्त्रियाँ और बच्चे प्रस्थान करें। भरत एवं उनकी सेनाएँ इस सारे भण्डार, धन-सम्पदा और जनसमूह का मार्गरक्षण करते हुए सबसे पहले इन्हीं को यज्ञभूमि में पहुँचायें।

अन्नदान

भरत के नैमिषारण्य पहुँचते ही वहाँ अन्नदान प्रारम्भ हो जाता है। तुरन्त वानरराज सुग्रीव अपनी वानर सेनाओं के साथ अन्न परोसने के काम में जुट जाते हैं, और राक्षसराज विभीषण व उनकी राक्षस सेनाएँ अयोध्या की स्त्रियों के साथ मिलकर आने वालों का स्वागत-सत्कार करने के लिये खड़ी हो जाती हैं।

इस प्रकार सब प्रबन्ध पूरे होने और अन्नदान प्रारम्भ होने के उपरान्त ही श्रीराम यज्ञ का अश्व छोड़ते हैं। शुभ लक्षणों से युक्त एवं कृष्ण मृग सी आभा वाले इस अश्व की रक्षा के लिये लक्ष्मण को नियुक्त कर श्रीराम स्वयं भी नैमिषारण्य के लिये प्रस्थान करते हैं।

श्रीराम का यह यज्ञ एक वर्ष से भी अधिक अवधि पर्यन्त चलता है। इस पूरी अवधि में श्रीराम नैमिषारण्य में ही निवास करते हैं। इस बीच पृथिवी के समस्त नरेश अनेक उपहार लेकर यज्ञ में भाग लेने के लिये पहुँचते हैं। श्रीराम स्वयं उनका सम्मान-सत्कार करते हैं, उनसे उपहार स्वीकार करते हैं और उन्हें अन्नपान एवं वस्त्रादि अर्पित करते हैं। श्रीराम के आदेश से भरत और शत्रुघ्न आने वाले नरेशों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिये सर्वदा उद्यत रहते हैं।

पृथिवी के समस्त नरेशों के आगमन और उनके आदर-सत्कार के अतिरिक्त इस यज्ञ का प्रमुख आयोजन सुग्रीव, विभीषण और उनकी मानवेतर सेनाओं के उत्साहपूर्ण प्रबन्ध एवं

[४] रामायण उत्तर ९१.१९-२०, पृ.१६४९।

आतिथ्य में चल रहा निर्बाध एवं भव्य अन्नदान ही दिखायी देता है। महाकवि वाल्मीकि श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में चल रहे इस भव्य अन्नदान का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

ईदृशं राजसिंहस्य यज्ञप्रवरमुत्तमम्।
नान्यः शब्दोऽभवत् तत्र हयमेधे महात्मनः।
छन्दतो देहि देहीति यावत् तुष्यन्ति याचकाः।
तावत् सर्वाणि दत्तानि क्रतुमुख्ये महात्मनः।
विविधानि च गौडानि खाण्डवानि तथैव च।
न निःसृतं भवत्योष्ठाद् वचनं यावदर्थिनाम्।
तावद् वानररक्षोभिर्दत्तमेवाभ्यदृश्यत ॥[५]

राजाओं में सिंह के समान पराक्रमी श्रीराम का यह श्रेष्ठ यज्ञ उत्तम विधि से चलने लगा। महात्मा श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में एक ही शब्द सुनाई पड़ता था – 'दीजिये, दीजिये, जब तक याचक सन्तुष्ट न हों तब तक देते जाइये।' महात्मा श्रीराम के उस महान् यज्ञ में देने वाले तब तक विभिन्न प्रकार के भोजन और गुड़ व खाण्ड से बने विभिन्न मिष्टान्न परोसते जाते थे जब तक खाने वाले सन्तुष्ट न हो जायें। खाने वालों के ओठों से किसी वस्तु की इच्छा प्रकट होने से पहले ही वानर और राक्षस वहाँ पहुँच उनकी इच्छा पूर्ण करते दिखायी देते थे।

श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में होने वाला यह भव्य अन्नदान ऐसा सम्पूर्ण होता है कि नैमिषारण्य में जुड़े अगणित लोगों में एक भी मलिन, दीन अथवा कृश नहीं दिखायी देता। वहाँ आये सभी लोग हृष्ट-पुष्ट और सन्तुष्ट ही दिखायी देते हैं –

न कश्चिन्मलिनो वापि दीनो वाप्यथवा कृशः।
तस्मिन् यज्ञवरे राज्ञो हृष्टपुष्टजनावृते ॥[६]

श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में होने वाले इस महान् अन्नदान की अद्वितीयता और अतुलनीयता का वर्णन महाकवि वाल्मीकि अनेक श्लोकों में करते हैं, और अन्त में वे केवल इतना कह पाते

[५] रामायण उत्तर ९२.१०-१३, पृ.१६५०।
[६] रामायण उत्तर ९२.१३-१४, पृ.१६५०।

हैं कि एक वर्ष से भी लम्बी अवधि तक चलने वाले इस यज्ञ में कभी किसी वस्तु की कमी नहीं दिखायी दी, सब वस्तुओं की प्रचुरता ही रही। महाकवि वाल्मीकि के शब्दों में –

ईदृशो राजसिंहस्य यज्ञः सर्वगुणान्वितः।
संवत्सरमथो साग्रं वर्तत न च हीयत ॥[७]

श्रीसीता का पृथिवी प्रवेश

इस निर्बाध एवं भव्य अन्नदान की पृष्ठभूमि में चल रहे श्रीराम के इस महान् अश्वमेध यज्ञ में अनेक अद्भुत घटनायें घटती हैं। श्रीराम की सम्पूर्ण इहलीला का पूर्वदर्शन कर उसे आदिकाव्य रामायण में छन्दोबद्ध करने वाले महाकवि वाल्मीकि स्वयं यज्ञभूमि में पधारते हैं। उनके साथ महाकवि के आश्रम में उत्पन्न हुए श्रीराम के युग्मपुत्र लव और कुश भी आते हैं। जब श्रीसीता के लङ्कावास सम्बन्धी लोकापवाद के भय से श्रीराम उन्हें अयोध्या से निष्कासित कर देते हैं, तब श्रीसीता महाकवि वाल्मीकि के आश्रम में ही शरण लेती हैं। वहीं लव-कुश उत्पन्न होते हैं और वहीं स्वयं महाकवि वाल्मीकि से शिक्षा पाकर वे आदिकाव्य रामायण के गायन में पारङ्गत होते हैं। अब श्रीराम के अश्वमेध में पहुँचकर महाकवि वाल्मीकि लव-कुश को आदेश देते हैं कि वे यज्ञभूमि की विभिन्न वीथियों में घूम-घूम कर अपनी गायन कला का प्रदर्शन करें।

लव और कुश के शुद्ध एवं अत्यन्त मधुर गायन के स्वर श्रीराम के कानों तक पहुँचते हैं। अपने ही इहजीवन की कथा का ऐसा छन्दोबद्ध एवं सस्वर पाठ सुनकर श्रीराम विस्मित रह जाते हैं, और सम्मानित पौराणिकों, वैयाकरणों, सङ्गीतज्ञों, दार्शनिकों एवं अन्य विद्वानों तथा महान् राजाओं, मुनियों और सभी सुधीजनों से भरी अपनी सभा को एकत्र कर उन बालकों को गायन के लिये आमन्त्रित करते हैं। लव-कुश के आदिकाव्य रामायण का गायन प्रारम्भ करते ही सभा आनन्दविभोर हो उठती है और जैसे-जैसे कथा आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जाता है कि ये दोनों दिव्य बालक कोई अन्य नहीं, स्वयं श्रीराम के युग्मपुत्र ही हैं।

तब श्रीराम आग्रह करते हैं कि स्वयं श्रीसीता विद्वानों, मुनियों, राजाओं एवं अन्य महाजनों से भरी उस सभा में आयें और सबके समक्ष अपनी शुद्धता का प्रमाण दें। श्रीराम एकदा पहले भी श्रीसीता से अपनी पवित्रता का सार्वजनिक प्रमाण देने का आग्रह करते हैं – रावण पर श्रीराम की विजय के पश्चात् श्रीसीता जब अन्ततः लङ्का की अशोक वाटिका में कारावास से मुक्त होती हैं तब श्रीराम उन्हें पुनः रघुकुल में प्रतिष्ठित करने से पूर्व उनकी पवित्रता की सार्वजनिक परीक्षा

[७] रामायण उत्तर ९२.१९, पृ.१६५० ।

लेते हैं। उस समय श्रीसीता अत्यन्त धैर्य के साथ वानरों एवं राक्षसों से भरी सभा में अग्निपरीक्षा से निकलती हैं। परन्तु अब पुनः वैसी ही परीक्षा का अवसर उपस्थित होने पर वे अपनी जननी पृथिवी से प्रार्थना करती हैं कि यदि उनकी शुद्धता सर्वथा अक्षुण्ण रही हो और यदि उन्होंने मन, कर्म और वाणी से सर्वदा केवल श्रीराम की ही अर्चना की हो तो देवी मही पुनः उन्हें अपने अङ्क में स्थान देवें। श्रीसीता के इस प्रकार प्रार्थना करते ही भूतल विदीर्ण हो जाता है, स्वयं देवी धरणी प्रकट हो श्रीसीता को अपनी बाहों में भरकर महापराक्रमी नागों के सिर पर स्थित एक भव्य सिंहासन पर बैठा देती हैं और श्रीसीता को लेकर वह सिंहासन तुरन्त पृथिवी के अङ्क में समा जाता है।

इस प्रकार महापराक्रमी राजा श्रीराम समाज के नियमों के प्रति नमन करते हुए और अपनी प्रजा के रञ्जन में प्रयासरत हो अपनी प्रिय पत्नी जानकी से वञ्चित हो जाते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का तो यह व्रत ही है कि प्रजारञ्जन करते हुए वे न केवल अपना सर्वस्व अपितु स्वयं जानकी को भी न्योछावर कर देंगे।

श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ श्रीसीता के पृथिवी प्रवेश की रोमाञ्चकारी घटना के साथ समाप्त होता है। इस घटना से कुछ क्षणों के लिये स्वयं श्रीराम क्षुब्ध एवं स्तब्ध दिखायी देते हैं। परन्तु श्रीसीता के प्रस्थान के पश्चात् भी श्रीराम सहस्रों वर्ष तक राज्य करते हैं और श्रीसीता की सुवर्ण प्रतिमा को अपने वाम भाग में प्रतिष्ठित कर सहस्रों यज्ञों का सम्पादन करते हैं। वास्तव में श्रीराम का दीर्घ अवधि तक चलने वाला राज्य अपने आप में एक यज्ञ ही है। इस यज्ञ में श्रीराम इस सतत प्रयास में लीन रहते हैं कि कहीं कोई भूखा-प्यासा या निराश्रय न रहे, कहीं कोई आधि-व्याधि न होने पाये और सृष्टि के सनातन सहज प्रवाह में कहीं कोई अवरोध न आये। महाकवि वाल्मीकि श्रीराम के राज्य की सहज समरसता का वर्णन करते हुए लिखते हैं –

काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा।
नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा।
नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्यं प्रशासति ॥[८]

जब श्रीराम राज्य पर शासन करते हैं तब मेघ समय पर वर्षा करते हैं, सब समय सुभिक्ष रहता है और सब दिशायें स्वच्छ-प्रसन्न दिखायी देती हैं। पुर एवं जनपद दोनों ही

[८] रामायण उत्तर ९९.१३-१४, पृ.१६६१।

हृष्ट-पुष्ट लोगों से भरे रहते हैं। कोई अकाल मृत्यु नहीं मरता। किसी प्राणी को कोई व्याधि व्यथित नहीं करती। सृष्टि में कहीं कोई अनर्थ नहीं घटता।

ऐसा रामराज्य दीर्घकाल तक चलता रहता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीराम की इहलीला की कथा तो उनके अश्वमेध यज्ञ और श्रीसीता के पृथिवीप्रवेश के साथ ही समाप्त हो जाती है। उसके उपरान्त तो श्रीराम मात्र काल के विधान को ही निभाते हैं और समय आने पर अपने बन्धुओं और पुरजनों समेत सरयू के जल में प्रविष्ट हो अपने परमधाम को चले जाते हैं।

यह कदाचित् स्वाभाविक ही है कि श्रीराम की इहयात्रा की यह चरम घटना एक निर्बाध एवं भव्य अन्नदान की पृष्ठभूमि में घटती है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अन्तिम अध्याय श्रीसीता के पृथिवीप्रवेश और श्रीराम के श्रीसीता की सुवर्ण प्रतिमा को अपने वामपक्ष पर रख कर दीर्घकाल तक अकेले ही रामराज्य का सञ्चालन करते जाने के मर्मस्पर्शी वर्णन से भरे हैं और इन अध्यायों में हृष्ट, पुष्ट, तुष्ट एवं मानित जनों की बात पुनः पुनः गूँजती रहती है, मानो श्रीराम का परम ध्येय अपने सुख-दुःख का विचार किये बिना सतत अन्नदान चलाते हुए प्रजा को हृष्ट, पुष्ट, तुष्ट एवं मानित बनाये रखना ही हो।

राजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में एक अन्य भव्य अश्वमेध यज्ञ का वर्णन भी हुआ है। आदिकाव्य के प्रारम्भ पर ही राजा दशरथ पुत्रप्राप्ति की कामना से अश्वमेध का आयोजन करते हैं। राजा दशरथ और श्रीराम के इन दो भव्यतम यज्ञों के प्रसङ्ग और परिवेश में बहुत भिन्नता है। श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ उनकी इहलीला के प्रायः समापन की निराशाजनक अनुभूति करवाता है। राजा दशरथ का अश्वमेध सन्तानप्राप्ति की सुखद आकाङ्क्षा एवं श्रीराम के आसन्न अवतरण की प्रसन्नतामयी अपेक्षा से परिपूर्ण है। प्रसङ्ग और परिवेश के अनुरूप ही इन दो यज्ञों के लिये किये जाने वाले उपक्रम और आयोजन अपनी भव्यता और लय में सर्वथा भिन्न दिखते हैं।

श्रीराम के अश्वमेध के सभी उपक्रम एवं आयोजन तीव्र गति से चलते हैं। अगस्त्य मुनि के आश्रम से अयोध्या लौटकर पुष्पक विमान से उतरते ही श्रीराम शीघ्रता से यज्ञ के उपक्रम में जुट जाते हैं और अत्यन्त शीघ्रता का यह भाव यज्ञ के सम्पन्न होने तक बना रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो भावी स्वयं हाथ पकड़कर उन्हें आगे की मार्मिक घटनाओं की ओर खींचे ले जा रही हो।

राजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ

राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ के आयोजन सहज मन्थर गति से होते हैं। सन्तानप्राप्ति का अनमोल प्रसाद पाने की इच्छा से अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करने का विचार आने पर राजा दशरथ सबसे पहले अपने गुरुजनों एवं पुरोहितों के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करते हैं। इस शुभ कार्य के लिये उन सबके आशीर्वाद एवं अनुशंसा प्राप्त करने के पश्चात् वे अपने मन्त्रियों को यज्ञ के लिये सभी आवश्यक सामग्री जुटाने, सरयू के उत्तरी तट पर यज्ञभूमि का निर्माण करवाने और अन्य सभी प्रबन्ध प्रारम्भ करने का आदेश देते हैं। इस प्रकार अपने मन्त्रियों को यज्ञ के कार्य में नियुक्त करते हुए राजा दशरथ उन्हें विशेषतया सावधान करते हैं कि अश्वमेध जैसे महान् यज्ञ के सम्पादन में कोई त्रुटि रह जाने पर यजमान भयङ्कर अनिष्ट का भागी होता है, इसलिये उन्हें सायास ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि यज्ञ के लिये समुचित साधन-सामग्री प्रस्तुत रहे और यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न हो। और तब राजा दशरथ अन्तःपुर में जाकर अपनी रानियों को अपने निर्णय से अवगत करवाते हैं तथा उन्हें यज्ञ की दीक्षा लेने के लिये तत्पर रहने के प्रति सचेत करते हैं।

इस प्रकार सब को सावधान एवं सचेत करने के उपरान्त राजा दशरथ अपने प्रमुख मन्त्री सुमन्त्र के सुझाव पर सुदूर अङ्गदेश की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। सुमन्त्र का कहना था कि अङ्गदेश के राजा सोमपाद के जामाता ऋषि ऋष्यशृङ्ग ही राजा दशरथ के अश्वमेध के लिये उपयुक्त ऋत्विज होंगे। ऋषि ऋष्यशृङ्ग को सम्मानपूर्वक अयोध्या लिवा लाने के लिये राजा दशरथ स्वयं अपनी रानियों, मन्त्रियों एवं सेनाओं समेत अनेक वनों और नदियों को पार करते हुए अङ्गदेश पहुँचते हैं। राजा सोमपाद की अनुमति से ऋषि ऋष्यशृङ्ग राजा दशरथ के अनुरोध को स्वीकार कर लेते हैं और अपनी पत्नी शान्ता समेत राजा दशरथ के साथ अयोध्या के लिये प्रस्थान करते हैं।

अयोध्या में ऋष्यशृङ्ग एवं शान्ता का भव्य स्वागत-सत्कार होता है और वे दोनों लम्बे समय तक सुखपूर्वक राजा दशरथ के अन्तःपुर में निवास करते हैं। इस प्रकार अनेक दिन बीत जाते हैं। तब वसन्त ऋतु के आरम्भ में एक अत्यन्त शुभ मुहूर्त प्राप्त होने पर राजा दशरथ यज्ञ का अनुष्ठान करने का मन बनाते हैं। वे अब ऋषि ऋष्यशृङ्ग का विधिपूर्वक अपने प्रधान ऋत्विज के रूप में वरण करते हैं और उनके आदेश से शक्तिशाली वीरों के संरक्षण में यज्ञ के अश्व को सम्पूर्ण भूमण्डल पर विचरण के लिये भेजते हैं। और पुनः गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त कर पुनः अपने मन्त्रियों को सरयू के तट पर यज्ञभूमि का निर्माण करने और यज्ञ के लिये सभी आवश्यक साधन-सामग्री जुटाने के कार्य के प्रति सचेत करते हैं।

यज्ञ के आयोजन के सब उपक्रम करते हुए एक और वर्ष बीत जाता है। तब वसन्त ऋतु के

आगमन पर राजा दशरथ वसिष्ठ मुनि के पास जाकर उनसे यज्ञ के सम्पादन का दायित्व स्वयं सँभालने का आग्रह करते हैं। वसिष्ठ मुनि राजा दशरथ के आग्रह को स्वीकार कर लेते हैं, और तब कहीं राजा दशरथ के यज्ञ के आयोजन में वैसी शीघ्रता का आभास आ पाता है जैसी शीघ्रता श्रीराम के अश्वमेध में प्रारम्भ से ही दिखायी देती है। अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने का निर्णय लेने के तुरन्त उपरान्त श्रीराम द्वारा लक्ष्मण को दिये गये निर्देशों के अनुरूप ही अब वसिष्ठ मुनि यज्ञसम्बन्धी प्रबन्धों के सम्पादन के लिये स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देश देते हैं। विद्वान्, धर्मात्मा एवं यज्ञकर्म में कुशल जनों को बुलाकर वे उन्हें यज्ञकर्म में नियुक्त करते हैं। स्थपतियों, काष्ठकारों एवं अन्य शिल्पियों को यज्ञभूमि के निर्माण में लगाते हैं और सुमन्त्र को पृथिवी के सभी राजाओं और सभी साधारण जनों को यज्ञ के लिये आमन्त्रित करने के लिये कहते हैं।

जैसे श्रीराम लक्ष्मण को समस्त राजाओं एवं समस्त साधारण जनों को शीघ्रता से यज्ञ के लिये आमन्त्रित करने का निर्देश देते हैं, प्रायः वैसे ही वसिष्ठ मुनि सुमन्त्र से कहते हैं –

> निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः।
> ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः।
> समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान्॥[१]
>
> पृथिवी के सभी धर्मनिष्ठ राजाओं को आमन्त्रित करो। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को सहस्रों की संख्या में बुला भेजो। सब देशों के समस्त चतुर्वर्गीय एवं वर्णेतर जनों को सम्मानपूर्वक बुलवा लो।

अपने समय के श्रेष्ठतम राजाओं को आमन्त्रित करने के लिये वसिष्ठ मुनि विशेष प्रबन्ध करते हैं। मिथिलाधिपति शूरवीर एवं सत्यवादी राजा जनक, देवतुल्य काशिराज, राजा दशरथ के वयोवृद्ध श्वशुर केकयराज, राजा दशरथ के परम मित्र एवं उनके यज्ञ के प्रधान ऋत्विज ऋषि ऋष्यशृङ्ग के श्वशुर अङ्गराज रोमपाद, कोसलराज भानुमान् और मगधराज प्राप्तिज्ञ को स्वयं सुमन्त्र जाकर सम्मानपूर्वक लिवा लाते हैं। पूर्व देश के महान् नरेशों, पश्चिम में सिन्धु-सौवीर एवं सौराष्ट्र के राजाओं और दक्षिण देश के समस्त भूपालों को बुलाने के लिये राजा दशरथ का सन्देश देकर विशेष बड़भागी दूत भेजे जाते हैं।

वसिष्ठ मुनि के निर्देशन में श्रीराम के अश्वमेध से कहीं अधिक भव्य एवं विस्तृत यज्ञभूमि का निर्माण होता है। सरयू के उत्तरी तट पर ब्राह्मणों के लिये शत-शत सुन्दर घर बनाये जाते

---

[१] रामायण *बाल* १३.२०-२१, पृ.५५।

हैं। वैसे ही सुन्दर एवं विस्तृत घर अन्य सब पुरवासियों और देश-विदेश से आने वाले साधारण जनों के लिये बनते हैं। बाहर से आने वाले राजाओं के लिये पृथक्-पृथक् प्रासाद बनाये जाते हैं, उनके हाथी-घोड़ों के लिये विशेष शालाएँ बनती हैं और उनके साथ आने वाले विदेशी सैनिकों के लिये छावनियों का निर्माण होता है। इन सब घरों, प्रासादों, शालाओं, छावनियों और सामान्य शय्यागृहों को अन्नपान की प्रचुर सामग्री और सब प्रकार के साधनों-उपकरणों से सज्जित किया जाता है।

वसिष्ठ मुनि का आग्रह है कि यज्ञ में आने वाले सब लोगों का उपयुक्त स्वागत-स्त्कार हो और सब को विधिवत् एवं ससम्मान भोजन परोसा जाये। इस विषय में विशेष निर्देश देते हुए वे कहते हैं –

दातव्यमन्नं विधिवत् सत्कृत्य न तु लीलया।
सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि ॥[१०]

सब को सत्कारपूर्वक विधिवत् अन्न परोसा जाना चाहिये। कभी भी अनादर व अश्रद्धा से अन्न नहीं देना चाहिये। सब प्रबन्ध ऐसे होने चाहियें कि यज्ञभूमि में पहुँचकर समस्त वर्ण अपने आप को सत्कृत एवं सम्मानित अनुभव करें। काम-क्रोध के वशीभूत होकर भी कदापि किसी की अवज्ञा न हो पाये।

वास्तव में सब के स्वागत-सत्कार, रहने-सोने एवं खाने-पीने के प्रबन्धों के लिये उपयुक्त नियोजन करने के उपरान्त ही वसिष्ठ मुनि सुमन्त्र को सब को निमन्त्रित करने के लिये कहते हैं। उपयुक्त समय पर जब विभिन्न प्रबन्धों के लिये नियुक्त किये गये लोग आकर उन्हें अपने-अपने कार्य के सम्पादन की सूचना देते हैं तो वे एकदा पुनः उन्हें अतिथियों के आदर-सम्मान की अनिवार्यता के प्रति सचेत करते हुए कहते हैं –

अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा।
अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः ॥[११]

कभी किसी को कोई वस्तु अनादरपूर्वक न दी जाये। मात्र लीला में, खेल-खेल में

---

[१०] रामायण *बाल* १३.१४-१५, पृ.५४।
[११] रामायण *बाल* १३.३३-३४, पृ.५५।

भी ऐसा नहीं होना चाहिये। क्योंकि अनादर एवं अश्रद्धा से दिया गया दान देने वाले को नष्ट कर देता है। यह निश्चित है, इसमें कोई संशय सम्भव नहीं।

यज्ञ एवं अन्नदान

सब प्रबन्ध ठीक से सम्पादित करने में कई दिन बीत जाते हैं। धीरे-धीरे आमन्त्रित नरेश बहुमूल्य उपहार लेकर अयोध्या पहुँचने लगते हैं। तब वसिष्ठ मुनि राजा दशरथ को सब प्रबन्धों के सम्पन्न होने की सूचना देते हैं और उनसे अपनी पत्नियों सहित यज्ञ मण्डप में चलकर यज्ञ की दीक्षा लेने का आग्रह करते हैं। इस मध्य एक वर्ष पूरा होने पर यज्ञ का अश्व भी पृथिवीभ्रमण कर लौट आता है। इतने सारे उपक्रमों एवं आयोजनों के पश्चात् राजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ होता है।

ऋषि ऋष्यशृङ्ग के नेतृत्व में विद्वान् एवं कुशल पुरोहित अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी सब कर्म सम्पूर्ण विधि-विधान से सम्पादित करते हैं। वहाँ एकत्रित विद्वान्, वेदविद् एवं महान् ऋषि शुद्ध स्वर एवं लय के साथ वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हैं। राजा दशरथ के इस महान् अश्वमेध यज्ञ में कोई विपरीत आहुति नहीं पड़ती, किसी मन्त्र के उच्चारण में कोई त्रुटि नहीं रहती, किसी कर्म के सम्पादन में कहीं कुछ शेष नहीं रह पाता।

यह सब विस्तृत विधि-विधान एवं मन्त्रोच्चारण एक भव्य अन्नदान की पृष्ठभूमि में चलता है। श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ के समान ही राजा दशरथ के इस यज्ञ में भी अन्नदान सभी कर्मों के केन्द्र में स्थित दिखायी देता है। इन दोनों यज्ञों के उपक्रम, परिवेश एवं उपलक्ष्य में इतना अन्तर होते हुए भी महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य में दोनों में होने वाले अन्नदान का वर्णन प्रायः एक-सा ही बन पड़ा है। राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में चल रहे अन्नदान का वर्णन करते हुए महाकवि वाल्मीकि लिखते हैं –

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वा न दृश्यते।
नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चिन्नाशतानुचरस्तथा।
ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते।
वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रीबालाश्च तथैव च।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते।
दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च।

इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ।
अन्नकूटाश्च दृश्यन्ते बहवः पर्वतोपमाः ।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत् तदा ।
नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा ।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः ।
अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः ।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं ते इति शुश्राव राघवः ॥[१२]

यज्ञ के दिनों कोई भूखा-प्यासा अथवा क्लान्त-श्रान्त नहीं दिखायी देता। उस यज्ञ में कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं दिखता जो विद्वान् न हो अथवा जिसके साथ शत-शत अनुचर न हों।

उस यज्ञ में अबाध अन्नदान चल रहा है – ब्राह्मण भोजन कर रहे हैं, शूद्र भोजन कर रहे हैं, तपस्वी और संन्यासी भोजन कर रहे हैं, वृद्ध व रोगी, स्त्रियाँ व बालक सब भोजन कर रहे हैं। वे सब निरन्तर खाते जाते हैं, किसी का मन नहीं भरता।

'अन्न दो! विविध वस्त्र दो!' के निर्देशों से प्रेरित हो बाँटने वाले घूम-घूम कर अन्न एवं वस्त्र बाँटे चले जा रहे हैं।

उस यज्ञ में प्रतिदिन विधिवत् पके हुए अन्न के पर्वतों समान ऊँचे ढेर लगते हैं और प्रतिदिन विभिन्न देशों से आये हुए स्त्री-पुरुषों के समूह अन्नपान से तृप्त होते हैं।

द्विजश्रेष्ठ अन्न की प्रशंसा करते हुए निरन्तर रघुकुल के राजा दशरथ को इस प्रकार आशीर्वाद दे रहे हैं –
'यह अन्न विधिवत् पकाया गया है। बहुत स्वादिष्ट है। हम तृप्त हुए। राघव! आपका कल्याण हो।'

राजा दशरथ के अश्वमेध में हुए अन्नदान का यह वर्णन श्रीराम के अश्वमेध में हुए अन्नदान से भी अधिक भव्य दिखता है। राजा दशरथ के यज्ञ के आयोजन की मन्थर गति के अनुरूप ही इस यज्ञ के सभी कर्म बहुत विस्तार से सम्पन्न किये जाते हैं। अश्वमेध की समाप्ति के तुरन्त पश्चात् पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान होता है और वैसे ही विस्तार के साथ पुत्रेष्टि के सभी कर्म

[१२] रामायण *बाल* १४.११-१७, पृ.५७।

सम्पादित किये जाते हैं। महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य में इस सम्पूर्ण विधि-विधान का विशद एवं विस्तृत वर्णन हुआ है। परन्तु इस सब के मध्य अन्नदान की प्रधानता तो बनी ही रहती है। रामायण की प्रायः समाप्ति पर होने वाले श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ के समान रामायण के प्रारम्भ में हुए राजा दशरथ के इस अश्वमेध यज्ञ में भी अन्न और अन्नदान का माहात्म्य ही व्याप्त दिखायी देता है।

रामराज्य

महाकवि वाल्मीकि का आदिकाव्य इस प्रकार एक भव्य अन्नदान से प्रारम्भ होता है और वैसे ही भव्य अन्नदान से समाप्त होता है। श्रीराम की सम्पूर्ण इहलीला मानो इन दो अन्नदानों के मध्य ही घटती है। इसलिये यह सहज-स्वाभाविक ही दिखता है कि जब भी महाकवि वाल्मीकि रामराज्य का चित्रण करते हैं, उनके चित्रण में सब ओर अन्न की प्रचुरता और सभी जीवों के निर्बाध स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट जीवन की छवि पुनः पुनः उभरती रहती है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के प्रारम्भ में ही भावी रामराज्य का चित्र प्रस्तुत करते हुए महाकवि लिखते हैं –

> प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
> निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः।
> न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
> नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।
> न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
> न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा।
> न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
> नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च।
> नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥[१३]

श्रीराम के राज्य में सब लोग प्रसन्न एवं सुखी होंगे। सब पुष्ट एवं सन्तुष्ट रहेंगे। सब धर्म में प्रतिष्ठित होंगे। सब सर्वदा स्वस्थ रहेंगे, किसी प्रकार की कोई व्याधि किसी को नहीं सतायेगी। कभी किसी को दुर्भिक्ष का कोई भय नहीं रहेगा।

---

[१३] रामायण *बाल* १.९०-९४, पृ.३०।

रामराज्य

कोई पिता पुत्रमरण का दुःख नहीं झेलेगा। कोई स्त्री विधवा नहीं होगी। सभी सदा पतिव्रत में निष्ठ रहेंगी।

अग्नि से कोई अनिष्ट नहीं होगा। कोई जीव जल में नहीं डूबेगा। किसी प्रकार के ज्वर का किञ्चित् भी भय नहीं रहेगा। न ही किसी को भूख के विषय में चिन्तित होना पड़ेगा। कभी कहीं कुछ चुराया नहीं जायेगा।

नगर और राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण होंगे। सभी सदा प्रसन्न एवं सुखी होंगे। रामराज्य में मानो सतयुग ही लौट आयेगा।



अध्याय ४

दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत

महान् राजाओं के महान् यज्ञ: महाभारत

रामायण के समान ही महाभारत की कथा भी एक महान् यज्ञ से प्रारम्भ होकर एक महान् यज्ञ से समाप्त होती है। इन्द्रप्रस्थ नगर बसाने और वहाँ अपना राज्य ठीक से स्थापित करने के उपरान्त युधिष्ठिर एक भव्य राजसूय यज्ञ का आयोजन करते हैं। इस महान् यज्ञ के कारण ही इन्द्रप्रस्थ का सद्यस्थापित राज्य चिरकाल से चले आ रहे अत्यन्त वैभवशाली हस्तिनापुर राज्य के उत्तराधिकारी राजा दुर्योधन की ईर्ष्या का विषय बन जाता है। इस प्रकार युधिष्ठिर का यह राजसूय यज्ञ महाभारत की आगामी युगान्तकारी घटनाओं के प्रथम उपक्रम-सा दिखता है।

महाभारत के प्रायः अन्त में, भीष्म पितामह के देहावसान के पश्चात् युधिष्ठिर एक और भव्य यज्ञ का आयोजन करते हैं। युधिष्ठिर का यह महान् अश्वमेध यज्ञ उनके राज्य के चरमोत्कर्ष का द्योतक तो है ही, इस यज्ञ के समापन के साथ महाभारत की कथा का समापन भी होने लगता है। अश्वमेध के सम्पन्न होते ही महाभारत युद्ध में जीवित बचे समस्त महत्त्वपूर्ण लोग इहलोक से प्रस्थान करने लगते हैं। धृतराष्ट्र, गान्धारी एवं कुन्ती तुरन्त वनवास के लिये निकल पड़ते हैं और वहाँ गहन तपस्या करते हुए वे एक भयङ्कर दावानल में भस्म हो जाते हैं। श्रीकृष्ण यज्ञ सम्पन्न करवाकर द्वारका लौटते हैं और शीघ्र ही वे अपने समस्त वंश को आपसी कलह में नष्ट होते हुए देखते हैं। तब बलराम और श्रीकृष्ण भी परमधाम को प्राप्त हो जाते हैं। महाभारत के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण पृथिवी पर सञ्चित पाप के भार को क्षीण करने के लिये अवतरित होते हैं। अब वे अपना कार्य सम्पन्न कर अपने ही लोक को लौट जाते हैं। उनके परलोकगमन का समाचार सुनकर द्रौपदी समेत पाँचों पाण्डव भी महाप्रस्थान के लिये निकल पड़ते हैं।

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ

रामायण में भरत श्रीराम को स्मरण कराते हैं कि राजसूय यज्ञ पृथिवी के समस्त राजवंशों और सब प्रकार के शौर्य के पराभव से ही सम्पन्न हो पाता है। महाभारत में भी युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन पाण्डवों के अपने अपरिमेय बाहुबल एवं श्रीकृष्ण के अद्वितीय कूटनीतिक सामर्थ्य के माध्यम से पृथिवी के समस्त राजाओं के मध्य अपनी प्रधानता स्थापित करने की प्रक्रिया के रूप में ही हुआ है। भारतवर्ष की सहज राज्यव्यवस्था सर्वदा अनेक राज्यों, राजवंशों एवं जनपदों के समाहित स्वराज्यों पर ही निर्भर रही है। अपनी स्वतन्त्र अस्मिता के प्रति गर्विष्ठ एवं सतर्क इन अनेक स्वराज्यों को एक केन्द्र की ओर अभिमुख कर राज्य व्यवस्था में एक भारतवर्ष व्यापी सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य भारतीय परम्परा के महान् चक्रवर्ती राजा करते आये हैं। इसलिये महाभारत में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के सन्दर्भ में वर्णित उनके चाक्रवर्त्य की स्थापना की प्रक्रिया का सहज भारतीय राज्य व्यवस्था के अध्येताओं के लिये विशेष महत्त्व होना चाहिये। अन्न एवं अन्नदान के माहात्म्य के परिप्रेक्ष्य में इस यज्ञ को देखते हुए हम यहाँ इस यज्ञ से जुड़ी महान् राजनीतिक प्रक्रियाओं का सङ्क्षिप्त विवेचन ही कर पायेंगे।

युधिष्ठिर के सम्मुख राजसूय यज्ञ के आयोजन का विचार सर्वप्रथम नारदमुनि रखते हैं। नारदमुनि का भारतीय आर्ष परम्परा में विशिष्ट स्थान है। हाथ में वीणा और करताल लिये वे तीनों लोकों का भ्रमण करते रहते हैं और कहीं किसी हृदय में किसी भव्य आकाङ्क्षा और कहीं किसी दुर्दान्त ईर्ष्या का रोपण करते हुए वे घटनाक्रम को आगे बढ़ाते चले जाते हैं। इस प्रकार काल के अनतिक्रमणीय प्रवाह को किञ्चित् गतिशील-सा करते हुए वे भावी के सहयोगी जैसे ही दिखायी देते हैं। महाभारत के सभा पर्व के प्रायः प्रारम्भ में नारदमुनि युधिष्ठिर के लिये स्वर्गलोक से उनके पिता राजा पाण्डु का सन्देश लेकर आते हैं। स्वर्गलोक में राजा हरिश्चन्द्र की अतुलनीय शोभा देखकर राजा पाण्डु की इच्छा होती है कि उनके पुत्र राजा हरिश्चन्द्र के समान महान् राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करें और उस यज्ञ के प्रताप से वे स्वयं भी स्वर्गलोक में राजा हरिश्चन्द्र के समान शोभायमान् हों ।

राजा पाण्डु का यह सन्देश युधिष्ठिर को सुनाते हुए नारदमुनि उन्हें सतर्क करते हैं कि इस यज्ञ में किसी प्रकार की असावधानी होने से पृथिवी पर भयङ्कर युद्ध उपस्थित हो जाते हैं, जो क्षत्रियों के संहार एवं भूमण्डल के विनाश का कारण बन सकते हैं। इसलिये उन्हें भली भाँति सोच-विचार कर ही राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये।

युधिष्ठिर के लिये तो नारदमुनि की इस चेतावनी की कोई आवश्यकता नहीं थी। सब समय अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति सचेत-सावधान रहना तो उनका स्वभाव ही है।अत्यन्त सोच-

विचार कर और वर्तमान एवं भावी परिस्थितियों को पूर्णतः समझकर ही युधिष्ठिर किसी कार्य के सम्पादन के प्रति उद्यत होते हैं। नारदमुनि से राजा पाण्डु का राजसूय यज्ञ सम्बन्धी सन्देश सुन वे गहन चिन्तन में डूब जाते हैं। अपने भाइयों, सभासदों एवं मन्त्रियों के साथ पुनः पुनः राजसूय यज्ञ की उपयुक्तता और ऐसे आयोजन के लिये अपने साधन-सामर्थ्य के प्राचुर्य पर विचार करते हैं। अपने समय के महान् विद्वानों, ऋत्विजों एवं महर्षियों से पुनः पुनः विनयपूर्वक यज्ञ सम्बन्धी निवेदन कर उनकी सम्मति पाते हैं। वे सब युधिष्ठिर को विश्वास दिलाते हैं कि वे राजसूय यज्ञ के सम्पादन में पूर्णतः समर्थ हैं। तथापि राजा युधिष्ठिर इस विषय में निश्चिन्त नहीं हो पाते।

अन्ततः युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से मन्त्रणा करने का निश्चय करते हैं और शीघ्रगामी दूत भेजकर उन्हें द्वारका से बुलवा लेते हैं। इन्द्रप्रस्थ पहुँच श्रीकृष्ण सभी पाण्डव बन्धुओं और उनकी माँ एवं अपनी बुआ कुन्ती से प्रीतिपूर्वक मिलने के उपरान्त तुरन्त युधिष्ठिर के साथ यज्ञ सम्बन्धी विचार-विमर्श में लग जाते हैं। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिर को यही विश्वास दिलाते हैं कि उनमें राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करने योग्य सभी गुण विद्यमान हैं – सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।[१] इस प्रकार युधिष्ठिर को आश्वस्त करके श्रीकृष्ण उन्हें भारतवर्ष में उस समय स्थापित राजनीतिक सन्तुलन का विहङ्गम अवलोकन करवाने लगते हैं। वे युधिष्ठिर के लिये उस समय के समस्त राजवंशों, क्षत्रियकुलों एवं प्रधान शूरवीरों के बल व निर्बलता का सापेक्ष वर्णन करते हैं, उन वंशों, कुलों व वीर पुरुषों के मध्य परस्पर मैत्री एवं विग्रह का चरित्र सुनाते हैं और युधिष्ठिर की चाक्रवर्त्य की अभिलाषा के प्रति उन सबकी वर्तमान एवं सम्भावी अभिवृत्तियों का विवेचन करते हैं।

श्रीकृष्ण के इस सङ्क्षिप्त अपितु गहन एवं विशद विश्लेषण का मुख्य तथ्य यह है कि भारतवर्ष में उस समय व्याप्त राजनीतिक सन्तुलन के केन्द्र में मध्यभारत के मगधराज्य के सम्राट, बृहद्रथ के पुत्र महाबली जरासंध विराजमान हैं। वर्तमान सन्तुलन को परिवर्तित कर धर्मराज युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्थापित करने के लिये जरासंध का वध अनिवार्य है। जब तक भारतवर्ष की राजनीति को बलपूर्वक अपनी ओर अभिमुख किये रखने वाले महाबली जरासंध जीवित हैं तब तक युधिष्ठिर के राजसूय का निर्विघ्न सम्पन्न हो पाना सम्भव नहीं। ऐसा श्रीकृष्ण का स्पष्ट मत है – न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम।[२]

---

[१] महाभारत *सभा* १४.१, पृ.७०६।
[२] महाभारत *सभा* १४.६२, पृ.७१०।

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ

जरासंध वध

महाबली जरासंध कदाचित् वध के योग्य ही है। उसने चाक्रवर्त्य धर्म की अवहेलना कर अपने सैनिक बल से पराजित राजाओं को गिरिव्रज की पर्वतीय कन्दराओं में काराबद्ध कर रखा है। भारतवर्षव्यापी राजनीतिक सामञ्जस्य का संरक्षक बनने की सहज चाक्रवर्त्य वृत्ति को छोड़ वह समस्त राजाओं में परस्पर फूट डालने की नीति पर आचरण करता है। फूट की इस कुटिल नीति से ही उसने एक-एक कर अनेक राजाओं को पराजित किया है और भारतवर्ष के छियासी प्रतिशत राजाओं को बन्धक बना लिया है। शेष चौदह प्रतिशत राजाओं को भी काराबद्ध करने के प्रयास में वह रत है। श्रीकृष्ण की सम्मति है कि महाबली जरासंध के इस धर्मविरुद्ध क्रूर कर्म को रुद्ध करने वाला निश्चय ही उज्ज्वल यश का भागी होगा।

जरासंध सामान्य सैनिक कर्म से अजेय है। रण में उसे जीत पाना सम्भव नहीं। वैसे भी श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि जरासंध सशस्त्र युद्ध करता हुआ वीरोचित गति को प्राप्त हो। सशस्त्र युद्ध में मरकर तो क्षत्रिय सत्कृत ही होता है। इसलिये श्रीकृष्ण उसे निश्शस्त्र द्वन्द्वयुद्ध में मरवाने का विचार करते हैं। युधिष्ठिर की सम्मति से वे केवल अर्जुन और भीमसेन को साथ लेकर किसी सैन्यबल के बिना ही जरासंध की राजधानी में पहुँचते हैं। वहाँ श्रीकृष्ण अपनी बुद्धि का आश्रय ले जरासंध से भीमसेन के साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार करवा लेते हैं। भीमसेन तो मल्लयुद्ध में अजेय ही हैं। तथापि जरासंध को परास्त करने के लिये उन्हें दीर्घकाल तक जूझना पड़ता है। कार्तिक मास के पूरे कृष्ण पक्ष भर उन दोनों में दिन-रात युद्ध चलता रहता है। तब कहीं जरासंध का अन्त हो पाता है।

जरासंध के वध के उपरान्त श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुन के साथ स्वयं जाकर गिरिव्रज की कन्दराओं में काराबद्ध राजाओं को मुक्त करते हैं। इस प्रकार पृथिवी के बहुसंख्यक नरेश सहज ही युधिष्ठिर के कृतज्ञ हो जाते हैं। जरासंध का पुत्र सहदेव भी श्रीकृष्ण की शरण में आकर अभय की याचना करता है। भीमसेन से जूझने से पूर्व महाबली जरासंध अपने पश्चात् सहदेव के राज्याभिषेक की अनुमति देकर जाते हैं। अब स्वयं श्रीकृष्ण सहदेव को मगधराज्य के शासक पद पर अभिषिक्त करते हैं और उसके हाथों से अमूल्य रत्नादि की भेंट स्वीकार कर उसे अभय प्रदान करते हैं। इस प्रकार मगध नरेश सहदेव युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्थापना के प्रयास में पाण्डवों का सहयोगी बन जाता है।

दिग्विजय एवं चाक्रवर्त्य

पृथिवी के राजाओं की निष्ठा के प्रधान पात्र महाबली जरासंध के वध के पश्चात् युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्थापना का कार्य सहज गति से चलने लगता है। युधिष्ठिर के चारों भाई चार

दिशाओं में उनकी प्रधानता स्थापित करने निकल पड़ते हैं। महामति कृष्णद्वैपायन व्यास के परामर्श से अर्जुन देवसंरक्षित उत्तर दिशा में जाते हैं, भीमसेन पूर्व की ओर बढ़ते हैं, महाबली सहदेव दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हैं और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशा की यात्रा पर निकलते हैं। पाण्डव बन्धु सब दिशाओं में पृथिवी के अन्तिम छोर तक पहुँचते हैं। अर्जुन उत्तर में कश्मीर, मानसरोवर, हेमकूट आदि को लाँघकर मेरु पर्वत तक पहुँचते हैं। पूर्व में भीमसेन समुद्र तट तक पहुँचते हैं और उसके आगे समुद्र पार के द्वीपों तक हो आते हैं। दक्षिण दिशा में सहदेव समुद्र तट तक पहुँच वहाँ से घटोत्कच को राजा विभीषण से युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्वीकार करवाने लङ्का भेजते हैं। नकुल भी पश्चिम दिशा के सब राजाओं की श्रद्धा स्वीकार करते हुए समुद्र तट तक पहुँचते हैं और वहाँ से आगे बढ़ समुद्र द्वीपों में रहने वाले म्लेच्छ, किरात, पह्लव, बर्बर, यवन एवं शक वीरों को अपने पराक्रम का परिचय देकर इन्द्रप्रस्थ लौटते हैं।

पाण्डव बन्धुओं की इस दिग्विजय में कतिपय राजा ही किसी प्रकार का विघ्न डालने का प्रयास करते हैं। अपने समय के अधिकतर महापराक्रमी राजा तो पाण्डव बन्धुओं के शौर्य, युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा और उन सब के प्रति श्रीकृष्ण के अत्यन्त मैत्रीभाव का वृत्तान्त सुनकर ही युधिष्ठिर की प्रधानता स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार लङ्काराज विभीषण, चेदिराज शिशुपाल एवं मद्रराज शल्य जैसे महान् शौर्यवान् नरेश प्रीतिपूर्वक ही युधिष्ठिर का चाक्रवर्त्य स्वीकार करते हुए पाण्डव बन्धुओं को अनेक बहुमूल्य उपहारों से सत्कृत करते हैं। जब कभी कोई महान् राजा किसी पाण्डव के साथ युद्ध के लिये उद्यत होता है, तो वह भी प्रायः पाण्डवों के विख्यात शौर्य की समुचित परीक्षा लेने के भाव से ही युद्ध में उतरता प्रतीत होता है। प्राग्ज्योतिषपुर के महापराक्रमी राजा भगदत्त पूरे आठ दिन तक अर्जुन से जूझते हैं और इस लम्बे युद्ध के पश्चात् भी अर्जुन को निष्क्लान्त देख हँसते हुए उसके बल की प्रशंसा करने लगते हैं। उत्तर में अर्जुन उनसे निवेदन करते हैं कि आप तो हमारे पितृव्य से हैं, आपको मैं आज्ञा नहीं दे सकता, आपसे प्रार्थना ही कर सकता हूँ कि आप प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार करते हुए उनके राजसूय यज्ञ के लिये उपयुक्त भेंट-उपहार दीजिये। ऐसे ही किष्किन्धा के वानरराज मैन्द एवं द्विविद सात दिन तक बिना झुके सहदेव के साथ जूझने के पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नता से उसे अमूल्य भेंट-उपहार प्रदान करते हुए युधिष्ठिर के कार्य की निर्विघ्न समाप्ति की कामना करते हैं।

इस प्रकार अधिकतर युद्ध बिना जय-पराजय का निर्णय हुए ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु जब कहीं पाण्डव बन्धु किसी राजा को अपने पराक्रम एवं सैनिक बल से निर्णायक पराजय की स्थिति में पहुँचा देते हैं तब भी वे उसी परास्त राजा को ही पुनः अपने राज्य पर अभिषिक्त करके लौटते हैं। शकों, हूणों, बर्बरों, पह्लवों और यवनों जैसी म्लेच्छ जातियों पर विजय पाने के

पश्चात् भी दिग्विजय पर निकले पाण्डव बन्धु उन्हीं म्लेच्छों को उनके राज्य का उत्तरदायित्व सँभाल आते हैं।

भारतीय परम्परा में सभी जनों का यह सहज अधिकार माना गया है कि वे अपने ही प्रतिष्ठित अग्रजनों की प्रमुखता में, अपने कुल, जाति एवं देशधर्म के अनुरूप, अपनी ही रीति-नीति से अपना स्वराज्य चलायें। स्वराज्य का यह अधिकार पराजित एवं म्लेच्छ जनों के लिये भी अक्षुण्ण बना रहता है। दिग्विजय पर निकले पाण्डवों द्वारा अपने हाथों पराजित अपने-पराये सभी राजाओं को पुनः अपने राज्य पर प्रतिष्ठित करते जाने का कर्म भारतीय राजनीतिक परम्परा की प्रायः आधारशिला सदृश मान्य स्वराज्य के सिद्धान्त का एक सुस्पष्ट उदाहरण है। पाण्डव बन्धुओं के शौर्य एवं युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार कर कोई राजा या कोई प्रजा अपने राज्य के भीतर स्वराज्य चलाने के अधिकार से वञ्चित नहीं होती। अपितु युधिष्ठिर का धर्मनिष्ठ चाक्रवर्त्य तो सभी राजाओं और प्रजाओं के स्वराज्य के अधिकार की अक्षुण्णता की प्रत्याभूति-सा ही है। किसी राजा द्वारा युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य की स्वीकृति राज्य में पधारे पाण्डव के स्वागत-सत्कार और राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये समुचित भेंट-उपहार देने मात्र से ही सम्पादित हो जाती है। पाण्डव बन्धुओं की किसी राजा से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं दिखती, चाहे वह राजा प्रीतिपूर्वक युधिष्ठिर के चाक्रवर्त्य को स्वीकार कर रहा हो और चाहे भीषण युद्ध में परास्त हो कर। भारतवर्ष की राज्य व्यवस्था में युधिष्ठिर की प्रधानता स्वीकार करवा भारतवर्ष के समस्त राजाओं के साथ परस्पर आदर-सम्मान का सम्बन्ध स्थापित करना ही पाण्डवों की दिग्विजय यात्राओं का प्राप्य है।

यज्ञारम्भ का उपक्रम

पृथिवी के राजाओं में अपनी प्रधानता स्थापित करने और भारतवर्ष की राजनीति को अपनी ओर अभिमुख करने के उपरान्त राजा युधिष्ठिर निश्चयपूर्वक राजसूय यज्ञ के आयोजन के उपक्रम में लगते हैं। अपनी दिग्विजय यात्राओं से पाण्डव अनन्त धन-सम्पदा एकत्र करके लाते हैं। इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर जैसे महान् पराक्रमी और धर्मनिष्ठ सम्राट की राजधानी में पृथिवी के विभिन्न राजा भेंट-उपहार लेकर आते ही रहते हैं। इस प्रकार जुटी धन-सम्पदा और धर्मपूर्वक होने वाली अन्य आय से युधिष्ठिर का कोष अत्यन्त समृद्ध होने लगता है। इस सम्भृत सम्पत्ति का प्रजा में पुनः प्रसार करने के लिये राजा युधिष्ठिर के लिये अब राजसूय यज्ञ का आयोजन करना अपरिहार्य-सा हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास लिखते हैं –

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ।
स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ।।[३]

धर्मपूर्वक प्राप्त होने वाली आय से उनका महान् कोष इतना समृद्ध हुआ कि कई सौ वर्षों तक उपभोग करके भी उसको क्षीण करना सम्भव नहीं था। अपने कोष एवं अन्न-वस्त्रादि के अपने भण्डारों का परिमाण जानकर राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ के आयोजन के प्रति ही अपने चित्त को केन्द्रित किया।

युधिष्ठिर के इस प्रकार यज्ञ करने का निश्चय करने के तुरन्त पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं द्वारका से विशाल सेना एवं असीम धन राशि लेकर इन्द्रप्रस्थ आ पहुँचते हैं। युधिष्ठिर उनका सप्रेम स्वागत कर उन्हें अपने यज्ञ सम्बन्धी निश्चय से अवगत कराते हैं। राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के पक्ष में श्रीकृष्ण की सम्मति पाते ही वे यज्ञ के आयोजन के लिये विस्तृत निर्देश देने लगते हैं। अब यज्ञ के लिये सब उपक्रम राजा दशरथ और श्रीराम के अश्वमेध यज्ञों के समान ही होने लगते हैं। यज्ञ के सम्पादन के लिये प्रधान ऋत्विज चुने जाते हैं, पृथिवी के सब राजाओं और उनकी समस्त प्रजाओं को सम्मानपूर्वक बुला लाने के लिये दूत भेजे जाते हैं, महान् स्थपतियों और अन्य शिल्पियों को यज्ञभूमि पर भव्य मण्डपों और अतिथियों-अभ्यागतों के लिये उपयुक्त प्रासादों एवं शय्यागृहों आदि के निर्माण में लगाया जाता है, इन सब मण्डपों, प्रासादों एवं घरों को सभी प्रकार के साधन-उपकरणों और अन्नपान की समुचित सामग्री से परिपूर्ण किया जाता है, पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ पाकशास्त्रियों को अथाह मात्रा में दुर्लभ पकवान बनाने के कार्य में लगाया जाता है। क्योंकि राजा युधिष्ठिर अभी-अभी सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर अनन्त धन-वैभव को प्राप्त हुए हैं, इसलिये उनके यज्ञ के सब उपक्रम अपेक्षाकृत अधिक उदारता एवं भव्यता से होते हैं और कौरवों और यादवों समेत पृथिवी के समस्त महापराक्रमी एवं वैभवशाली राजा उनके यज्ञ में उपस्थित होते हैं। इन सबके भोजन-शयन आदि की व्यवस्था भी उनके और राजा युधिष्ठिर के बल-वैभव के अनुरूप अत्यन्त भव्य स्तर पर की जाती है।

यज्ञारम्भ एवं अन्नदान

सब उपक्रमों के सम्पन्न होने पर यज्ञ प्रारम्भ होता है। यज्ञभूमि में अन्नदान तो बहुत पहले

[३] महाभारत *सभा* ३३.७-८, पृ.७६७।

से ही चलने लगता है और यज्ञ के सब आयोजन और सभी विधि-विधान एक भव्य अन्नदान की पृष्ठभूमि में ही होते दिखायी देते हैं। राजा युधिष्ठिर के इस यज्ञ के अन्य सभी उपक्रमों के अनुरूप उनका अन्नदान भी विशेष उदार स्तर पर होता है। महर्षि व्यास के अनुसार उस यज्ञभूमि में चारों ओर अन्न परोसते जाने की प्रेरणा और अन्न ग्रहण करने की प्रार्थना के शब्द ही सर्वदा सुनायी पड़ते हैं –

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः।[४]

अपने कोष के असीमित परिमाण के अनुरूप राजा युधिष्ठिर इस यज्ञ में अथाह रत्नादि का दान भी करते चले जाते हैं। परन्तु सुवर्ण, रजत एवं रत्नादि के इस अबाध प्रवाह के मध्य भी सभी को अन्न से तृप्त करने और सभी को हृष्ट, पुष्ट एवं तुष्ट देखने का आग्रह सर्वदा बना रहता है। इस भव्य यज्ञ में चल रहे भव्य अन्नदान का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास लिखते हैं –

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः।
इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः।
यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः॥[५]

राजा युधिष्ठिर ने उस यज्ञ में आये सब जनों की समस्त कामनाओं को पूर्णतया तृप्त किया। वह यज्ञ अन्न से परिपूर्ण था, वहाँ सब प्रकार के पकवान सदा प्रस्तुत रहते थे। वह समागम भली-भाँति भोजन किये हुए और रत्नादि के उपहारों से सम्पन्न लोगों से ही भरा हुआ था।

मन्त्र-शिक्षा में निपुण महर्षि मन्त्रोच्चारण रूपी इडा आहुतियों से और दुग्ध-घृत आदि से संयुक्त आज्य आहुतियों से होम करते हुए देवताओं को तृप्त कर रहे थे।

[४] महाभारत *सभा* ३३.५१, पृ.७७०।
[५] महाभारत *सभा* ३५.१७-१९, पृ.७७३।

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार विप्रजन भी अथाह अन्न एवं धन की दक्षिणा पाकर तृप्त हो रहे थे, और वैसे ही अन्य सभी वर्ण उस यज्ञ में प्रसन्नता एवं तृप्ति को प्राप्त हो रहे थे। उस यज्ञ में सभी सन्तुष्ट एवं तृप्त ही दिखायी देते थे।

युधिष्ठिर को अश्वमेघ यज्ञ के लिये प्रेरित करना

युधिष्ठिर का विषाद

राजसूय यज्ञ के निर्विघ्न सम्पन्न होने के उपरान्त घटनाक्रम तीव्र गति से चलने लगता है। दुर्योधन सम्राट युधिष्ठिर के ऐश्वर्य एवं वैभव के प्रति ईर्ष्यालु हो छलपूर्वक द्यूतकर्म से पाण्डवों का राज्य छीनने और उन्हें वनवास में भेजने का उपक्रम करने लगते हैं। इन विषाक्त घटनाओं का उपसंहार अन्ततः भयङ्कर महाभारत युद्ध में होता है, जिसमें पृथिवी के प्रायः समस्त क्षत्रियों का संहार हो जाता है और सम्पूर्ण पृथिवी ही मानो विनाश को प्राप्त होती है।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठिर युद्ध में हुए अपने सगे-सम्बन्धियों के भयङ्कर संहार और सर्वव्यापी विनाश का स्मरण कर गहन विषाद में डूब जाते हैं। उनके सुहृद्-स्नेहियों के लिये उनके विषाद को शान्त करना असम्भव सा दिखता है। सारे संहार एवं विनाश के लिये स्वयं अपने को दोषी मानते हुए वे महान् पुरुषार्थ से प्राप्त अपनी विजय को तिरस्कृत कर संन्यासरत होना चाहते हैं। युधिष्ठिर के परम पराक्रमी भाई अर्जुन, भीमसेन, नकुल एवं सहदेव, उनकी अत्यन्त धैर्यशीला पत्नी द्रौपदी, स्वयं श्रीकृष्ण और यहाँ तक कि कुरुवंश के पितामह और महाभारत महाकाव्य के प्रणेता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास भी युधिष्ठिर को आत्मवञ्चनात्मक अपरिग्रह के इस मार्ग से लौटाने का प्रयास करते हैं। वे पुनः पुनः उन्हें अपने विषाद को भुला स्वस्थ होकर अपने राज्य को सँभालने और पृथिवीपालन एवं यज्ञसम्पादन के क्षत्रियोचित कर्मों में रत होने की सम्मति देते हैं।

युधिष्ठिर को पुनः पुनः समझाते हुए उनके सुहृद्-स्नेही उनके मोहजनित विषाद से प्रायः क्षुब्ध से होते दिखायी देते हैं। द्रौपदी तो युधिष्ठिर की हस्तिनापुर के राजसिंहासन के प्रति विरक्ति को देख अत्यन्त दुःख एवं रोष से भर उठती हैं। धैर्यपूर्वक दीर्घ वनवास का दुःख झेलने और युद्ध में महान् पराक्रम दिखाने के पश्चात् पाण्डवों को प्राप्त विजय का तिरस्कार वे सहन नहीं करना चाहतीं। युधिष्ठिर के इस व्यवहार को समझने में वे अपने को असमर्थ पाती हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो युधिष्ठिर उन्मत्त-से हो गये हैं और जिनका ज्येष्ठ भाई उन्मत्त हो गया हो वे अनुज तो उसका अनुकरण करेंगे ही। वे अत्यन्त तीक्ष्ण शब्दों में युधिष्ठिर को सचेत करती हैं कि यदि

वे सायास अपने उन्माद से उबरकर पृथिवी का शासन नहीं सँभालते तो शीघ्र ही वे किसी अकथनीय विपत्ति में पड़ जायेंगे।

अपने भाइयों एवं द्रौपदी के इस प्रकार कठोर उपालम्भपूर्वक प्रचोदन और श्रीकृष्ण, महर्षि व्यास एवं अन्य ऋषियों-मुनियों के गहन उपदेश के उपरान्त ही युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर अभिषिक्त होना स्वीकार करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण कदाचित् अभी भी युधिष्ठिर की मनोस्थिति के प्रति पूर्णतया आश्वस्त नहीं हो पाते। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के तुरन्त पश्चात् वे उन्हें भीष्म पितामह के समीप जाकर उनसे राजधर्म की शिक्षा लेने का परामर्श देते हैं। युद्ध में शिखण्डी के निमित्त से मर्मान्तिक घायल हो भीष्म पितामह कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर लेटे हुए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को समझाते हैं कि भीष्म पितामह कुरुवंश पर चमकने वाले ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज हैं, उनके जाने से यह ज्ञानसूर्य सदा के लिये अस्त हो जायेगा। इसलिये श्रीकृष्ण चाहते हैं कि युधिष्ठिर भीष्म के देहावसान से पूर्व उनसे धर्म की समुचित शिक्षा ग्रहण करें। श्रीकृष्ण के शब्दों में–

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥[६]

युधिष्ठिर अपने चारों भाइयों और वृष्णिवीर सात्यकि को साथ लेकर एवं स्वयं श्रीकृष्ण को आगे कर भीष्म पितामह के चरणों में बैठ धर्मविषयक प्रश्न पूछने लगते हैं। गहन विषाद के कारण राजधर्म से विरक्त हुए युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से पहला प्रश्न यह है कि –

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव॥[७]

धर्मज्ञ विद्वानों का मानना है कि राजधर्म ही परम धर्म है। परन्तु मुझे तो यह महान् बोझ सा ही प्रतीत होता है। अतः राजन्! आप मुझे इस विषय में बताइये।

भीष्म युधिष्ठिर को धर्म के सब पक्षों के विषय में और विशेषतया राजधर्म के विषय में अत्यन्त विस्तार से उपदेश देते हैं। महाभारत महाकाव्य के प्रायः सम्पूर्ण शान्ति पर्व और सम्पूर्ण अनुशासन पर्व में भीष्म के इस वृहद् उपदेश का वर्णन हुआ है। भीष्म पितामह का यह धर्मविषयक

---

[६] महाभारत *शान्ति* ४६.२३, पृ.४५३१।

[७] महाभारत *शान्ति* ५६.२, पृ.४५६०।

उपदेश प्रायः सूर्य के उत्तरायण में प्रवेश करने पर्यन्त चलता है और तब वे अपने ही सङ्कल्प के अनुरूप प्राण त्याग कर वसुलोक को प्राप्त होते हैं।

अश्वमेध की प्रेरणा

भीष्म पितामह के वृहद् उपदेश के उपरान्त भी युधिष्ठिर पूर्णतया विषादमुक्त एवं स्वस्थ नहीं हो पाते। अपितु भीष्म पितामह के अवसान से वह और भी गहन शोक व अवसाद में डूबते प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में श्रीकृष्ण एवं महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास उन्हें अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर युद्धजनित पापों का प्रायश्चित्त करने की सम्मति देते हैं।

इस समय तक श्रीकृष्ण एवं महर्षि व्यास युधिष्ठिर के अन्तहीन विषाद के प्रति खिन्न से हो चुके हैं। उनकी बातों में अब तीव्रता एवं शीघ्रता का भाव दिखायी देता है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को कहते हैं कि अपने सुहृदों की मृत्यु पर अतीव शोक करने वाला व्यक्ति उन परलोकवासी सुहृद् पितरों को ही सन्ताप में डाल देता है। आगे वे युधिष्ठिर को समझाते हैं कि इस विषय में जो भी जानने योग्य है वह सब उन्हें बताया जा चुका है, मृत सुहृदों के लिये जो कर्म करने योग्य हैं, वे सब भी उन्होंने सम्पन्न कर लिये हैं। अब तो मूढ पुरुषों की वृत्ति का अनुसरण करते हुए शोक-मग्न रहने का कोई कारण नहीं बचा। अतः अब उन्हें स्वस्थ हो अतिथियों एवं शेष सब को अन्न-जल और अन्य वाञ्छित वस्तुओं से सन्तुष्ट करने के कार्य में लग जाना चाहिये, अब तो उन्हें नाना प्रकार के महान् यज्ञ कर क्षत्रियोचित रीति से देवों एवं पितरों को तृप्त करने का उपक्रम करना चाहिये। श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश है – यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः।[८]

महर्षि व्यास तो और भी स्पष्टता से युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि उनके असहज विषाद के प्रति अब वे और धैर्य नहीं रख सकते। वे युधिष्ठिर को कहते हैं कि गुरुजनों के सारे उपदेश एवं शिक्षा के उपरान्त भी उनकी बुद्धि शुद्ध हुई नहीं दिखती, वे अभी भी बालोचित अविवेक का आश्रय लेकर मोह में ही पड़े हैं। ऐसी स्थिति में गुरुजनों के और कुछ कहने का क्या लाभ? महर्षि व्यास को लगता है कि गुरुजनों का उपदेश तो युधिष्ठिर के लिये व्यर्थ प्रलाप-सा ही हो गया है। वे साग्रह युधिष्ठिर से पूछते हैं – किमाकारा वयं तात प्रलपामो मुहुर्मुहुः।[९]

परन्तु एकदा पुनः युधिष्ठिर को समझाने का प्रयास करते हुए वे कहते हैं कि उन्हें अब सब प्रकार का विलाप-प्रलाप छोड़कर महान् यज्ञों के अनुष्ठान में चित्त स्थिर करना चाहिये, क्योंकि यज्ञों के अनुष्ठान से ही सब पापों का प्रतिकार होता है। महर्षि व्यास का कहना है –

---

[८] महाभारत *आश्वमेधिक* २.३, पृ.६१००।
[९] महाभारत *आश्वमेधिक* २.१६, पृ.६१०१।

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः ।
शृणु तत्र यथापापमपकृष्येत भारत ।
तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर ।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥[१०]

भारत युधिष्ठिर! यदि अन्ततः तुम स्वयं अपने को ही युद्धजनित पाप का कारण मानते हो तो सुनो कि इस प्रकार किये गये पाप का प्रायश्चित्त कैसे किया जाता है। युधिष्ठिर! जिन पुरुषों से कोई पापकर्म बन पड़ता है वे सदा यज्ञ, तप एवं दान से ही उस पाप से मुक्ति पाते हैं।

आगे महर्षि व्यास कहते हैं कि पापमोक्षण के इन तीन उपायों में से साधन-सामर्थ्य सम्पन्न जनों के लिये यज्ञ ही श्रेष्ठ है। मानव ही नहीं, देव और दानव भी पुण्य प्राप्ति के लिये यज्ञ का ही आश्रय लेते हैं। अतः आपको भी यज्ञों में ही प्रवृत्त होना चाहिये। महर्षि व्यास युधिष्ठिर को विशेषतः अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने की सम्मति देते हुए आदेशपूर्वक कहते हैं –

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ।
यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः ।
शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥[११]

अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो। अत्यन्त दक्षिणा से परिपूर्ण विधिवत् अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन करो। ऐसा यज्ञ करो कि आने वाले सब लोग अन्न, धन एवं अनेक प्रकार के मनोवाञ्छित पदार्थ प्राप्त कर तृप्त हो जायें। ऐसा महान् यज्ञ करो जैसा कि दशरथपुत्र श्रीराम ने किया था और जैसा अश्वमेध तुम्हारे पूर्वपितामह शकुन्तला एवं दुष्यन्त के पुत्र महावीर्यवान् पृथिवीपति राजा भरत ने किया था।

राजा मरुत्त के कोष का आविष्कार

परन्तु राजा युधिष्ठिर तो अभी भी अपने शोक से निवृत्त नहीं हो पाते। वे महर्षि व्यास से पूछते हैं कि अपने सगे-सम्बन्धियों का इतना व्यापक संहार करवाने और सम्पूर्ण पृथिवी को

[१०] महाभारत *आश्वमेधिक* ३.३-४, पृ.६१०२।
[११] महाभारत *आश्वमेधिक* ३.९-१०, पृ.६१०२।

वैभवविहीन करने के पश्चात् अब उनके पास महान् अश्वमेध का आयोजन करने के लिये पर्याप्त धन-साधन भला कहाँ से आ पायेंगे?

युधिष्ठिर के इस प्रकार दीन-हीन हो प्रश्न पूछने पर महर्षि व्यास उन्हें हिमालय पर्वत पर युगों से गुप्त पड़े राजा मरुत्त के महान् कोष के बारे में बताते हैं। बहुत पहले त्रेता युग में इक्ष्वाकुवंश में महापराक्रमी धर्मज्ञ एवं चक्रवर्ती राजा मरुत्त हुए थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करने के उद्देश्य से हिमालय पर्वत के उत्तर भाग में मेरु पर्वत के समीप भव्य यज्ञशाला का निर्माण करवा वहाँ अथाह धन-सम्पत्ति का सञ्चय किया। सब उपक्रम सम्पन्न कर वे अपने कुल पुरोहित ऋषि अङ्गिरा के पुत्र बृहस्पति के पास यज्ञ करवाने का अनुरोध लेकर पहुँचे। परन्तु मरुत्त के वैभव से ईर्ष्यालु हो देवराज इन्द्र पहले ही बृहस्पति का देवपुरोहित के रूप में वरण कर उनसे मनुष्यों का यज्ञ न करवाने की प्रतिज्ञा ले चुके थे। अतः नारदमुनि के परामर्श से राजा मरुत्त ने बृहस्पति के अघोरी दिगम्बर अनुज संवर्त का अपने यज्ञ के लिये वरण किया। संवर्त के प्रभाव से राजा मरुत्त को कुबेर के कोष के समान समृद्धि प्राप्त हुई। देवराज इन्द्र ने राजा मरुत्त के यज्ञ में विघ्न डालने के अनेक प्रयास किये। परन्तु संवर्त का तेज इतना तीक्ष्ण था कि उनके आह्वान की अवहेलना करने में असमर्थ हो अन्ततः इन्द्र स्वयं राजा मरुत्त के यज्ञ में उपस्थित हुए और अन्य देवताओं के साथ हविष्य में अपना भाग ग्रहण किया। तब तो इन्द्र के आदेश से देवताओं ने ही उस यज्ञ में अत्यन्त धन-सम्पत्ति का प्रवाह आरम्भ कर दिया और देवता ही आतिथेय हो सब को अन्न परोसने लगे।

इस प्रकार राजा मरुत्त के उस यज्ञ में इतनी अधिक सम्पत्ति एकत्रित हुई कि समस्त आमन्त्रित जनों के मनोवाञ्छित मात्रा में सुवर्ण आदि ले जाने के उपरान्त भी वहाँ अथाह धन बचा रहा। राजा मरुत्त ने उस बचे हुए धन को वहीं कोषस्थान बनवाकर सञ्चित कर दिया और संवर्त की अनुमति से अपनी राजधानी लौटकर समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर शासन करने लगे।

महर्षि व्यास इस प्रकार राजा मरुत्त के कोष की कथा सुनाकर युधिष्ठिर को अपने अश्वमेध यज्ञ के सम्पादन के लिये उसी सञ्चित कोष को ले आने की सम्मति देते हैं। यह सुनकर राजा युधिष्ठिर कुछ स्वस्थ होने लगते हैं और अपने मन्त्रियों को बुलाकर अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं।

श्रीकृष्ण की चेतावनी

उधर श्रीकृष्ण भीष्म पितामह के अवसान के पश्चात् युधिष्ठिर को पुनः गहन शोक में मग्न होते देख इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि युधिष्ठिर किसी मानसिक व्याधि से पीड़ित हैं। कुछ समय पूर्व द्रौपदी भी इसी निश्चय पर पहुँची थीं। अब श्रीकृष्ण व्याधि के विषय में शास्त्रसम्मत भारतीय बोध का व्याख्यान करते हुए युधिष्ठिर को बताते हैं कि व्याधियाँ दो प्रकार की होती

हैं – मानसिक एवं शारीरिक। परन्तु ये दोनों प्रकार की व्याधियाँ परस्पर एक दूसरे का आश्रय लेकर ही जन्म लेती हैं, इनमें से किसी एक का अकेले उत्पन्न होना सम्भव नहीं। दोनों प्रकार की व्याधियाँ शारीरिक एवं मानसिक गुणों के असन्तुलन में लक्षित होती हैं। और श्रीकृष्ण का मानना है कि युधिष्ठिर निश्चय ही अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं, उनमें दुःख में दुःखी होने और सुख में सुखी होने का सहज भाव ही लुप्त हो गया है। वे तो अपनी ही किन्हीं स्मृतियों में लीन हैं और यह स्थिति मानसिक विभ्रम के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? श्रीकृष्ण के शब्दों में – स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी सुसुखस्य च। स्मर्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद् दुःखविभ्रमात्।[12]

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर की इस मनोस्थिति के विषय में अत्यन्त चिन्तित हैं। वे युधिष्ठिर को बताते हैं कि अब उनके समक्ष वैसा ही कठिन युद्ध उपस्थित है जैसा पहले उन्होंने द्रोण एवं भीष्म जैसे महारथियों के साथ लड़ा है। परन्तु अब प्रस्तुत युद्ध युधिष्ठिर को अपने ही मन में अपने ही विभ्रमों के साथ लड़ना है। इस युद्ध में कोई बन्धु-बान्धव और कोई सेवक उनकी सहायता नहीं कर पायेगा, न ही कोई अस्त्र-शस्त्र इस युद्ध में उनके काम आ पायेंगे। इस युद्ध को जीतने के लिये तो उन्हें स्वयं अपना कर्तव्यपालन करते हुए योग से अपने मन को वश में करना होगा। कुछ पहले द्रौपदी द्वारा दी गयी भयङ्कर अनिष्ट की चेतावनी को प्रायः दोहराते हुए अब श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को चेताते हैं कि यदि वे अपने मन के भीतर लड़े जाने वाले इस युद्ध में विजयी न हो पाये तो उनकी जो दशा होगी उसके विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं।

श्रीकृष्ण का मानना है कि इस महान् युद्ध में विजयी होने के लिये युधिष्ठिर को अपनी सम्पूर्ण शक्ति और अपनी समस्त कामनाएँ धर्मसम्मत किसी महान् कार्य पर केन्द्रित करनी होंगी। उनकी सम्मति है कि विविध दक्षिणाओं से परिपूर्ण महान् यज्ञों का अनुष्ठान करके ही युधिष्ठिर की सब कामनाएँ फलीभूत होंगी, यहाँ तक कि उनकी मोक्ष सम्बन्धी कामना भी इसी मार्ग से परिपूर्ण हो पायेगी। अतः श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को आदेश देते हैं –

> यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
> अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः॥[13]
>
> विधिवत् दक्षिणाओं से सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो और पर्याप्त दक्षिणाओं से परिपूर्ण अन्य विविध प्रकार के भव्य यज्ञों का सम्पादन करो।

---

[12] महाभारत *आश्वमेधिक* १२.७, पृ.६१२५।

[13] महाभारत *आश्वमेधिक* १३.२०, पृ.६१२७।

महान् राजाओं के महान् यज्ञ: महाभारत

युधिष्ठिर का रामराज्य

भीष्म पितामह की वृहद् शिक्षा, स्नेहियों-संबंधियों की सहज सान्त्वना और महर्षि व्यास, स्वयं श्रीकृष्ण और द्रौपदी की स्नेहसिक्त प्रताड़ना-प्रेरणा से अन्ततः युधिष्ठिर का चित्त कुछ शान्त होने लगता है। वे अपने शोक-विषाद से मुक्त हो अपने आप में आश्वस्त होने लगते हैं। इस प्रकार स्वस्थ हो वे श्रीकृष्ण और महर्षि व्यास के आदेशानुसार महान् यज्ञों के अनुष्ठान का उपक्रम करते हुए राजोचित कर्मों में प्रवृत्त होने लगते हैं।

युधिष्ठिर के राजकर्म में अपना चित्त अवस्थित करते ही चहुँ ओर समृद्धि का प्रसार होने लगता है और शीघ्र ही उनका राज्य भारतीय परम्परा के आदर्श एवं सभी भारतवासियों के मन में सर्वदा स्थित रामराज्य-सा दिखने लगता है। रामराज्य के अनुरूप ही उनके राज्य में कहीं क्षुधा-पिपासा का नाम तक नहीं रहता, सब स्थानों पर सुसमय सम्यक् वृष्टि होती है, पृथिवी धन-धान्य से परिपूर्ण हो कामधेनु के समान सब की सब कामनाओं की पूर्ति करने लगती है, कहीं कोई आधि-व्याधि नहीं रहती, गायें भी हृष्ट-पुष्ट हो दूध-घी की नदियाँ बहाने लगती हैं और बैल अपने बल-सौष्ठव से किसानों का मन मोह लेते हैं, सब लोग धर्मनिष्ठ हो परस्पर स्नेह एवं न्यायपूर्वक व्यवहार करते हैं, वन के जीव-जन्तु भी एक-दूसरे के प्रति कोई अनुचित कर्म नहीं करते और इस सहज समृद्धि के मध्य अनेक राजवंश पल्लवित हो पृथिवी के समस्त स्वराज्यों का संरक्षण करने लगते हैं।

महाभारत में राजा युधिष्ठिर के रामराज्य का अत्यन्त विशद वर्णन हुआ है। जनमेजय के समक्ष धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के राज्यकाल का चित्रण करते हुए महाभारत के आख्याता मुनि वैशम्पायन कहते हैं[१४]–

यथा मनुर्महाराजो रामो दाशरथिर्यथा।
तथा भरतसिंहोऽपि पालयामास मेदिनीम्।
नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा।
कलिमासन्नमाविष्टं निवास्य नृपनन्दनः।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् बभौ धर्मबलोद्धतः॥

---

[१४] महाभारत *आश्वमेधिक* १४, पृ.६१२९-३१।

युधिष्ठिर का रामराज्य

भरतवंश के सिंह राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण पृथिवी का वैसे ही पालन एवं संरक्षण करने लगे जैसा पूर्वकाल में महाराजा मनु और दशरथ पुत्र राजा श्रीराम ने किया था। उनके राज्य में कहीं कोई अधर्म नहीं होता था। सभी लोग धर्म में ही प्रवृत्त थे। नरशार्दूल जनमेजय! ऐसा प्रतीत होता था मानो कृतयुग का ही प्रादुर्भाव हो गया हो। कलि को समीप आता देख बुद्धिमान् नृपनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयों समेत धर्मबल से उद्धत-से हो गये थे।

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम्।
निरामयं जगदभूत् क्षुत्पिपासे न किञ्चन।
आधिर्नास्ति मनुष्याणां व्यसने नाभवन्मतिः॥

भगवान् पर्जन्यदेव राजा युधिष्ठिर के राज्य में उपयुक्त स्थान एवं उपयुक्त समय पर यथेष्ट वर्षा करते थे। सम्पूर्ण जगत् रोग मुक्त हो गया था। कहीं कोई किञ्चित् भी भूखा-प्यासा न रहता था। सब मनुष्य शारीरिक ही नहीं, मानसिक कष्ट से भी मुक्त हो गये थे और कभी किसी का मन किसी व्यसन में नहीं पड़ता था।

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णास्ते स्वधर्मोत्तराः शिवाः।
धर्मः सत्यप्रधानश्च सत्यं सद्विषयान्वितम्।
धर्मासनस्थः सद्भिः स स्त्रीबालातुरवृद्धकान्।
वर्णाश्रमान् पूर्वकृतान् सकलान् रक्षणोद्यतः॥

ब्राह्मणादि सभी वर्ण अपने-अपने स्वधर्म की श्रेष्ठता के प्रति निश्चित हो अपने-अपने स्वधर्म में निष्ठ थे। धर्म सत्य से नियन्त्रित था और सत्य उपयुक्त विषयों में स्थित था। धर्म में सम्यक् स्थित राजा युधिष्ठिर अपने सम्पूर्ण शिष्ट समाज को साथ लेकर स्त्रियों, बालकों, वृद्धों एवं रोगियों की रक्षा में सदा उद्यत रहते थे। इसी प्रकार वे पूर्वकाल से प्रतिष्ठित वर्णाश्रम धर्म की रक्षा का भी सदा प्रयास करते थे।

अवृत्तिवृत्तिदानाद्यैर्यज्ञार्थैर्दीपितैरपि।
आमुष्मिकं भयं नास्ति ऐहिकं कृतमेव तु।
स्वर्गलोकोपमो लोकस्तदा तस्मिन् प्रशासति।
बभूव सुखमेकाग्रं तद्विशिष्टतरं परम्॥

जीविका से रहित लोगों को जीविका दी जाती थी। यज्ञों के सम्पादन के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था थी। सब ओर समृद्धि का ही प्रसार था। समुचित यज्ञों के सम्पादन के चलते किसी के लिये परलोक का भय नहीं रह गया था और वृत्ति एवं समृद्धि से युक्त प्रजा के लिये इहलोक तो सब प्रकार से सुखद था ही। ऐसा प्रतीत होता था मानो कृतयुग ही पुनः आ गया हो। राजा युधिष्ठिर के शासन में यह लोक स्वर्ग के समान ही सुखद हो गया था। इतना ही नहीं, भूलोक का एकाग्र सुख स्वर्गलोक के सुख से कुछ विशिष्टतर ही था।

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः।
पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो न कुर्वन्ति कदाचन॥

जब राजा युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब पृथिवी की सब नारियाँ रूपवती होती थीं, सब सम्यक् वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत हुआ करती थीं और सब पतिव्रता हुआ करती थीं। वे सब शास्त्रोक्त सदाचार से सम्पन्न होती थीं और इस प्रकार अपने सहज गुणों से वे सर्वत्र स्नेह एवं प्रीति के विस्तार का स्रोत बन गयी थीं।

पुरुष पुण्य एवं शील के धनी हुआ करते थे। वे सब अपने-अपने धर्म में निष्ठ थे। अपने स्वधर्म में प्रसन्न एवं सुखी रहते हुए उनसे किञ्चित् भी पापकर्म नहीं हो पाता था।

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः।
अजिह्ममनसः शुक्लाः बभूवुः श्रमवर्जिताः॥

सब स्त्री-पुरुष सदा प्रिय वचन ही बोलते थे। उनके मन में कुटिलता का किञ्चित् भी समावेश नहीं हो पाता था। उनमें सर्वदा निष्कपट शुद्धता का भाव ही बना रहता था। अतः वे सब प्रकार के तनाव एवं श्रम से मुक्त थे।

भूषिताः कुण्डलैर्हारैः कटकैः कटिसूत्रकैः।
सुवाससः सुगन्धाढ्याः प्रायशः पृथिवीतले॥

युधिष्ठिर का रामराज्य

जब युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब भूतल के सभी स्त्री-पुरुष कुण्डल, हार, कङ्कन और करधनी से विभूषित होते थे। वे सभी सुन्दर वस्त्र पहनते थे और मनोऽनुकूल सुगन्धों को धारण किया करते थे।

सर्वे ब्रह्मविदो विप्राः सर्वत्र परिनिष्ठिताः।
वलीपलितहीनास्तु सुखिनो दीर्घजीविनः॥

समस्त विप्र ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे और वे समस्त शास्त्रों में निष्णात थे। वे सभी वली-पलित रहित हो, बाल पकने और मुख पर झुर्रियाँ पड़ने जैसी जराजनित विकृतियों से बचे रहकर, सुखमय दीर्घ जीवन जीते थे।

इच्छा न जायतेऽन्यत्र वर्णेषु च न संकरः।
मनुष्याणां महाराज मर्यादासु व्यवस्थितः॥

महाराज जनमेजय! राजा युधिष्ठिर के राज्य में किसी को किसी परायी वस्तु की कामना ही नहीं होती थी। कभी वर्णों में सङ्करता नहीं आती थी। सभी मनुष्य मर्यादा में स्थित रहते थे।

तस्मिञ्छासति राजेन्द्रे मृगव्यालसरीसृपाः।
अन्योन्यमपि चान्येषु न बाधन्ते कदाचन॥

जब राजाओं में इन्द्र के समान राजा युधिष्ठिर पृथिवी पर राज्य करते थे तब मृगादि पशु, व्यालादि हिंसक जीव और सर्पादि रेंगने वाले जन्तु भी अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित रहते थे। वे न तो परस्पर एक-दूसरे को कोई बाधा पहुँचाते थे, न किसी अन्य को ही किसी प्रकार का कष्ट देते थे।

गावः सुक्षीरभूयिष्ठाः सुवालधिमुखोदराः।
अपीडिताः कर्षकाद्यैर्हतव्याधितवत्सकाः॥

गायें सभी हृष्ट-पुष्ट थीं, उनके मुख, उदर और पूँछ सुन्दर सुगठित हुआ करती थीं। वे पुष्टिकर दूध से परिपूर्ण रहती थीं। कृषक कभी उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, और वे सदा सुन्दर स्वस्थ बछड़ों से संयुक्त रहती थीं।

अवन्ध्यकाला मनुजाः पुरुषार्थेषु च क्रमात् ।
विषयेष्वनिषिद्धेषु वेदशास्त्रेषु चोद्यताः ।।

लोग अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाते थे। वे क्रमपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी चारों पुरुषार्थों के सम्पादन में प्रवृत्त रहते थे। वे सर्वदा वेद-शास्त्रों के अध्ययन में उद्यत रहते थे और शास्त्र में जिनका निषेध नहीं हुआ, ऐसे धर्मसम्मत विषयों के सेवन में अनुरक्त रहते थे।

सुवृत्ता वृषभाः पुष्टाः सुस्वभावाः सुखोदयाः ।।

राजा युधिष्ठिर के शासनकाल में बैल हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ हुआ करते थे। उनकी चाल-ढाल उत्कृष्ट हुआ करती थी और उनका स्वभाव मनमोहक था। इस प्रकार वे कृषकों के लिये सुख के निमित्त बने हुए थे।

अतीव मधुरः शब्दः स्पर्शश्चातिसुखं रसम् ।
रूपं दृष्टिक्षमं रम्यं मनोज्ञं गन्धवद् बभौ ।।

राजा युधिष्ठिर के शासनकाल में इन्द्रियों के पाँचों विषय अत्यन्त सुखकर हो गये थे। शब्द एवं स्पर्श अतीव मधुर हुआ करते थे, सब प्रकार के रस सुखद हुआ करते थे, रूप नेत्रों को शान्ति पहुँचाता था एवं मन को रम्य प्रतीत होता था, और गन्ध चित्त को प्रसन्न करने वाली हुआ करती थी।

धर्मार्थकामसंयुक्तं मोक्षाभ्युदयसाधनम् ।
प्रह्लादजननं पुण्यं सम्बभूवाथ मानसम् ।।

मन पुण्य एवं आनन्द में स्थित हो सम्यक् रीति से धर्म, अर्थ एवं काम में प्रवृत्त होता था। इस प्रकार राजा युधिष्ठिर के राज्य में मन सब के लिये इस लोक में अभ्युदय और इस लोक के उपरान्त मोक्षप्राप्ति का हेतु बन गया था।

स्थावरा बहुपुष्पाढ्याः फलच्छायावहास्तथा ।
सुस्पर्शा विषहीनाश्च सुपत्रत्वक्प्ररोहिणः ।।

वृक्ष फूलों से ढके हुए थे और बहुत से फल एवं घनी छाया प्रदान करते थे। उनका स्पर्श सुखद था। उनमें किसी प्रकार का कोई विष नहीं पाया जाता था। सुन्दर पत्तों एवं छाल से युक्त उन वृक्षों में से सुन्दर-स्वस्थ अङ्कुर फूटा करते थे।

युधिष्ठिर का रामराज्य

मनोऽनुकूलाः सर्वेषां चेष्टा भूस्तापवर्जिता।
यथा बभूव राजर्षिस्तद्वृत्तमभवद् भुवि ॥

समस्त जनों की सभी चेष्टायें सर्वदा मनोऽनुकूल ही होती थीं। सम्पूर्ण पृथिवी सब प्रकार के ताप से मुक्त थी। वस्तुतः राजाओं में ऋषिवत् राजा युधिष्ठिर की धार्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप ही समस्त भूलोक धर्म में प्रवृत्त हो गया था।

सर्वलक्षणसम्पन्नाः पाण्डवा धर्मचारिणः।
ज्येष्ठानुवर्तिनः सर्वे बभूवुः प्रियदर्शनाः ॥

अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा का अनुसरण करते हुए सब पाण्डव समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न और सर्वदा धर्म में निष्ठ हो समस्त प्रजा के लिये प्रसन्नता के हेतु बन गये थे। उनके दर्शन सबको प्रिय थे।

सिंहोरस्का जितक्रोधास्तेजोबलसमन्विताः।
आजानुबाहवः सर्वे दानशीला जितेन्द्रियाः ॥

सब पाण्डव भाइयों की छाती सिंह के समान विशाल थी, उनकी भुजायें घुटनों को छूती थीं और वे सब अमित तेज एवं बल से सम्पन्न थे। वे सब दानशील थे। उन्होंने क्रोध पर विजय पा रखी थी और उनकी सब इन्द्रियाँ पूर्णतया उनके वश में थीं।

तेषु शासत्सु धरणीमृतवः स्वगुणैर्बभुः।
सुखोदयाय वर्तन्ते ग्रहास्तारागणैः सह ॥

जब पाण्डव पृथिवी पर शासन करते थे तो सब ऋतुएँ अपने सहज गुणों के अनुरूप हुआ करती थीं और सभी ग्रह एवं नक्षत्र शुभ स्थानों में विचरते हुए सब के लिये सुखकारक बने रहते थे।

मही सस्यप्रबहुला सर्वरत्नगुणोदया।
कामधुग्धेनुवद् भोगान् फलति स्म सहस्रधा ॥

उस समय पृथिवी सस्यप्रबहुला हो गयी थी। उत्तम एवं प्रचुर धान्य उपजते थे। बहुमूल्य रत्न एवं सब प्रकार के शुभ पदार्थ प्रचुर मात्रा में पृथिवी से प्राप्त हुआ करते थे। कामधेनु के समान ही पृथिवी सहस्रों भोगों से फलित हो रही थी।

मन्वादिभिः कृताः पूर्वं मर्यादा मानवेषु याः ।
अनतिक्रम्य ताः सर्वाः कुलेषु समयानि च ।
अन्वशासन्त राजानो धर्मपुत्रप्रियंकराः ।।

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर को प्रसन्न करने की ओर प्रवृत्त भूमण्डल के सभी राजा विभिन्न कुलों की रीति-नीति एवं विधि-विधान और मनु आदि के समय से मनुष्यों में स्थापित मर्यादाओं का किञ्चित् भी उल्लङ्घन किये विना अपने-अपने राज्य का शासन चलाते थे ।

महाकुलानि धर्मिष्ठा वर्धयन्तो विशेषतः ।
मनुप्रणीतया कृत्या तेऽन्वशासन् वसुन्धराम् ।।

धर्म में निष्ठ हो पृथिवी के राजा विभिन्न महान् कुलों की संवृद्धि के प्रति विशेष प्रयत्नशील रहते थे और वे सब मनुप्रणीत नीति के अनुसार ही इस वसुधा का शासन चलाते थे ।

राजवृत्तिर्हि सा शश्वद् धर्मिष्ठाभून्महीतले ।
प्रायो लोकमतिस्तात राजवृत्तानुगामिनी ।।

तात जनमेजय! जब युधिष्ठिर पृथिवी पर शासन करते थे तब भूतल के समस्त राजाओं का व्यवहार सदा धर्म के अनुरूप ही होता था और जैसा कि प्रायः होता है, सब लोगों की बुद्धि राजाओं के व्यवहार का अनुसरण कर धर्म में ही स्थिर हो गयी थी ।

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गे सुरेन्द्रवत् ।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना ।।

श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं श्रीविष्णु की मैत्री के धनी एवं गाण्डीव धनुर्धारी अर्जुन के पराक्रम से संरक्षित राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार भारतवर्ष के शासन का निर्वाह किया। भारतवर्ष में राजा युधिष्ठिर का शासन निश्चय ही स्वर्ग में देवराज इन्द्र के शासन के समान ही था ।

युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ

यज्ञ का उपक्रम

राजा युधिष्ठिर जब तक हस्तिनापुर के सिंहासन पर भली भाँति प्रतिष्ठित हो अपने राज्य को रामराज्य की छवि में ढाल नहीं लेते तब तक श्रीकृष्ण वहीं रुके रहते हैं। उन दिनों वे अपने प्रिय मित्र अर्जुन के साथ चित्र-विचित्र वनों, सुरम्य पर्वत शिखरों, पवित्र तीर्थ स्थानों, सुन्दर पल्वलों और नदीतटों पर विचरण करते हुए हर्षपूर्वक समय व्यतीत करते हैं। इसी प्रकार विचरण करते हुए वे इन्द्रप्रस्थ की मयनिर्मित अत्यन्त रमणीय सभा में पहुँच जाते हैं और कुछ दिन वे दोनों मित्र वहीं निवास करते हैं।

इन्द्रप्रस्थ के सभाभवन में निवास करते हुए अर्जुन एक दिन श्रीकृष्ण से आग्रह करते हैं कि महाभारत युद्ध के समय श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में जिस ज्ञान के दर्शन उन्होंने करवाये थे, उसी ज्ञान का अब वे पुनः उपदेश करें। अपने परम प्रिय मित्र का आग्रह मान श्रीकृष्ण अनुगीता का उपदेश करते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से इस समय प्रतिपादित अनुगीता में सृष्टि के परम सत्य एवं सृष्टि में मानव के स्थान और भूमिका के विषय में उसी सनातन ज्ञान का वर्णन हुआ है जिस सनातन ज्ञान को श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं योगयुक्त होकर अद्वितीय सम्पूर्णता और विशदता से प्रतिष्ठापित करते हैं। अनुगीता का उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण पुनः पुनः सृष्टि में अन्न की प्रमुखता का व्याख्यान करने लगते हैं। वे अर्जुन को विस्तार से समझाते हैं कि कैसे जीवन अन्न पर निर्भर है और अन्न ही जीवन-मरण एवं स्वास्थ्य एवं व्याधि का मूल कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के असहज असामान्य घटनाचक्र के उपसंहार पर श्रीकृष्ण सब का ध्यान सहज सामान्य जीवन की ओर लौटा लाना चाहते हैं, और अन्न तो निश्चय ही सहज सामान्य जीवन का मुख्य तत्व है।

अर्जुन को अनुगीता का उपदेश देने और युधिष्ठिर के राज्यनिर्वाह के प्रति पूर्णतया आश्वस्त होने के उपरान्त ही श्रीकृष्ण द्वारका लौटते हैं। जाने से पूर्व वे राजा युधिष्ठिर की अनुमति लेने हस्तिनापुर पहुँचते हैं और तब युधिष्ठिर उनसे आग्रह करते हैं कि उन्हें अपनी प्रजा, अपने माता-पिता और वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवों से मिलकर शीघ्र ही उनके अश्वमेध यज्ञ में भाग लेने के लिये हस्तिनापुर लौट आना चाहिये।

श्रीकृष्ण के प्रस्थान के पश्चात् महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास हस्तिनापुर आकर अभिमन्यु के विरह में अत्यन्त सन्तप्त उत्तरा को सान्त्वना देते हुए उसे महातेजस्वी पुत्र की प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। तभी वे युधिष्ठिर को अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के लिये सभी उपक्रम करने की आज्ञा

भी देते हैं। महर्षि व्यास का आदेश पाकर युधिष्ठिर अपने बन्धुओं समेत राजा मरुत्त का गुप्त कोष लाने के लिये हिमालय की यात्रा पर निकल पड़ते हैं।

पाण्डवों के अपनी यात्रा सम्पन्न कर लौटने से पूर्व ही श्रीकृष्ण द्वारका से हस्तिनापुर आ पधारते हैं। वहाँ पहुँच वे उत्तरा के मृत बालक और कुरुवंश के एकमात्र उत्तराधिकारी को जीवनदान देते हैं, और क्योंकि वह कुरुवंश के परिक्षीण होने पर उत्पन्न होता है इसलिये उसे 'परिक्षित्' नाम देते हैं। इस बीच पाण्डव भी राजा मरुत्त के अथाह कोष को प्राप्त कर हस्तिनापुर लौट आते हैं, और तब अश्वमेध यज्ञ का आयोजन समुचित तत्परता के साथ प्रारम्भ होता है।

युधिष्ठिर स्वयं महर्षि व्यास का यज्ञ के प्रधान ऋत्विज के रूप में वरण करते हैं। महर्षि व्यास युधिष्ठिर का आग्रह स्वीकार कर महर्षि पैल और याज्ञवल्क्य के सहयोग से युधिष्ठिर का यज्ञ सम्पन्न करवाने का उत्तरदायित्व लेते हैं। महर्षि व्यास की सम्मति से युधिष्ठिर अर्जुन को यज्ञ के अश्व की रक्षा के कार्य में, भीमसेन एवं नकुल को यज्ञ की अवधि में राजधानी के संरक्षण में और सहदेव को राजपरिवार के संरक्षण एवं पालन में नियुक्त करते हैं। इस प्रकार सब को उपयुक्त कार्यभार सौंपने के साथ ही सब प्रकार की आवश्यक सामग्री जुटाने और यज्ञ सम्बन्धी अन्य सब व्यवस्थायें करने का कार्य भी चलने लगता है।

चाक्रवर्त्य की पुनःस्थापना

सब प्रबन्ध सम्पन्न होने के उपरान्त चैत्र की पूर्णिमा के दिन महर्षि व्यास अन्य महान् ऋत्विजों को साथ लेकर राजा युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा देते हैं। महर्षि व्यास स्वयं ही तब यज्ञ के अश्व को भूमण्डल पर भ्रमण के लिये विधिपूर्वक मुक्त करते हैं। युधिष्ठिर के आदेश से अर्जुन अपने अद्भुत गाण्डीव धनुष पर टङ्कार करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उस अश्व का अनुसरण करते हैं।

अर्जुन को इस कार्य पर नियुक्त करते हुए युधिष्ठिर उन्हें साग्रह समझाते हैं कि इस यात्रा के समय अपने सामने पड़ने वाले राजाओं के साथ युद्ध से बचने का उन्हें भरसक यत्न करना चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो प्रीति एवं विनयपूर्वक ही पृथिवी के सब राजाओं को यज्ञ में भाग लेने के लिये हस्तिनापुर आने का आमन्त्रण दे आना चाहिये। इस विषय में सतर्क होते हुए भी अर्जुन को इस यात्रा में अनेक युद्ध लड़ने पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध में मारे गये शूरवीर क्षत्रियों के उत्तराधिकारी सहजता से पाण्डवों की प्रधानता स्वीकार करने की मनोस्थिति में नहीं हैं। जिन किरात, यवन, शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियों को पूर्वकाल में युधिष्ठिर ने अपने चाक्रवर्त्य के अधीन किया था, वे भी अब महाभारत युद्ध के महासंहार के पश्चात् अपनी

किसी स्वच्छन्द दिशा में जाने के लिये अधीर हो रही हैं। अतः सम्पूर्ण भूमण्डल की अपनी इस यात्रा में अर्जुन को इतनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं कि महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास उनकी गणना करने में भी अपने को असमर्थ पाते हैं। महाकाव्य में महर्षि व्यास केवल उन्हीं युद्धों का वर्णन करते हैं जो दोनों पक्षों के योद्धाओं के लिये विशेष कष्टसाध्य बन पाये थे।

महर्षि व्यास जिन गिने-चुने युद्धों का वर्णन करते हैं. उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो महाभारत युद्ध में मारे गये प्रत्येक महान् राजा के पुत्रों एवं वंशजों के साथ अर्जुन को अब पुनः भयङ्कर युद्ध में जूझना पड़ा हो। कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे उनके महारथी वंशजों, सूर्यवर्मन्, केतुवर्मन् एवं धृतवर्मन् के साथ अर्जुन को पृथक्-पृथक् युद्ध करना पड़ता है। प्राग्ज्योतिषपुर में महाभारत युद्ध में खेत रहे महाबली राजा भगदत्त के पुत्र वज्रदत्त अब अर्जुन के साथ भीषण युद्ध लड़ते हैं। सिन्धुदेश में महारथी जयद्रथ के वंशज सिन्धुवीर अत्यन्त अमर्ष में भरकर अर्जुन से लोहा लेते हैं। मगधदेश में जरासंध के पौत्र मेघसन्धि अर्जुन का सामना करने निकलते है। इसी प्रकार गान्धारराज शकुनि के पुत्र और निषादराज एकलव्य के पुत्र के साथ भी अर्जुन को डटकर लड़ाई लड़नी पड़ती है।

इन सब युद्धों में अर्जुन को अपने सम्पूर्ण बल, शौर्य एवं पराक्रम का आश्रय लेना पड़ता है। महाभारत युद्ध में मारे गये वीर राजाओं के वंशज जीवन-मरण का मोह छोड़कर ही जैसे अर्जुन का सामना करने निकले हों। इस यात्रा में जो युद्ध अर्जुन को लड़ने पड़ते हैं उनके समक्ष युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ की दिग्विजय यात्रा के समय लड़े गये युद्ध तो मैत्रीपूर्ण द्वन्द्व-से ही दिखते हैं। युधिष्ठिर के आदेश से बन्धे अर्जुन अत्यन्त कठिनाई से ही यह सुनिश्चित कर पाते हैं कि महाभारत युद्ध में मारे गये महाराजाओं का कोई पुत्र अथवा वंशज अब इन भीषण युद्धों में मारा न जाये। अनेक अवसरों पर तो प्रतिद्वन्द्वी राजकुल की स्त्रियों के स्वयं युद्धभूमि में पहुँचकर अर्जुन और अपने वंश के पुरुषों के बीच मध्यस्थता करने से ही युद्ध किसी महासंहार के हुए बिना रुक पाता है। अपने राजकुल के समूल नाश के भय से चिन्तित अनेक महान् राजकुलों की स्त्रियाँ इस प्रकार अपने पुरुषों से पाण्डवों का चाक्रवर्त्य स्वीकार करवाती हैं।

अर्जुन की इस कदाचित् कठिनतम यात्रा के समय लड़े गये असंख्य भीषण युद्धों में से एक में तो वे स्वयं प्रायः मारे ही जाते हैं। मणिपुर की राजकुमारी चित्राङ्गदा से उत्पन्न अपने ही पुत्र मणिपुर नरेश बभ्रुवाहन को वे क्षत्रियोचित युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं, और उस प्रेरणा के परिणामस्वरुप होने वाले भीषण युद्ध में बभ्रुवाहन के तीक्ष्ण बाण से मर्मान्तक घायल हो गहन मूर्च्छा में पड़कर भूमि पर गिर पड़ते हैं। तब बभ्रुवाहन की विमाता नागकन्या उलूपी के दिव्य उपचार से ही वे पुनर्जीवित हो पाते हैं।

इतने सारे भीषण युद्धों से निकलते हुए जब वे अपनी यात्रा सम्पन्न कर हस्तिनापुर लौटते हैं तब तक उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका होता है। हस्तिनापुर में प्रवेश करने से पूर्व ही वे श्रीकृष्ण के पास एक विशेष सन्देश भेजकर उनसे निवेदन करते हैं कि वे युधिष्ठिर को यज्ञ में आने वाले सभी राजाओं के समुचित स्वागत-सत्कार की अनिवार्यता के प्रति सचेत करें। अर्जुन का आग्रह है कि सब राजाओं के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये मानो वे सब-के-सब महानों में महान् ही हों, किसी की किसी प्रकार से कोई अवमानना नहीं होनी चाहिये और सब का विधिपूर्वक सतत मान-सम्मान होना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है मानो अर्जुन को आभास हो रहा हो कि राजाओं के परस्पर द्वेष से जनित एक और नरसंहार अब पृथिवी सहन नहीं कर पायेगी। अथवा, महाभारत युद्ध के प्रायः तुरन्त पश्चात् असंख्य भीषण युद्ध लड़ने के उपरान्त कोई और महायुद्ध लड़ने का साहस कदाचित् वे अब अपने में नहीं पाते।

अर्जुन को अश्वमेध के अश्व का अनुसरण करते हुए जिस प्रकार के गम्भीर एवं भीषण युद्धों का सामना करना पड़ता है उन्हें देखकर यह स्पष्ट होने लगता है कि महर्षि व्यास, श्रीकृष्ण और द्रौपदी का युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के प्रति इतना आग्रह क्यों है और क्यों वे युधिष्ठिर के असहज शोक एवं विषाद के प्रति धैर्य खोते जाते हैं। श्रीकृष्ण एवं द्रौपदी इतनी तीक्ष्णता के साथ जिन भावी विपत्तियों के विषय में युधिष्ठिर को सचेत करते हैं उनकी गम्भीरता का कुछ आभास भी अर्जुन की इस यात्रा से होने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के समय हुए असंख्य राजाओं एवं महान् योद्धाओं के संहार और पृथिवी के व्यापक विनाश से भारतवर्ष का राजनीतिक सन्तुलन अस्थिर हो गया है। युद्ध में मारे गये राजाओं एवं अन्य योद्धाओं के उत्तराधिकारी सहजता से पाण्डवों की प्रधानता स्वीकार करने का कोई कारण नहीं देखते। वस्तुतः पाण्डव भी तो महाभारत युद्ध में से अत्यन्त क्षीण होकर ही निकले हैं। ऐसे में भारतवर्ष की राजनीति खण्डित-सी होती दिखती है। विभिन्न राजवंशों, क्षत्रियकुलों एवं अन्य अग्रजनों से संरक्षित विभिन्न स्वराज्य अपनी भिन्न-भिन्न दिशाओं में अभिमुख होते दिखते हैं। इस विकट परिस्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ के माध्यम से समस्त राजाओं, क्षत्रियों एवं अन्य अग्रजनों को अपनी ओर अभिमुख कर पुनः भारतवर्ष-भर व्यापी राजनीतिक सामञ्जस्य की स्थापना करें। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास, श्रीकृष्ण और कदाचित् द्रौपदी भी इस राजनीतिक अनिवार्यता को देख-समझ रहे हैं और सम्भवतः इसीलिये वे युधिष्ठिर को आत्मवञ्चनात्मक त्याग एवं विरक्ति के मार्ग से लौटा लाने के प्रयास में प्रायः अधीर होते चले जाते हैं। अन्ततः जब युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने का निर्णय लेते हैं तो अर्जुन जैसे महाबली योद्धा अपने सारे पराक्रम एवं शौर्य

और अपनी सम्पूर्ण शक्ति का आश्रय लेकर ही युधिष्ठिर की प्रधानता में भारतवर्ष-भर व्यापी एक नये राजनीतिक सामञ्जस्य की स्थापना कर पाते हैं।

यज्ञारम्भ एवं अन्नदान

अर्जुन जब तक यज्ञ के अश्व का अनुसरण करते हुए भूमि पर विचरण करते हैं तब हस्तिनापुर में युधिष्ठिर के आदेश से भीमसेन भव्य यज्ञभूमि का निर्माण करवाने का उद्योग करते हैं। इसी मध्य अर्जुन से यज्ञ में पहुँचने का निमन्त्रण पाकर विभिन्न राजा एक-एक कर हस्तिनापुर आने लगते हैं। उन सब के लिये यज्ञभूमि में अलौकिक शय्याओं एवं अन्नपान का प्रबन्ध किया जाता है और राजाओं के वाहनों के लिये भी धान और ईख से परिपूर्ण पृथक् घरों का प्रबन्ध होता है। धीरे-धीरे अनेक वेदवेत्ता मुनिगण और असंख्य शिष्यों के समुदायों से घिरे हुए अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण भी यज्ञ में पधारने लगते हैं। राजा युधिष्ठिर स्वयं उन सब का स्वागत-सत्कार कर उनके रहने-सोने एवं खाने-पीने का समुचित प्रबन्ध करते हैं। उसके पश्चात् तो यज्ञभूमि जम्बूद्वीप के समस्त जनपदों से आये सहस्रों जातियों के लोगों से भर जाती है। इस प्रकार अर्जुन के अपनी यात्रा से लौट आने से पहले ही यज्ञ के सब उपक्रम सम्पन्न हो जाते हैं और उनके हस्तिनापुर पहुँचते ही यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है।

यज्ञभूमि का निर्माण होने के तुरन्त पश्चात् और अर्जुन के प्रत्यावर्तन से कहीं पूर्व वहाँ एक भव्य एवं निर्बाध अन्नदान प्रारम्भ होता है। अन्नदान के प्रारम्भ होते ही इस यज्ञ के अनुष्ठान से पूर्व के समस्त दुःसह प्रयास प्रायः भुला दिये जाते हैं, यज्ञ का राजनीतिक प्रसङ्ग भी गौण हो जाता है और भारतीय श्रौत-स्मार्त परम्परा के इस कदाचित् महत्तम यज्ञ के केन्द्र पर एक भव्य अन्नदान का अनन्त प्रवाह ही दिखायी देने लगता है। इस अद्वितीय यज्ञ के दृश्य का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास पुनः पुनः वहाँ चल रहे निर्बाध अन्नदान का ही वृत्तान्त कहने लगते हैं। महर्षि व्यास के शब्दों में महाराजा युधिष्ठिर के उस भव्य यज्ञ की यज्ञभूमि का दृश्य कुछ इस प्रकार दिखायी देता था –

एवं प्रमुदितः सर्वं पशुगोधनधान्यतः।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः।
ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत्।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम्।
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत।

विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते।
एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान्।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ॥[१८]

पशु, गो, धन एवं धान्य से परिपूर्ण और सब प्रकार से प्रमुदित उस यज्ञभूमि को देखकर वहाँ आये सभी नरेश आश्चर्यचकित रह गये।

ब्राह्मणों एवं वैश्यों के लिये वहाँ अत्यन्त स्वादिष्ट अन्न प्रस्तुत था। शतसहस्र विप्रों के भोजन कर लेने पर यज्ञभूमि में दुन्दुभिनाद किया जाता था और इस प्रकार दुन्दुभि के पुनः पुनः बजाये जाने से वहाँ मेघगर्जना के समान शब्द हो रहा था। जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे दुन्दुभि का बजना इतना बढ़ता गया कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उस यज्ञभूमि में निरन्तर दुन्दुभिनाद हो रहा हो।

राजा जनमेजय! धीमान् राजा युधिष्ठिर का वह यज्ञ इस रीति से चल रहा था। वहाँ अन्न के पर्वतों-से महान् ढेर दिखायी देते थे, दही की कुल्यायें बह रही थीं और घी के ताल भरे हुए थे।

राजा युधिष्ठिर के उस यज्ञ में अनेक देशों के लोग आये हुए थे। राजन् जनमेजय! ऐसा प्रतीत होता था मानो विभिन्न जनपदों से युक्त सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ही राजा युधिष्ठिर के उस महायज्ञ में आ जुटा हो।

राजा युधिष्ठिर की इस भव्य यज्ञभूमि और वहाँ चल रहे इस अथाह अन्नदान का प्रबन्ध सीधे भीमसेन के हाथों में था। भीमसेन तो स्वयं अपने समय के श्रेष्ठतम पाकविद् थे। इस विधा में उनकी ख्याति दिव्य पाकविद् नल के ही समान है। राजा युधिष्ठिर का आदेश था कि ऐसे ख्याति-प्राप्त भीमसेन स्वयं ही निरन्तर अन्नदान की व्यवस्था देखें। जहाँ भीमसेन अन्न परोस रहे हों वहाँ किसी का अतृप्त रह जाना तो सम्भव ही नहीं हो सकता था। उस यज्ञ में सर्वत्र व्याप्त सन्तुष्टि का वर्णन करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं –

[१८] महाभारत *आश्वमेधिक* ८५.३५-४०, पृ.६२८३।

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः।
भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात्॥[१६]

उस यज्ञभूमि में कोई भी दीन-दरिद्र नहीं रह गया था, कोई भूखा नहीं था, कोई किसी प्रकार के दुःख से दुःखित नहीं था। वास्तव में उस यज्ञ में पहुँचकर कोई मानव मात्र प्राकृत, मात्र सामान्य जन-सा नहीं रह गया था। वहाँ सभी विशिष्ट जन ही हो गये थे। उस यज्ञभूमि में शत्रुदमन महातेजस्वी भीमसेन स्वयं, राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से सभी भोजनार्थियों को भोजन करवाने के कार्य में सतत तत्पर रहते थे।

भोजनार्थियों को भोजन देना और सब का दुःख-दारिद्र्य एवं क्षुधा दूर कर सब को विशिष्ट जन-सा बना देना ही मानो युधिष्ठिर के इस महान् यज्ञ का प्राप्य है। यज्ञ के वर्णन का उपसंहार करते हुए महर्षि व्यास सभी देशों से आये असंख्य जनों की इस अतीव सन्तुष्टि के भाव को ही पुनः पुनः चित्रित करते हैं। यज्ञ के विधिपूर्वक सम्पन्न होने पर महर्षि व्यास कहते हैं –

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम्।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत् तदा।
दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम्।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम्।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः।
वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम्॥[१७]

वह यज्ञभूमि सुख से मत्त-प्रमत्त एवं आनन्द से प्रमुदित हो रहे लोगों से परिपूर्ण थी। युवतियाँ वहाँ अत्यन्त प्रीतिपूर्वक विचरण कर रही थीं। मृदङ्ग एवं शङ्ख आदि के नाद से यज्ञभूमि और भी मनोरम हो रही थी।

---

[१६] महाभारत *आश्वमेधिक* ८८.२३-२४, पृ.६२८९।
[१७] महाभारत *आश्वमेधिक* ८९.४२-४४, पृ.६२९३।

'दीजिये! खिलाइये! जितने की किसी की इच्छा हो, उतना देते जाइये! खिलाते जाइये!' यही शब्द वहाँ दिन-रात बिना रुके सुनायी दे रहे थे।

विभिन्न देशों से आये हुए लोग असंख्य हृष्ट-पुष्ट लोगों से आकीर्ण उस महोत्सव की चर्चा दीर्घ काल तक करते रहे।

इस प्रकार उस यज्ञ में धाराप्रवाह धन, रत्न, रस एवं अन्य सब कमनीय वस्तुओं की वर्षा कर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर पापरहित एवं कृतार्थ हो अपने पुर में प्रविष्ट हुए।



अध्याय ५

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः

तपस्वियों के यज्ञ

महाभारत के प्रायः उपसंहार पर धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर ने महान् अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस भव्य यज्ञ में दूध-दही की कुल्यायें बहती रहीं, घी के ताल भरे रहे और अनाज के पर्वतोपम ढेर लगे रहे। जम्बूद्वीप के समस्त जनपदों के असंख्य लोग और प्रायः समस्त भूपाल उस यज्ञ में महीनों पर्यन्त स्वादिष्ट भोजन और अन्य सभी मनोवाञ्छित पदार्थ पाकर अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त होते रहे और तदुपरान्त अपने-अपने नगरों एवं घरों को लौटकर वे दीर्घकाल तक उस भव्य यज्ञ की चर्चा करते रहे।

राजा युधिष्ठिर के ऐसे महान् यज्ञ की समाप्ति पर अचानक वहाँ नीली आँखों और एक पार्श्व से काञ्चनमय शरीर वाला एक दिव्यरूप नकुल आ पहुँचा। यज्ञमण्डप में आते ही उस अद्भुत नकुल ने वज्र के समान भयङ्कर गर्जना की। उस गर्जना से समस्त मृग और पक्षी त्रस्त हो उठे, और तब उस नकुल ने मनुष्यवाणी अपनाते हुए अत्यन्त धृष्टता के साथ यह घोषणा की –

> सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
> उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः॥[१]
>
> हे पृथिवी के राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ तो उञ्छवृत्ति से जीविका चलाने वाले, खेतों-हाटों में गिरे दानों को बीन-बीन कर अपना निर्वाह करने वाले, कुरुक्षेत्र निवासी उस उदार ब्राह्मण के एक प्रस्थ-भर सत्तू के दान की तुलना भी नहीं कर पाया।

उस नकुल के इस विचित्र वचन से उस यज्ञ में उपस्थित सब श्रेष्ठ जन आश्चर्य में पड़ गये

[१] महाभारत *आश्वमेधिक* ९०.७, पृ.६२९३।

और युधिष्ठिर के महान् यज्ञ की इस धृष्ट अवहेलना का कारण पूछने लगे। तब वह दिव्यरूप नकुल कुरुक्षेत्र के तपस्वी, मिताहारी एवं महान् दानी ब्राह्मण की कथा इस प्रकार सुनाने लगा।

कुरुक्षेत्र के उञ्छवृत्ति ब्राह्मण की कथा

कुछ समय पूर्व की बात है। तब धर्मज्ञ जनों से आकीर्ण धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एक ब्राह्मण रहता था। वह तपोनिष्ठ ब्राह्मण उञ्छवृत्ति से जीवन निर्वाह करता था। किसी कपोत की भाँति वह खेतों-हाटों में गिरे अनाज के दाने एक-एक कर बीनता और इस प्रकार सञ्चित अन्न से अपना और अपने कुटुम्ब का पालन करता।

उस ब्राह्मण के परिवार में उसकी पत्नी, पुत्र एवं पुत्रवधू थे। उन सब का जीवन उञ्छवृत्ति पर ही निर्भर था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे चारों तीक्ष्ण तपस्या में रत थे। उन सब का आचार-व्यवहार शुद्ध था और उन्होंने धर्म में निष्ठ हो अपनी समस्त इन्द्रियों को अपने वश में कर रखा था। उञ्छवृत्ति से अर्जित किञ्चित् अनाज का भी वे छः कालों में एक काल पर ही उपभोग करते थे, शेष पाँच काल तो वे उपवास में ही बिताते थे। जब कभी किसी कारण से छठा काल उपस्थित होने पर भोजन उपलब्ध न हो पाता तो वे अगले पाँच काल प्रतीक्षा कर पुनः छठा काल आने पर ही अन्न ग्रहण करते थे।

एकदा वहाँ भयङ्कर अकाल पड़ा। खेतों में अनाज सूख गया। सब स्थानों पर बीनने योग्य अनाज का नितान्त अभाव हो गया। उस ब्राह्मण परिवार की जीविका तो प्रत्येक भोजन काल के लिये सद्य एकत्रित अनाज से ही चलती थी। उनके पास अन्न का कोई भण्डार तो था ही नहीं। अतः खेतों-हाटों में बीनने योग्य अनाज के चुक जाने से वे सर्वथा दरिद्र हो गये। पुनः पुनः छठी भोजन वेला आती और चली जाती, परन्तु वह ब्राह्मण परिवार भूखा ही रह जाता।

इस प्रकार उनके अनेक सप्ताह बिना भोजन के ही निकल गये। अन्ततः ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष की एक तपती दोपहर में वह पूरे-का-पूरा ब्राह्मण परिवार उञ्छ ढूँढने निकल पड़ा। वे सब गर्मी और भूख, दोनों के ताप से तप रहे थे। उस स्थिति में भी वे अनाज ढूँढते रहे। परन्तु सब परिश्रम के पश्चात् भी वे उञ्छ पाने में सफल नहीं हो पाये। अन्न का एक भी दाना प्राप्त किये बिना ही वे घर लौटे। उनका वह छठा भोजन काल भी भूखे ही बीता।

अगले पाँच भोजनकाल बीतने तक वे बहुत कष्ट से अपने प्राणों की रक्षा कर पाये और पुनः छठा काल प्राप्त होने पर वे सभी पुनः उञ्छ बीनने निकल पड़े। इस बार भाग्य ने उनका साथ दिया और किसी प्रकार वे एक प्रस्थ-भर जौ का उपार्जन करने में सफल हुए। घर आकर उन्होंने

उस प्रस्थ-भर जौ को भून-फटक कर सत्तू बनाये। तब उन सबने नियमपूर्वक समस्त नित्यकर्म सम्पन्न किये और विधिपूर्वक जप होमादि सब क्रियायें करने के उपरान्त ही वे एक-एक कुडव सत्तू आपस में बाँटकर अपना चिरपरीक्षित अपितु किञ्चित् मात्र भोजन करने को उद्यत हुए।

अभी वे भोजन के लिये बैठे ही थे कि द्वार पर एक अतिथि आ उपस्थित हुआ। वे सब अनेक कालों से भूखे थे, पर द्वार पर आये अतिथि को देख उनका मन खिल उठा। उन्होंने उसका सहर्ष अभिवादन कर उसका कुशल-क्षेम पूछा और अपने ब्रह्मचर्य एवं गोत्र का परिचय देते हुए वे उसे सादर अपनी कुटी में लिवा लाये। तब परिवार के प्रमुख उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण ने अतिथि को विनयपूर्वक आसन पर बैठाकर उसे अर्घ्य एवं पाद्य प्रस्तुत किया और अपने भाग के एक कुडव सत्तू उसके सम्मुख रखते हुए सादर निवेदन किया कि न्यायपूर्वक उपार्जित ये सत्तू आपकी सेवा में अर्पित हैं, अतिथिदेव सत्तुओं को ग्रहण कर ब्राह्मण को कृतार्थ करें।

इस प्रकार सविनय निवेदन सुन और उन सत्तुओं के न्यायोचित अर्जन के प्रति आश्वस्त हो उस अतिथि ने वे एक कुडव सत्तू ग्रहण कर लिये। परन्तु इतने मात्र से उसकी भूख निवृत्त नहीं हो पायी। अतिथि को भूखा देखकर ब्राह्मण गहन चिन्ता में डूब गया। घर आये अतिथि को भूखा कैसे रखा जा सकता था? परन्तु उस तपोनिष्ठ घर में अतिथि की भूख निवृत्त करने के लिये और अन्न भी कहाँ से आता?

पति को इस प्रकार चिन्तित होता देख ब्राह्मण पत्नी ने तुरन्त अपने भाग के कुडव-भर सत्तू अतिथि को देने के लिये अपने पति के समक्ष रख दिये। परन्तु ब्राह्मण अपनी पत्नी का भाग इस प्रकार अतिथि के लिये स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं था। वह जानता था कि उसकी वृद्धा पत्नी अनेक दिनों से भूखी है। थकी-माँदी एवं क्षुधित वह निरुपाय तपस्विनी हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गयी थी और दुर्बलता से काँप रही थी। उसके भाग के सत्तू अतिथि को देने का साहस ब्राह्मण अपने में नहीं पा रहा था। तब पत्नी ने उसे स्मरण कराया कि पति-पत्नी तो एक-दूसरे के धर्म एवं अर्थ में एक समान साझी होते हैं, उनके कर्तव्य और प्राप्य एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। पत्नी के इस प्रकार आग्रह करने पर ब्राह्मण ने उसके भाग के कुडव-भर सत्तू लेकर अतिथि को अर्पित कर दिये। अतिथि ने वह भाग भी ग्रहण किया, परन्तु तब भी उसकी भूख निवृत्त नहीं हो पायी और वह ब्राह्मण पुनः चिन्ताग्रस्त हो गया।

अब पुत्र ने अपने भाग के सत्तू अतिथि को भेंट करने के लिये पिता को सौंप दिये। परन्तु ब्राह्मण अपने पुत्र के इस त्याग को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पा रहा था। उसके लिये तो पुत्र वयस्क होने पर भी बालक के समान ही था और किसी बालक को भूखा रखने की बात वह कैसे सहन कर सकता था? तब पुत्र ने आग्रहपूर्वक पिता को बताया कि पुत्र तो पुरुष के त्राण

में कारक होने से ही 'पुत्र' संज्ञा पाता है, पुत्र पिता का आत्मज है, अपना ही है। अतः अपने त्राणकारक अपने ही आत्मभूत पुत्र से अपने धर्म की रक्षा करने में कैसा दोष? पुत्र के शील एवं दम-संयम को देख पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्र के भाग के एक कुडव-भर सत्तू अतिथि को सहर्ष भेंट कर दिये। वह भाग खाकर भी आतिथि की क्षुधा शान्त नहीं हो पायी और वह ब्राह्मण पुनः गहन चिन्ता में डूब गया।

अब पुत्रवधू ने अपने भाग के सत्तू अतिथि को अर्पित करने के लिये श्वशुर के सम्मुख प्रस्तुत किए। पुत्रवधू का भाग लेने के प्रति ब्राह्मण का सङ्कोच कदाचित् सर्वाधिक विकट था। वह तो मात्र बालिका थी, नारी थी, क्षुधा से पीड़ित थी और सतत उपवास के श्रम से अत्यन्त दुर्बल हो चुकी थी। उसका भाग भला वह ब्राह्मण कैसे ले लेता? उसने पुत्रवधू को समझाया कि श्वशुर को तो सर्वदा पुत्रवधू की रक्षा ही करनी चाहिये, क्योंकि पुत्रवधू ही कुटुम्ब के सब बन्धु-बान्धवों में प्रीति का प्रवाह करती है, वही बान्धवनन्दिनी है।

इस प्रसङ्ग में ब्राह्मण का सङ्कोच अवारणीय था। परन्तु पुत्रवधू ने अत्यन्त आग्रह से श्वशुर को कहा कि घर के बड़े होने के नाते वे उसके लिये गुरुओं के भी गुरु एवं देवताओं के भी देवता समान हैं, और पुत्रवधू होने के नाते उसका शरीर, प्राण और धर्म सभी गुरुजनों की सेवा के ही अधीन हैं। अतः उन्हें उसे अपना धर्म निभाने के पुण्य से वञ्चित नहीं करना चाहिये। पुत्रवधू के इस धर्मसम्मत व्यवहार से श्वशुर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी सदाचारी सुशीला पुत्रवधू को अतिशय आशीर्वाद देते हुए उसके भाग के कुडव-भर सत्तू लेकर अतिथि को अर्पित कर दिये।

इस प्रकार उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण कुटुम्ब को अत्यन्त परिश्रम से अर्जित अपने चिरपरीक्षित अन्न का अन्तिम भाग घर आये अतिथि को अर्पित करते देख अतिथिदेव सम्पूर्ण सन्तुष्ट हुए। वास्तव में वे अतिथिदेव तो मानवविग्रह धारण किये हुए स्वयं धर्म ही थे। उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण की अतिथिधर्म में आस्था की परीक्षा लेने के लिये ही वे इस रूप में वहाँ उपस्थित हुए थे। ब्राह्मण और उसका पूरा परिवार इस परीक्षा में सफल हुआ। उन्होंने स्वयं क्षुधा से पीड़ित होते हुए भी न्यायपूर्वक प्राप्त शुद्ध अन्न अतिथि को दान कर दिया। मानवविग्रहधारी धर्म ने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए ब्राह्मण को बताया कि उसके और उसके परिवार के इस अन्नदान से उत्तम लोकों में विचरने वाले देव और गन्धर्व ही नहीं, समस्त देवर्षि, ब्रह्मर्षि और अन्य सब अग्रणीजन विस्मित हैं। उस तपोनिष्ठ ब्राह्मण परिवार का प्रस्थ-भर सत्तुओं का वह दान अनेक अश्वमेध और राजसूय यज्ञों में किये गये धन-सम्पत्ति के अथाह दान से भी ऊँचा है। वास्तव में अपने इस प्रस्थ-भर सत्तू के दान से उन्होंने अक्षय ब्रह्मलोक को जीत लिया है। मानवविग्रहधारी धर्म के शब्दों में –

न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव ।
सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः ।।[२]

स्वयं मूर्तिमान् धर्म के इस प्रकार आशीर्वाद देने पर वहाँ एक दिव्य विमान आ उपस्थित हुआ। स्वयं धर्म से ही सविनय आमन्त्रण पाकर वह उञ्छवृत्ति ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र एवं पुत्रवधू समेत उस दिव्य विमान पर आरूढ हो निर्मल ब्रह्मलोक को चला गया। मूर्तिमान् धर्म के आशीर्वाद से इस लोक में भी कुरुक्षेत्र के उस तपोनिष्ठ ब्राह्मण परिवार की कीर्ति अविचल बनी रही।

मिट्टी से सोना बनाना

कुरुक्षेत्र के तपोनिष्ठ उञ्छवृत्ति ब्राह्मण परिवार के उस महान् अन्नदान की कथा सुनाकर उस दिव्यरूप नकुल ने युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में जुड़े ब्राह्मणों एवं अन्य अग्रजनों की सभा को बताया कि उसने स्वयं वहीं पास में एक बिल के भीतर से वह अद्भुत घटना देखी थी। ब्राह्मण परिवार के ब्रह्मलोक के लिये प्रस्थान करने के उपरान्त वह अपने बिल से बाहर निकला। ब्राह्मण के हाथ से अर्पित सत्तुओं की गन्ध उसने सूँघी, वहाँ गिरे अर्घ्य जल की कीच से उसका सम्पर्क हुआ, ब्राह्मण के सम्मान में आकाश से भूतल पर बरसे दिव्य फूलों को वह रौंदता रहा और ब्राह्मण के हाथ से छूटे अवशिष्ट अन्न के दानों में उसके मन की रति हुई। इस प्रकार उस अतुलनीय अन्नदान के अन्न के साथ परोक्ष सम्पर्क मात्र से और उस ब्राह्मण की अद्भुत तपस्या के प्रताप से उस नकुल का मस्तक और उसके शरीर का एक पार्श्व सुवर्णमय हो गये।

नकुल ने वहाँ एकत्रित ब्राह्मणों एवं अन्य अत्यन्त समर्थ जनों की सभा को प्रायः चुनौती-सी देते हुए कहा कि कुरुक्षेत्र के उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण के अन्नदान का प्रभाव जिस प्रकार उसके शरीर में फलीभूत हुआ है, वह वे स्वयं अपनी आँखों से देख सकते हैं। फिर कथा को आगे बढ़ाते हुए नकुल ने बताया कि उस घटना के अनन्तर वह स्थान-स्थान पर इस आशा के साथ घूम रहा है कि सम्भवतः कहीं उसका शेष शरीर भी सुवर्णमय हो जाये। राजा युधिष्ठिर के महान् यज्ञ की ख्याति सुनकर वह बहुत विश्वास के साथ वहाँ पहुँचा था, परन्तु वहाँ उसका दूसरा पार्श्व सुवर्णमय तो नहीं हो पाया। कुरुक्षेत्र के तपोनिष्ठ ब्राह्मण के हाथ से दिये गये तुच्छ सत्तुओं को

---

[२] महाभारत *आश्वमेधिक* ९०.१०३-१०४, पृ.६३०० ।

देखने-सूँघने मात्र से उसका आधा शरीर सुवर्णमय हो गया था, राजा युधिष्ठिर के भव्य अश्वमेध यज्ञ में हुए अथाह दान में वैसा प्रताप तो नहीं देखा जा सका।

इस प्रकार अपनी घोर निराशा का वर्णन करने के पश्चात् उस दिव्यरूप नकुल ने हँसते-से हुए पुनः घोषणा की कि उसकी सम्मति से तो महात्मा युधिष्ठिर का वह भव्य यज्ञ कुरुक्षेत्र के उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण परिवार के प्रस्थ-भर सत्तुओं के दान की समानता सर्वथा नहीं कर पाया – सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा।[3]

यह घोषणा कर वह नकुल उस सभा से अदृश्य हो गया। तब वहाँ उपस्थित सब लोग भी अपने-अपने घरों को चले गये। इस प्रकार महाराजा युधिष्ठिर के उस महान् अश्वमेध यज्ञ का समापन हुआ।

महात्मा युधिष्ठिर का वह भव्य अश्वमेध यज्ञ और उसमें हुआ निर्बाध अन्नदान उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण के किञ्चित् अन्न के दान की समानता क्यों नहीं कर पाया? उस भव्य यज्ञ के प्रभाव से उस दिव्यमूर्ति नकुल का शेष शरीर सुवर्णमय क्यों नहीं हो पाया?

महान् यज्ञों का अनुष्ठान करते रहना और अन्न एवं अन्य सब प्रकार की धन-सम्पत्ति का सतत दान करते रहना तो भारतीय दृष्टि में महान् राजाओं एवं अन्य सभी समर्थ जनों का सहज कर्तव्य ही है। समाज के सञ्चित धन-धान्य एवं सब प्रकार की शक्ति के वाहक व संरक्षक होने के नाते उनका दायित्व है कि उस अन्न-धन आदि का समाज में प्रसार करते रहें। समाज के समर्थ जन होने के नाते उन्हीं को यह सुनिश्चित करना है कि समाज के सम्पूर्ण कार्य ऐसे संयोजित हों कि कहीं कोई भूखा-प्यासा या अन्यथा दरिद्र न रहे, कोषों में सञ्चित धन-धान्य महान् यज्ञों के माध्यम से पुनः समाज में प्रवाहित होता रहे और समाज में पनप रहे विभिन्न कला-कौशल और सब प्रकार की शक्ति के लिये समुचित अभिव्यक्ति के अवसर मिलते रहें। वस्तुतः समाज को भूख एवं दारिद्र्य से मुक्त रखने और प्रजा को अपने सब कार्य समुचित रीति-नीति से चलाये रखने में सक्षम बनाने के लिये सभी उपयुक्त संयोजन करने के राजाओं एवं अन्य सभी समर्थ जनों के कर्तव्य एवं दायित्व के शास्त्र को ही सर्वदा भारत में राजनीति की संज्ञा दी गयी है। अगले अध्यायों में हमें राजनीति की इस भारतीय परिभाषा को और विस्तार से देखने-समझने का अवसर मिलेगा।

परन्तु अन्न बाँटकर खाने का दायित्व तो अकेले राजाओं एवं अन्य समर्थ जनों तक सीमित नहीं है। भारत में सब से ही यह अपेक्षा की गयी है कि वे स्वयं भोजन पर बैठने से पूर्व अपने

---

[3] महाभारत *आश्वमेधिक* ९०.११५, पृ.६३०१।

आसपास के सभी जीवों की भूख का समाधान करें। भारतीय चिन्तन में यह अपेक्षा मानव जीवन के मूलभूत अनुशासन का स्थान रखती है। अगले अध्यायों में हम देखेंगे कि भारतीय श्रौत-स्मार्त साहित्य में यह मौलिक अनुशासन कैसी दृढता एवं विशदता से अभिव्यक्त हुआ है।

समाज को भूख एवं दारिद्र्य से मुक्त रखने और सर्वदा बाँटकर ही स्वयं खाने का सहज अनुशासन तो अनतिक्रमणीय है ही। परन्तु उञ्छवृत्ति ब्राह्मण की कथा इस सहज अनुशासन से भी आगे की बात कहती है। धर्म की मर्यादा राजाओं एवं समर्थ जनों के धन-धान्य बाँटते रहने और सामान्य गृहस्थों के सर्वदा बाँटकर खाने के नित्य नियम से भी गुरुतर है। धर्म की मर्यादा का पार पाने के लिये तो स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों की भूख का निवारण करना होता है। राजकोषों में सञ्चित अन्न-धन को दान कर उसे पुनः समाज में प्रवाहित करते रहना और स्वयं भोजन पर बैठने से पहले दूसरों का भाग निकालते रहना निश्चय ही धर्मसम्मत कर्म हैं। परन्तु इन कर्मों का नियमित अनुष्ठान कर मानव अपना सहज मानवीय कर्तव्य मात्र निभाता है। इस प्रकार अपना कर्तव्य करते रहना सब के लिये अनिवार्य ही है। यह सहज धर्म है। धर्म की पराकाष्ठा तो स्वयं भूखे रहकर दूसरों की भूख निवृत्त करने में, अपने भोजन का अन्तिम कौर तक दान कर देने में है। जो धर्मनिष्ठ राजा महान् यज्ञों का अनुष्ठान कर अपने कोषों में सञ्चित अन्न एवं धन-सम्पत्ति का विसर्जन करते रहते हैं, और जो पुण्यकर्मा गृहस्थ स्वयं खाने से पूर्व दूसरों की भूख निवृत्त करने का प्रयास करते हैं, वे अपना कर्तव्य निभाकर पाप से बच जाते हैं। परन्तु जो स्वयं अपने खाने के लिये कुछ शेष न रख दूसरों को भोजन करवाते हैं, वे महान् पुण्य के भागी होते हैं। धर्मनिष्ठ राजा और अनुशासित गृहस्थ अपना कर्तव्य निभाकर जगत् को अपनी मर्यादा में बाँधे रखने में सहायक होते हैं। उनके कर्मों से संसार अपनी सहज गति से चलता रहता है। अपने को भूखा रखकर दूसरों को खिलाने वालों की उपस्थिति से तो जगत् पुण्यमय हो जाता है। ऐसे तपस्वियों के कर्म से मिट्टी भी सोना हो जाती है।

कपोत दम्पती की कथा

महाभारत में अतिथि के लिये अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देने वाले एक अन्य तपोनिष्ठ गृहस्थ का वर्णन भी हुआ है। इस दूसरी कथा का आतिथेय एक शीलवान् कपोत है और अतिथि एक क्रूर व्याध, जिसने कपोत की कपोती पत्नी को ही पिञ्जरे में काराबद्ध कर रखा है। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित कपोत के आत्म उत्सर्ग की यह कथा महात्मा युधिष्ठिर के भव्य अश्वमेध यज्ञ के उपसंहार पर उस दिव्यरुप नकुल द्वारा सुनायी गयी कुरुक्षेत्र के उञ्छवृत्ति ब्राह्मण की कथा

का पूर्वाभास-सा करवाती प्रतीत होती है। वह तपस्वी ब्राह्मण भी तो कपोत की भाँति एक-एक दाना अनाज चुगकर ही अपनी जीविका का निर्वाह करता था, और इस कथा के कपोत की भाँति ही उसने अपने और अपने सम्पूर्ण परिवार के प्राणों की उपेक्षा कर घर आये अतिथि का समुचित सम्मान किया था।

कपोत दम्पती की यह कथा शान्ति पर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को सुनाते हैं। भीष्म कहते हैं कि पूर्वकाल में यह कथा भार्गव मुनि परशुराम ने राजा मुचुकुन्द को सुनाई थी। राजा मुचुकुन्द ने भार्गव मुनि से शरणागत की रक्षा करने के धर्म की महिमा जानने की इच्छा की थी। तब मुनि ने सर्वपाप प्रणाशिनी यह दिव्य कथा सुनाते हुए कहा –

एक समय की बात है। तब किसी महान् वन में एक भयङ्कर व्याध विचरा करता था। उस का शरीर काले कौवे के समान काला था और भयानक लाल-लाल आँखें थीं। भारी जाङ्घों, छोटे-छोटे पैरों, विशाल मुख और दीर्घ हनु से युक्त कृष्णवर्ण शरीर पर रक्तिम आँखें लिये वह पृथिवी पर अवतरित काल-सा ही दिखायी देता था। उसकी क्रूरता की कोई सीमा नहीं थी। प्रतिदिन वह वन में जाकर अपना जाल फैलाता और झुण्डों-के-झुण्ड पक्षियों को फाँसकर उनके मांस का व्यापार करता। यही उसका नित्य कर्म था। दीर्घ काल तक वह अपनी इस क्रूर वृत्ति का वहन करता रहा, परन्तु कभी उसे अपने अधर्म का बोध नहीं हो पाया।

एकदा जब वह पक्षियों में मृत्यु का प्रसार करने की अपनी पापवृत्ति पर आचरण करते हुए वन में विचर रहा था, तभी वहाँ सहसा भीषण झञ्झावात घिर आया। प्रचण्ड वेग से चलती आँधी से महान् वृक्ष धराशायी होने लगे। आकाश घने मेघों से आच्छादित हो गया। उस समय चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त था और बीच-बीच में कड़कती विद्युल्लेखा घटाटोप को तोड़कर आकाश को प्रभामण्डित कर जाती थी। शीघ्र ही मूसलाधार वर्षा होने लगी और एक मुहूर्त-भर में ही पृथिवी जल से परिपूर्ण हो गयी।

मूसलाधार वर्षा और सहसा व्याप्त भीषण शीत को झेलता हुआ वह व्याध प्रायः अचेत-सा हो गया। व्याकुल हृदय से वह वन में इधर-उधर भटकने लगा। उसे ऊँचे-नीचे स्थल का भी भास नहीं हो पा रहा था। भय और भूख से पीड़ित वन्य जीवों के झुण्ड उसके आसपास भागे जा रहे थे। अनेक मृग, सिंह एवं वराह ऊँची भूमि का आश्रय लेकर लेटे हुए थे। पक्षी अपने घोंसलों में जा छिपे थे। उनमें से अनेक वर्षा के वेग को झेलने में असमर्थ हो धरती पर गिरे पड़े थे।

कपोत दम्पती की कथा

वह व्याध भी वर्षा एवं शीत से मृतप्राय हो रहा था। उससे न खड़ा हुआ जा रहा था, न चला ही जा रहा था। ऐसी अवस्था में उसे धरती पर गिरी पड़ी एक कपोती दिखायी दी। शीत से विह्वल वह कपोती हिल-डुल भी नहीं सकती थी। वह व्याध स्वयं भी प्रायः वैसी ही असहाय स्थिति में था। परन्तु अपनी नित्य की क्रूर वृत्ति से बँधे हुए उस व्याध ने स्वयं अत्यन्त कठिन स्थिति में होते हुए भी उस असहाय पड़ी कपोती को उठाकर पिञ्जरे में डाल लिया। पापकर्म के अभ्यस्त उस व्याध से भीषण विपत्ति काल में भी पाप ही बन पड़ा।

तभी सहसा उस व्याध को एक बहुत बड़ा एवं सघन वृक्ष दिखायी दिया। असंख्य पक्षी फल, छाया एवं आवास पाने की आशा से जलगर्भित मेघ के समान नीलवर्ण उस वृक्ष का आश्रय लिये हुए थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो विधाता ने परोपकार के लिये ही उस साधुवत् पेड़ का सृजन किया हो। जैसे ही वह महान् पेड़ उस व्याध की दृष्टि में आया तभी मेघ छट गये और तारे चमकने लगे। सहसा तारों से भरा निर्मल आकाश ऐसे प्रकाशित होने लगा मानो कमल-पुष्पों से आच्छादित कोई विशाल सरोवर शोभायमान् हो रहा हो।

आकाश के इस प्रकार मेघों से मुक्त होने पर व्याध ने चारों दिशाओं की ओर दृष्टिपात किया। तब उसे भास हुआ कि उस गहन रात्रि में वह अपने निवास स्थान से बहुत दूर भटक गया है। वह अभी भी शीत से विह्वल हो रहा था। अतः उसने वहीं उस वृक्ष के नीचे रात्रि बिताने का निश्चय किया। फिर उसने शरणागत की रक्षा के लिये वृक्ष के देवताओं का सविनय आह्वान किया और पृथिवी पर पत्तों की शय्या बिछा एवं एक शिला पर सिर रखकर वह वहीं सो गया।

दैवयोग से उसी वृक्ष पर एक सुन्दर चितकबरा कपोत अपने सुहृद्-सम्बन्धियों सहित निवास करता था। उसकी कपोती-पत्नी सवेरे से ही दाना चुगने निकली थी। सायं पड़ने पर कपोती घर नहीं लौटी थी। रात घिरती देख वह कपोत अपनी कपोती के लिये चिन्तित होने लगा था। जब वह व्याध उस वृक्ष के नीचे पहुँचा तो कपोत अपनी प्रिय पत्नी के लिये अत्यन्त विह्वल हो विलाप कर रहा था। उसे पुनः पुनः कपोती के किञ्चित् रक्तिम नेत्रों, चितकबरे अङ्गों और मधुर स्वर का स्मरण हो रहा था। बिलख-बिलख कर वह कह रहा था कि उसकी प्रिय कपोती तो उसे खिलाये बिना कभी खाती नहीं थी, उसके सोने से पहले कभी सोती नहीं थी और उसके स्नान करने से पहले कभी स्वयं स्नान नहीं करती थी। अत्यन्त दीन स्वर में वह स्मरण कर रहा था कि कैसे वह पतिव्रता सर्वदा उसके दुःख में दुःखी और उसके सुख में सुखी दिखायी देती थी। अपनी प्राणवल्लभा कपोती के लिये इस प्रकार विलाप करते हुए वह अपने से ही पूछ रहा था कि उसकी कपोती घर न लौटी तो फिर उसके अपने जीवन का क्या प्रयोजन रहेगा? गृहिणी के बिना उसके गृह का क्या होगा? उस साध्वी, पतिव्रता, प्रियवादिनी भार्या के अभाव में उसका

गृह तो गृह नहीं रहेगा, अरण्य ही हो जायेगा। ऐसे वह कपोत अपनी प्रिय कपोती के विरह में विलाप किये जा रहा था।

वृक्ष के नीचे व्याध के पिञ्जरे में कारावद्ध कपोती ने अपने पति का यह विलाप सुना तो वह धन्य हो गयी। उसने सोचा कि पति के मुँह से अपने गुणों का ऐसा बखान सुनने से बढ़कर किसी पत्नी का और क्या सौभाग्य हो सकता है? जिसके पति उससे ऐसे सन्तुष्ट हों, उस पत्नी के लिये इस जगत् में पाने योग्य शेष क्या रह जाता है? इस प्रकार अत्यन्त कृतकृत्य हुई कपोती को अपने सब दुःख भूल गये। व्याध के पिञ्जरे में रुद्ध उस असहाय गृहिणी को किसी प्रकार अपने पति के गृहस्थधर्म की रक्षा का उपाय करने का ही बोध रह गया। उसने कपोत को सम्बोधित करते हुए कहा, 'कान्त, घर में अतिथिदेव आये हैं। इस समय आपका कर्तव्य अतिथि की आवभगत करना ही है। देखिये, यह व्याध अतिथि हमारे घर आकर भूख एवं शीत से आर्त हुआ सो रहा है। आप मेरी चिन्ता छोड़ इन शरणागत अतिथि के स्वागत-सत्कार का प्रबन्ध कीजिये।' कपोत के धर्म की रक्षा के प्रति उद्विग्न कपोती ने उसे अतिथि सेवा में अपना सर्वस्व लगा देने के लिये प्रेरित करते हुए स्मरण करवाया कि, 'द्विज कपोत! आप अब सन्तानवान् और पुत्रवान् हो चुके हैं। अतः अब तो आपको स्वदेह पर भी दया त्याग कर केवल धर्म एवं अर्थ का आश्रय ले इस व्याध अतिथि की ऐसी सेवा करनी चाहिये कि यह अन्तश्चित्त तक प्रसन्न हो जाये।'

कपोती के धर्मसम्मत वचन सुन कर कपोत अतीव प्रसन्न हुआ। हर्षातिरेक से उसकी आँखें छलछला आयीं। उसने तुरन्त विधिपूर्वक पक्षियों के शत्रु उस व्याध का पूजन किया और सविनय निवेदन करते हुए कहा, 'आपका स्वागत है। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आप मेरे इस तुच्छ घर को अपना ही घर समझिये। अब आपको किसी प्रकार का सन्ताप करने की आवश्यकता नहीं।' व्याध के सङ्कोच का निवारण करते हुए उसने श्रद्धापूर्वक उसे विश्वास दिलवाया कि घर आये शत्रु का भी समुचित आतिथ्य तो गृहस्थ को करना ही होता है, भला कोई वृक्ष अपने को ही काटने आये किसी लकड़हारे के ऊपर से अपनी छाया हटा तो नहीं लेता – छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः।[४]

व्याध ने कपोत का आतिथ्य स्वीकार करते हुए उसे कहा कि वह शीत से अत्यन्त कष्ट पा रहा है। कदाचित् शीत से बचने का कोई उपाय हो पाता! कपोत ने अतिथि की इच्छा का सम्मान करते हुए तुरन्त वहाँ सूखे पत्तों का ढेर लगा दिया और द्रुतवेग से उड़कर लोहार के घर से आग ले आया। शीघ्र ही वहाँ आग की ऊँची लपटें उठने लगीं। व्याध ने चैन से अग्नि का सेवन किया। सब अङ्गों को भली भाँति आग पर तपाने के उपरान्त उसके प्राण-में-प्राण आये, और तब उसे

[४] महाभारत *शान्ति* १४६.५, पृ.४८०७।

भूख सताने लगी। हर्ष से सिक्त होते हुए उसने कपोत से भोजन का कोई उपाय करने का आग्रह किया।

कपोत के घर पर अनाज का कोई भण्डार होने का तो प्रश्न ही नहीं था। वह तो वन का पक्षी मात्र था। नित्य चुगकर लाये गये दानों से ही उसका नित्य का भोजन होता था। उसके यहाँ सञ्चय कैसा? यह जानते हुए वह कपोत गहन चिन्ता में पड़ गया। परिस्थिति की विकटता को देख उसमें अपनी कपोत वृत्ति के प्रति संशय का भाव जागृत होने लगा। उसे लगा कि ऐसी वृत्ति भी भला कोई वृत्ति हुई जिसका निर्वाह करते हुए कोई घर आये अतिथि का समुचित स्वागत-सत्कार भी न कर सके?

परन्तु उसके भाग में जैसी भी जीविका आयी हो, वह धर्मनिष्ठ कपोत घर आये अतिथि को भूखा तो नहीं रख सकता था। अतः अपनी परिस्थिति पर किञ्चित् विचार करने के उपरान्त उसने मन-ही-मन कुछ निश्चय किया, और फिर ढेर से सूखे पत्ते इकट्ठे कर अग्नि को पुनः प्रज्वलित कर दिया। अग्नि की लपटें पर्याप्त ऊँची उठने पर वह व्याध की ओर अभिमुख हुआ और अत्यन्त विनम्रता से निवेदन करने लगा कि उसके घर में अनाज तो नहीं है, अतः अतिथिदेव उसके शरीर को ही भोजन के रूप में स्वीकार करें। ऐसा कहकर और अतिथि को सन्तुष्ट करने का सङ्कल्प ले उसने तीन बार अग्नि की प्रदक्षिणा की, और तब वह हँसते-हँसते अग्नि में प्रवेश कर गया।

कपोत के आत्म उत्सर्ग को देख वह क्रूर व्याध अन्तरात्मा तक हिल गया। उसे सहसा भान हुआ कि उससे भयङ्कर पाप बन पड़ा है, और जिस प्रकार की क्रूर पापवृत्ति उसने अपना रखी है उसके चलते तो उससे नित्य पाप ही बनता रहेगा। उस पापवृत्ति को अब और वहन करना उसे असम्भव-सा लगने लगा। कपोत ने प्रसन्नतापूर्वक आत्म उत्सर्ग कर उसके सम्मुख धर्मसम्मत आचरण का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया था। अब वह क्रूरकर्मा व्याध उसी पुण्यपथ का अनुकरण करना चाहता था। उसने तुरन्त कपोती को पिञ्जरे से मुक्त कर दिया और अपनी लाठी, शलाका, जाल और पिञ्जरा सब छोड़ तथा कठोर तप का पालन करने का सङ्कल्प ले, वह महाप्रस्थान के पथ पर निकल पड़ा।

पिञ्जरे से मुक्त हुई कपोती अपने पति के साथ बिताये सुखी जीवन का स्मरण कर कुछ काल तक दारुण विलाप करती रही और फिर पति की विरह सहने में अपने को असमर्थ पा वह उसी प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ी। इस प्रकार देह त्याग करते ही वह अपने कपोत पति के साथ जा मिली। तुरन्त दिव्य विमानों पर आरूढ असंख्य पुण्यकर्मा महात्मा कपोत-कपोती को ससम्मान स्वर्गलोक लिवाने के लिये आ पहुँचे। वे असाधारण पुण्यशील कपोत-कपोती अद्भुत विभूषणों

से अलङ्कृत और दिव्य महात्माओं से पूजित हो एक श्रेष्ठ विमान पर आरूढ हुए। अनेक दिव्य विमानों से आवृत उनका वह श्रेष्ठ विमान शीघ्र ही स्वर्गलोक जा पहुँचा और अपने सत्कर्मों से सर्वदा पूजित वे कपोत-कपोती अनन्तकाल तक आनन्दपूर्वक स्वर्गलोक में विचरते रहे।

उधर वह व्याध सब लोभ-मोह छोड़कर हिंसक पशुओं एवं कँटीली झाड़ियों से भरे एक भयङ्कर निर्जन वन में गहरे घुसता चला गया। अन्ततः उस भयङ्कर वन में उठी एक दावानल में वह भस्म हो गया। उस दावानल में जलकर उसके सब पाप भी जल गये और इस प्रकार वह क्रूरकर्मा व्याध भी पुण्यशील कपोत-कपोती की सङ्गत के प्रभाव से परम गति को प्राप्त हुआ।

उस कपोत-दम्पती ने इस प्रकार अद्भुत अतिथिसेवा कर गृहस्थाश्रम धर्म का पालन किया। धर्म के प्रति उनकी आस्था अत्यन्त गहन थी। अपनी उस आस्था का निर्वाह करते हुए वे न केवल स्वयं स्वर्गलोक को प्राप्त हुए, उन्होंने उस क्रूरकर्मा पापी व्याध को भी धर्म की ओर प्रवृत्त कर उसके लिये स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

कपोत-कपोती ने घर आये अतिथि की भूख निवृत्त करने के लिये निश्चय ही असाधारण त्याग किया। परन्तु अपने असाधारण कर्म से वे वस्तुतः गृहस्थ के सहज साधारण धर्म का निर्वाह ही कर रहे थे। घर आये अतिथि का स्वागत-सत्कार करना और सब प्रकार से उसको सन्तुष्ट करना तो गृहस्थ का सहज धर्म है ही। जैसे कि स्वयं कपोत ने उस व्याध अतिथि को बताया था –

> अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
> छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥[५]

> शत्रु भी अतिथि होकर घर आये तो उसका समुचित स्वागत-सत्कार करना ही होता है। भला कोई वृक्ष स्वयं अपने को ही काटने आये किसी के ऊपर से अपनी छाया समेट तो नहीं लेता।

आगे कपोत ने कहा था –

> शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः।
> पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः।
> पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे।
> तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥[६]

---

[५] महाभारत *शान्ति* १४६.५, पृ.४८०७।

[६] महाभारत *शान्ति* १४६.६-७, पृ.४८०७-०८।

कपोत दम्पती की कथा

शरणागत का समुचित आतिथ्य करना तो सभी के लिये अनिवार्य है, परन्तु पञ्चयज्ञ में प्रवृत्त गृहस्थ का तो यह विशेष कर्तव्य बनता है। जो गृहस्थाश्रम में स्थित होते हुए भी पञ्चयज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता उसके लिये तो न इस लोक में और न परलोक में कोई धर्मसम्मत स्थान शेष रहता है।

गृहस्थ तो एक महान् फलवान् वृक्ष के समान होता है। उसके घर पहुँच सभी अर्थियों को आतिथ्य प्राप्त होता है। घर आये अर्थियों की ही नहीं अपितु अपने आसपास के सभी भूतों की क्षुधा निवृत्त करने और स्वयं भोजन पर बैठने से पूर्व सृष्टि के समस्त भावों का भाग निकालने के गृहस्थ के नित्य अनुशासन का नाम ही पञ्चमहायज्ञ है। अगले अध्याय में हम गृहस्थाश्रम के इस अनतिक्रमणीय नित्यकर्म का किञ्चित् विस्तार से वर्णन करेंगे।

महाभारत के कपोत दम्पती और कुरुक्षेत्र निवासी कपोतवृत्ति ब्राह्मण परिवार ने असाधारण पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान किया। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उन्होंने महान् तप की साधना की। अब आगे हम साधारण गृहस्थों के साधारण परन्तु अनुशासित जीवन में नित्यप्रति किये जाने वाले साधारण पञ्चमहायज्ञों की चर्चा करेंगे।



अध्याय ६

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

अभी तक हमने राजाओं एवं तपस्वियों के महान् यज्ञों का वर्णन किया है। राजाओं और तपस्वियों की भारतीय समाज संरचना में निश्चय ही महती भूमिका है। परन्तु सामाजिक जीवन की रीढ तो सामान्य गृहस्थों से ही बनती है। वही दिन प्रतिदिन की सहज समाजचर्या का वहन करते हैं। उनके हाथों से हुए नित्यप्रति के अन्नदान से ही पृथिवी के सभी जीवों का निर्वाह होता है।

भारत में गृहस्थ के लिये प्रतिदिन भोजन ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के सब भावों के निमित्त समुचित भाग निकालने का वृहद् अनुशासन निश्चित किया गया है। श्रुति-स्मृति में वर्णित सामान्य गृहस्थ के इस नित्य यज्ञ में महान् राजाओं के यज्ञों-सी भव्यता और तपस्वियों के यज्ञों-सा प्रचण्ड तेज तो नहीं हुआ करता। परन्तु उनके किञ्चित् अन्नदान की नियमबद्ध निरन्तरता में अपनी ही एक भव्यता है, अपना ही एक तेज दिखायी देता है। परम्परागत भारतीय सामाजिक जीवन में अन्नदान का जो विशिष्ट महत्त्व है उसके मूल में सामान्य गृहस्थों के ये नित्य यज्ञ ही हैं। इन नित्य यज्ञों के कर्ता होने से ही भारतीय दृष्टि में अनुशासित गृहस्थ का स्थान समाज के अन्य सब घटकों की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है। अपने लिये निश्चित नित्य अन्नदान का अनुशासन निभाते हुए सामान्य भारतीय गृहस्थ महान् राजाओं और प्रचण्ड तपस्वियों की समानता करने के योग्य हो जाता है।

गृहस्थाश्रमः उमा शङ्कर संवाद

अनुशासित मानव जीवन के चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वोपरि कहा गया है। श्रुति एवं स्मृति में गृहस्थाश्रम की विशिष्ट महत्ता का वर्णन अनेक बार हुआ है। महाभारत के अनुशासन पर्व में एक स्थान पर भीष्म पितामह भगवती उमा एवं भगवान् शङ्कर के मध्य हुए धर्मविषयक दिव्य

संवाद का स्मरण कर युधिष्ठिर को गृहस्थाश्रम की अद्वितीय गरिमा का पाठ पढ़ाते हैं। भीष्म पितामह के मुख से वर्णित इस कथा के अनुसार एकदा स्वयं श्रीकृष्ण बारह वर्ष तक चलने वाले व्रत की दीक्षा ले भीषण तपस्या में लीन हो जाते हैं। तब एक दिन नारद, पर्वत, धौम्य, देवल, काश्यप और श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सहित अनेक दिव्य महर्षि तपस्वी श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये उनके पास आ बैठते हैं। इस प्रकार एकत्रित महर्षियों का समुचित स्वागत-सत्कार करने के उपरान्त श्रीकृष्ण उनके साथ धर्म-चर्चा करने लगते हैं। इस चर्चा के मध्य श्रीकृष्ण अपने पास बैठे महर्षियों को अपने वैष्णव तेज का किञ्चित् परिचय देते हैं और तदुपरान्त उनसे आग्रह करते हैं कि वे अपनी देखी-सुनी कोई अद्भुत घटना उन्हें सुनायें। तब महर्षियों की ओर से नारदमुनि पूर्वकाल में हिमालय पर्वत पर उमा एवं शङ्कर के बीच हुए दिव्य संवाद का आख्यान करने लगते हैं।

पूर्वकाल की उस घटना का वर्णन प्रारम्भ करते हुए नारदमुनि कहते हैं कि उस समय उमा एवं शङ्कर हिमालय पर्वत पर सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी उपस्थिति में सम्पूर्ण पर्वत क्षेत्र सुन्दर पुष्पों, प्रमुदित पक्षियों एवं दिव्य औषधियों से सम्पन्न हो अद्भुत शोभा पा रहा था। तब एक दिन गिरिराजनन्दिनी उमा हिमालय से निकलने वाली समस्त कलकलाती नदियों को अपने साथ लिये, फूलों की वर्षा करती हुई और अनेक प्रकार की सुगन्ध बिखेरती हुई भगवान् शङ्कर के पार्श्व में आ खड़ी हुईं। सहसा खेल-खेल में ही उमा ने शङ्कर के दोनों नेत्रों को अपने हाथों से ढक लिया। भगवान् शङ्कर के नेत्रों के आवृत होते ही सारा जगत् होम एवं यज्ञ से रहित हो चेतनाशून्य-सा हो गया। सर्वत्र अन्धकार छा गया। तब शीघ्र ही शङ्कर ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर सारे विश्व को अपनी उस तृतीय दृष्टि के तेज से प्रकाशित कर दिया।

परन्तु हिमालय शङ्कर के उस तीसरे नेत्र के आदित्य समान तीक्ष्ण तेज को सहन नहीं कर पाये। सारा पर्वत प्रदेश आग की लपटों से धधक उठा। साल, सरल और चन्दन के भव्य वृक्ष उस दावानल में जलकर भस्म होने लगे और भयभीत मृगों के झुण्ड भाग-भाग कर भगवान् शङ्कर के समीप शरण लेने लगे। लताएँ और औषधियाँ जलकर नष्ट हो गयीं। द्वितीय प्रलयाग्नि समान उस ज्वाला से धातुओं से भरे विशाल पर्वत शिखर ही प्रज्वलित हो उठे।

हिमालय पर्वत को इस प्रकार त्रस्त होता देख शैलसुता उमा करुणा से भर उठीं। उन्होंने तुरन्त भगवान् शङ्कर के दोनों नेत्रों को अनावृत कर दिया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख आ खड़ी हुईं। उमा के इस मृदु रूप को देख शङ्कर पुनः अपने मङ्गल रूप में स्थित हो गये। उन्होंने प्रसन्न दृष्टि से हिमालय की ओर देखा। भगवान् शङ्कर की मङ्गल दृष्टि पड़ते ही हिमालय अपने प्राकृतिक रूप में आ गये और समस्त जगत् मङ्गलमय हो उठा।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

तब उमा भगवान् शङ्कर के चरणों में बैठकर स्वयं उनके विभिन्न रूपों और धर्म के विभिन्न पक्षों के विषय में अनेक प्रश्न पूछने लगीं। दिव्य दम्पती के मध्य चल रहे इस संवाद में एक स्थान पर उमा आश्रमधर्म के प्रति जिज्ञासा प्रकट करती हैं। तब भगवान् शङ्कर उमा के लिये आश्रम धर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यही बताते हैं कि चारों आश्रमों में से गृहस्थाश्रम निश्चय ही श्रेष्ठ है – गृहस्थः प्रवरस्तेषां गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रितः।[१]

इस प्रकार गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का निर्देश करने के उपरान्त भगवान् शङ्कर चारों आश्रमों के धर्म का सङ्क्षिप्त विवेचन करते हैं। परन्तु उनका चित्त भगवती उमा को गृहस्थाश्रम की विशेषता का ज्ञान करवाने में ही रमा है। अतः कुल साढ़े छः श्लोकों में वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम धर्म का वर्णन कर वे पुनः गृहस्थाश्रम धर्म की विस्तृत व्याख्या करने लगते हैं।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि गृहस्थाश्रम धर्म का सार सभी जीवों का पालन करने, सभी के निर्वाह का उत्तरदायित्व उठाने में ही है। गृहस्थाश्रम धर्म पर आचरण करते हुए मनुष्य अन्य मनुष्यों एवं सब प्रकार के जीवों का पालन करने और विशेषतः अतिथि की सेवा करने का अवसर पाता है। इसी में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता है। जीव सृष्टि के निर्वाह का स्रोत होने से ही गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से ऊँचा उठ जाता है, इतना ऊँचा कि स्वयं भगवान् शङ्कर कह उठते हैं कि वानप्रस्थाश्रम में सम्यक् स्थित हो श्रद्धापूर्वक किये गये कठिनतम तप से भी अनुशासनपूर्वक निभाये गये गृहस्थाश्रम धर्म की सोलहवीं कला की समानता नहीं हो पाती[२] –

सम्यक् तपश्चरन्तीह श्रद्दधाना वनाश्रमे।
गृहाश्रमस्य ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

गृहस्थाश्रम के अनुशासन का विवेचन करते हुए भगवान् शङ्कर गृहस्थ के लिये अनुसरणीय व्रत-उपवास, शील, शौच और शिष्टाचार का उपदेश भी देते हैं। परन्तु गृहस्थाश्रम से होने वाले समस्त सृष्टि के जीवननिर्वाह का वर्णन वे निरन्तर करते जाते हैं। गृहस्थाश्रम के विषय में यही उनका मुख्य कथ्य है। भगवान् शङ्कर कहते हैं[३] –

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः॥

---

[१] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२२।
[२] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२३।
[३] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२४।

जैसे सभी जीव माँ के आश्रय में जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय में ही जी पाते हैं।

और आगे शङ्कर भगवान् कहते हैं –

राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रङ्गोपजीविनः।
व्यालग्रहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः।
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम्॥

राजा, पाखण्डी, रङ्गोपजीवी, सपेरे, ठग, चोर और राजपुरुष अपने निर्वाह के लिये गृहस्थ की ओर ही दृष्टि टिकाये रहते हैं। ऐसे ही सब प्रकार के विद्वान्, विचारक एवं शीलवान् जन भी गृहस्थ पर ही निर्भर करते हैं और इसी प्रकार दूर-दूर से चलकर आ रहे पाथेयरहित पथिक एवं अन्य बहुत-से लोग गृहस्थ का ही आश्रय ढूँढते हैं।

भगवान् आगे कहते हैं –

मार्जारा मूषिकाः श्वानः सूकराश्च शुकास्तथा।
कपोतका कर्कटकाः सरीसृपनिषेवणाः।
अरण्यवासिनश्चान्ये सङ्घा ये मृगपक्षिणाम्।
एवं बहुविधा देवि लोकेऽस्मिन् सचराचराः।
गृहे क्षेत्रे बिले चैव शतशोऽथ सहस्रशः।
गृहस्थेन कृतं कर्म सर्वैस्तैरिह भुज्यते॥

देवि उमा! मार्जार, मूषक, श्वान, सूकर, शुक, कपोत और कर्कटक आदि ग्राम्य जीव, विभिन्न प्रकार के सरीसृप, अरण्यवासी मृगों एवं पक्षियों के अनेक समुदाय, घरों, बिलों व खेतों में रहने वाले सैकड़ों-सहस्रों जीव और इस जगत् में उपस्थित अनन्त प्रकार के चराचर प्राणी, सब-के-सब गृहस्थ के कर्मों से अर्जित भोग्य का ही उपभोग करते हैं।

जिस गृहस्थाश्रय में किये गये कर्मों से इतनी विशाल प्राणसृष्टि का जीवन यापन होता है उसके समुचित निर्वाह का फल तो निश्चय ही महान् होगा। गृहस्थ के इस महान् फल का

प्रतिपादन करते हुए भगवान् शङ्कर भगवती उमा को बताते हैं –

> उपयुक्तं च यत् तेषां मतिमान् नानुशोचति ।
> धर्म इत्येव संकल्प्य यस्तु तस्य फलं शृणु ।
> सर्वयज्ञप्रणीतस्य हयमेधेन यत् फलम् ।
> वर्षे स द्वादशे देवि फलेनैतेन युज्यते ।।

> जो मतिमान् अन्य जीवों के उपभोग में आयी किसी वस्तु के लिये शोक नहीं करता, जो अन्य जीवों के समुचित जीवन निर्वाह को अपना धर्म मानता है, ऐसे धर्मनिष्ठ गृहस्थ को प्राप्त होने वाले फल का वर्णन सुनो । हे देवि! इस प्रकार धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम का बारह वर्ष तक निर्वाह कर मनुष्य उसी फल का भागी होता है जो अन्य सभी यज्ञों का सम्पादन करने के उपरान्त अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले यजमान को प्राप्त होता है।

गृहस्थाश्रम की ऐसी महिमा है, और सम्पूर्ण जीवसृष्टि के निर्वाह के निमित्त किये जाने वाले गृहस्थों के नित्य यज्ञों का ऐसा प्रभाव हुआ करता है। भगवती उमा के साथ सुखी गृहस्थ जीवन यापन करते हुए भगवान् शङ्कर ने स्वयं गृहस्थाश्रम की इस महिमा और उसके महान् फल की व्यवस्था कर दी है।

गृहस्थों के पञ्चमहायज्ञ

पञ्चैव महायज्ञाः

अपने आसपास की जीवसृष्टि के जीवन निर्वाह का दायित्व निभाने के गृहस्थ के नित्य अनुशासन को श्रौत-स्मार्त साहित्य में पञ्चमहायज्ञ की संज्ञा दी गयी है। सब गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे नित्यप्रति बिना किसी व्यवधान के पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान करें। वास्तव में पञ्चमहायज्ञ का कर्ता होकर ही मनुष्य गृहस्थ कहलाने का अधिकारी होता है – जो पञ्चमहायज्ञ का नित्य सम्पादन नहीं करता उसे गृहस्थ के नाम से गौरवान्वित नहीं किया जा सकता। पञ्चमहायज्ञ के माध्यम से गृहस्थ स्वयं भोजन ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के समस्त भावों के निमित्त अंश निकालते हुए मानो सम्पूर्ण देव, पितर और जीव सृष्टि के प्रति अपने दायित्व का स्मरण करता है, और अपनी पहुँच के भीतर आने वाले समस्त जीवों के भरण-पोषण की व्यवस्था करने का सङ्कल्प करता है।

पञ्चैव महायज्ञाः

भारतीय दृष्टि में पञ्चमहायज्ञ अनुशासित मानव जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। श्रौत-स्मार्त साहित्य में पञ्चमहायज्ञ का वर्णन अनेक रूपों में अनेक स्थानों पर हुआ है। सनातन वेद, चिरन्तन इतिहास एवं पुराण और सब कालों के धर्मशास्त्र एवं अन्य स्मृतिग्रन्थ पञ्चमहायज्ञ के कर्म का विस्तृत प्रतिपादन एवं विधान करते हैं।

वैदिक संहिताओं में से शतपथ ब्राह्मण में हुआ पञ्चमहायज्ञ विषयक प्रतिपादन सम्भवतः सर्वाधिक सुस्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण का प्रमाणवाक्य है –

> पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ ऽइति ॥
>
> अहरहर्भूतेभ्यो बलिꣳ हरेत्। तथैतं भूतयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहर्दद्यादोद-पात्रात्तथैतं मनुष्ययज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वधा कुर्य्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वाहा कुर्य्यादा काष्ठात्तथैतं देवयज्ञꣳ समाप्नोति ॥
>
> अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः ॥[४]
>
> पाँच ही महायज्ञ हैं। यही महासत्र भी हैं। ये पाँच हैं – भूतयज्ञ , मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ।
>
> दिन प्रति दिन भूतों के निमित्त बलि निकाली जाये। इससे भूतयज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन अन्न का पात्र रिक्त होने तक मनुष्यों को भोजन दिया जाये, इस प्रकार मनुष्ययज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन अन्न का पात्र रिक्त होने तक पितरों के निमित्त अन्नदान किया जाये, इससे पितृयज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन काष्ठ के समाप्त होने तक देवों के निमित्त होम किया जाये, इससे देवयज्ञ सम्पन्न होता है।
>
> अब ब्रह्मयज्ञ का वर्णन आरम्भ होता है। स्वाध्याय, अपने लिये निश्चित ज्ञान परम्परा के अनुरूप अनुशासित एवं श्रद्धापूर्वक अध्ययन ही, ब्रह्मयज्ञ है।

विजयनगर काल के सुविख्यात एवं श्रद्धेय वेद व्याख्याकार श्रीसायणाचार्य शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणवाक्यों पर टीका करते हुए कहते हैं कि भूतयज्ञादि को महायज्ञों की संज्ञा इसलिये दी गयी है क्योंकि इन पाँच यज्ञों का अनुष्ठान सभी को सर्वदा करना होता है – भूतयज्ञादयो

---

[४] शतपथ ११.३.८.१-३, खण्ड ४ भाग-२ पृ.१५७-८।

वक्ष्यमाणाः 'पञ्चैव महायज्ञाः' सर्वदा सर्वैरनुष्ठेयत्वात्।[५] आगे सायणाचार्य कहते हैं कि ये पाँच महायज्ञ महासत्र भी हैं क्योंकि इनका अनुष्ठान गृहस्थ को जीवन पर्यन्त प्रतिदिन स्वयं ही करना होता है, पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के लिये किसी ऋत्विज की अपेक्षा नहीं की जाती। सायणाचार्य के शब्दों में– महांति निश्चलानि सत्राणि 'महासत्राणि' यावज्जीवमनुष्ठेयत्वात् ऋत्विगनपेक्षत्वाच्च।[६] तैत्तिरीयारण्यक में भी पञ्चमहायज्ञ के विषय में नित्य अनुष्ठान के इस अनतिक्रमणीय अनुशासन का उल्लेख हुआ है। अरण्यक का वाक्य है कि पञ्चमहायज्ञ ऐसा यज्ञ है जिसे नित्य प्रारम्भ करना होता है और नित्य सम्पन्न करना होता है – सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते।[७]

शतपथ ब्राह्मण के पञ्चमहायज्ञ विषयक प्रतिपादन पर टीका करते हुए सायणाचार्य आगे कहते हैं कि भूतयज्ञ में अन्न का अंश निकालकर इस सङ्कल्प के साथ पृथक् रख दिया जाता है कि अन्न का यह अंश सृष्टि के भूतों को प्राप्त हो। देवयज्ञ में विभिन्न देवों का विधिपूर्वक आह्वान करते हुए उनके निमित्त से अग्नि में अन्न का होम किया जाता है। पितृयज्ञ में विधिपूर्वक पितरों का आह्वान करते हुए इस सङ्कल्प के साथ दान किया जाता है कि पात्र के रिक्त होने पर्यन्त किया गया यह अन्नदान पितरों को सन्तुष्टि प्रदान करे। मनुष्ययज्ञ में किसी प्रकार का आह्वान या विधि-विधान करने की आवश्यकता नहीं होती, मनुष्ययज्ञ में तो पात्र के रिक्त होने तक अन्य मनुष्यों को केवल भोजन करवाना होता है, इस सङ्कल्प के साथ कि इस संविभाजित अन्न से सम्पूर्ण मानवजाति सन्तुष्टि को प्राप्त हो।

सायणाचार्य के अनुसार ब्रह्मयज्ञ अपनी शाखा अथवा परम्परा से सम्बन्धित विद्या का विधिवत् श्रद्धा एवं अनुशासनपूर्वक अध्ययन करने से सम्पन्न होता है– स्वशाखाध्ययनं ब्रह्मयज्ञ इत्यर्थः।[८] ऐसा अनुशासित अध्ययन यज्ञ ही है, क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन से देव, पितर एवं ऋषि सभी प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होते हैं।

ऋणऽह वै जायते योऽस्ति

वेद में पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के प्रति यह जो प्रबल आग्रह दिखायी देता है वह सम्भवतः भारतीय परम्परा के इस मौलिक बोध से जुड़ा है कि मानव जीवन सृष्टि के समस्त भावों से

[५] शतपथ ११.३.८.२ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.२, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५७।

[६] शतपथ ११.३.८.१ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.१, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५७।

[७] तैत्तिरीयारण्यक २.१०, पृ.१४३।

[८] शतपथ ११.३.८.३ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.३, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५८।

अंशदान पाकर ही सम्भव होता है और इस प्रकार के सतत अंशदान से ही मानव जीवन का निर्वाह हो पाता है। हमारी यह सनातन मान्यता है कि मनुष्य सृष्टि के समस्त भावों के प्रति ऋण लेकर उत्पन्न होता है और जीने की प्रक्रिया में वह सब के प्रति ऋणी होता जाता है। इसलिये मनुष्य का यह सहज मानवीय दायित्व है कि वह प्रतिदिन सृष्टि के समस्त भावों के प्रति अपने ऋण का स्मरण करते हुए उसके आंशिक प्रत्यर्पण का प्रयास करे। पञ्चमहायज्ञ इस सहज ऋण के नित्य स्मरण एवं नित्य प्रत्यर्पण का अनुष्ठान ही है। मानव के इस सहज ऋण का प्रतिपादन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

ऋणऽ्ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान ऽएव देवेभ्य ऽऋषिभ्यः
पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ।।

स यदेव यजेत। तेन देवेभ्य ऽऋणं जायते तद्ध्येभ्य ऽएतत्करोति
यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति ।।

अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनऽर्षिभ्य ऽऋणं जायते तद्ध्येभ्य ऽएतत्करोत्यर्षीणां
निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ।।

अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्य ऽऋणं जायते तद्ध्येभ्य ऽएतत्करोति
यदेषाऽ् सन्तताव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ।।

अथ यदेव व्वासयेत। तेन मनुष्येभ्य ऽऋणं जायते तद्ध्येभ्य ऽएतत्करोति
यदेनान्व्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य ऽएतानि सर्व्वाणि करोति
स कृतकर्मा तस्य सर्व्वमाप्तऽ् सर्व्वं जितम् ।।[१]

इस जगत् में जो भी है, वह ऋण में ही उत्पन्न हुआ है। जो उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होने मात्र से देवों, ऋषियों, पितरों एवं मनुष्यों के प्रति ऋणी हो जाता है।

क्योंकि वह देवों के प्रति ऋणी है इसलिये वह यज्ञ करता है। ऋणी होने के कारण ही वह देवों के लिये ऐसा करता है। ऋण से उऋण होने हेतु ही वह देवों के लिये यज्ञ एवं होम करता है।

क्योंकि वह ऋषियों के प्रति ऋणी है इसलिये वह ऋषिवाक्यों को सुनकर उनका पुनः

[१] शतपथ १.५.५.१-५, खण्ड १ भाग १ पृ.२५०-१।

उच्चारण करता है। ऋषियों के प्रति ऋण से उऋण होने के लिये ही वह ऐसा करता है और इस प्रकार ऋषियों से प्रणीत वचनों का श्रवण एवं पुनरुच्चारण करते हुए वह ऋषियों का निधिगोप कहलाता है, ऋषियों से प्राप्त निधि का संरक्षक बन जाता है।

क्योंकि वह पितरों के प्रति ऋणी है इसलिये वह सन्तान की इच्छा करता है। पितरों के प्रति ऋणी होने के कारण ही वह ऐसा करता है। उनके ऋण से उऋण होने के लिये ही वह पितरों से चली आ रही वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए सन्तान उत्पन्न करता है।

क्योंकि वह मनुष्यों के प्रति ऋणी है इसलिये वह अतिथि का सम्मान-सत्कार करता है। मनुष्यों के प्रति ऋणी होने के कारण ही वह ऐसा करता है। मनुष्य जाति के प्रति ऋण से उऋण होने के लिये ही वह अतिथि को अन्न एवं आश्रय अर्पित करता है।

जो यह सब करता है वह अपने सब दायित्वों से उऋण हो जाता है। उसने अपने सब कार्यों का निर्वाह कर लिया है। उस कृतकर्मा के लिये सब प्राप्त है, सब उसके अधीन है।

इस प्रकार सनातन भारतीय दृष्टि में पञ्चमहायज्ञ को मानव के अपने सहज ऋण से उऋण होने के साधन के रूप में देखा गया है। पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान किसी विशेष पुण्य के अर्जन की अपेक्षा में नहीं अपितु इस जगत् में उत्पन्न होने और जीवन निर्वाह करने की प्रक्रिया में उपजे ऋण का प्रत्यर्पण करने के लिये किया जाता है। यह अनुष्ठान मनुष्य मात्र के सृष्टि के प्रति अपने दायित्व को समझने और निभाने का विशिष्ट भारतीय अनुशासन है।

मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ विधान

भारतीय परम्परा में किसी भी महत्त्वपूर्ण मानवीय दायित्व को निभाने का कार्य कदापि व्यक्ति-मात्र के विवेक पर नहीं छोड़ा जाता। वेद संहिताओं, ब्राह्मणों, अरण्यकों एवं उपनिषदों में सङ्कलित श्रुति वाक्यों को विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों के स्मृति ग्रन्थ एवं धर्मशास्त्र उस जाति अथवा सम्प्रदाय के लिये अनुसरणीय अनुशासन का रूप देते हैं। यह अनुशासन निश्चय ही सब के लिये एक-सा नहीं होता। श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित सनातन धर्म को विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों एवं समुदायों के लोग अपने-अपने ढंग से दैनिक जीवन के अनुशासन में क्रियान्वित करते हैं। जाति, सम्प्रदाय एवं समुदाय धर्म सब का पृथक्-पृथक् ही होता है और यह कदाचित्

काल के साथ परिवर्तित-परिष्कृत भी होता रहता है। परन्तु किसी भी काल में अपनी जाति, सम्प्रदाय अथवा समुदाय से जुड़े भारतीय व्यक्ति के समक्ष सर्वदा मानवीय जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उचित व्यवहार का, सम्यक् धर्म का, एक सुस्पष्ट ढाँचा तो रहता ही है। मानवीय जीवन के सब महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विवेकपूर्ण निर्णय करने के लिये, सब विषयों में सम्यक् अनुशासन का अनुसरण करने के लिये एक प्रशस्त मार्ग सभी जातियों, सम्प्रदायों एवं समुदायों के स्मृति ग्रन्थ अपने अनुयायिओं के लिये सर्वदा प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ हम पञ्चमहायज्ञ के विषय में मनुस्मृति में प्रतिपादित अनुशासन का विस्तृत विवेचन करेंगे। मनुस्मृति को सम्प्रति पारम्परिक भारतीय जीवन प्रणाली का कदाचित् सर्वाधिक प्रामाणिक स्मृतिग्रन्थ माना जाता है। वस्तुतः मनुस्मृति ब्राह्मण वर्ण का प्रमाणग्रन्थ है – इसमें प्रतिपादित अनुशासन मुख्यतः ब्राह्मणों के लिये और विशेषतः मनुस्मृति की परम्परा में आने वाले ब्राह्मणों के लिये अनुसरणीय है।

यह तो सर्वविदित है कि भौतिक जगत् के निर्वाह का दायित्व ब्राह्मणों पर सबसे न्यून है। ब्राह्मणों के लिये प्रतिग्रह स्वीकार्य है। वे अन्य वर्णों से जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न एवं अन्य भौतिक साधन ग्रहण करने के अधिकारी हैं। ब्राह्मणों का विशेष दायित्व ब्रह्मविद्या का संरक्षण एवं उसे अगली पीढ़ियों तक प्रेषित करना है। भारतीय दृष्टि में ब्रह्मविद्या का यह ज्ञान धर्म के संरक्षण के लिये,सृष्टि में सुव्यवस्थित सन्तुलन बनाये रखने के लिये, अनिवार्य है। इस अनिवार्य ज्ञान के संरक्षक एवं संवाहक होने के नाते ब्राह्मण अन्य वर्णों से जीवननिर्वाह के भौतिक साधन पाने के सहज अधिकारी हो जाते हैं। आगे हम देखेंगे कि मनुस्मृति में ऐसे प्रतिग्रह के अधिकारी ब्राह्मण वर्ण के गृहस्थों के लिये पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान का विस्तृत अनुशासन नियत किया गया है। ब्राह्मणों के लिये ही पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का अनुशासन इतना कड़ा है, तो अन्य वर्णों के लिये तो निश्चय ही यह अनुशासन और भी कठिन एवं और भी अनुल्लङ्घनीय होगा।

वास्तव में आर्ष साहित्य में यह पुनः पुनः कहा गया है कि पञ्चमहायज्ञ का नित्य अनुष्ठान सभी वर्णों के लिये करणीय है। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो विशेषतः स्पष्ट किया गया है कि शूद्र गृहस्थ को पञ्चमहायज्ञ की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्मृति में शूद्र गृहस्थ के लिये केवल इतनी छूट दी गयी है कि वह पञ्चमहायज्ञ से सम्बन्धित विभिन्न कर्मों को सङ्क्षिप्त कर केवल नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न कर ले – नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।[१०]

[१०] याज्ञवल्क्य १.१२१, पृ.५४।

महाभारत में भी भगवान् शङ्कर देवी उमा को पञ्चमहायज्ञ का महत्त्व समझाते हुए कहते हैं कि शूद्र गृहस्थ को तो विशेष रूप से अन्य तीन वर्णों को आतिथ्य प्रदान करने का प्रयास करना चाहिये – सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।[११] महाभारत में निषाद दस्यु कायव्य की कथा भी आती है। कायव्य तो निषाद होते हुए चतुर्वण से इतर था और दस्यु होने के कारण समाज से भी इतर ही था। कथा के अनुसार उस निषाद दस्यु के हाथों आस-पड़ोस के सब परिवार अन्न एवं भरण-पोषण के साधन पाते रहे। अपने पड़ोसियों का नित्य भरण-पोषण करने और अपने माँ-बाप की श्रद्धापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करने से वह वर्णेतर एवं समाजेतर कायव्य महान् पुण्य का भागी हुआ।[१२]

दूसरी ओर स्मृति ग्रन्थों का यह भी आदेश है कि पञ्चमहायज्ञ के कर्ता गृहस्थ के घर में सब वर्णों के अतिथि सादर आतिथ्य पाने के अधिकारी हैं। ब्राह्मण गृहस्थ के घर आया शूद्र अतिथि सम्मान-सत्कार के योग्य है और जैसा कि हम आगे देखेंगे, पञ्चमहायज्ञ के कर्ता गृहस्थ के लिये तो चण्डाल को भी सादर सन्तुष्ट करना अनिवार्य है। इस प्रकार ससम्मान अन्न-आश्रय आदि पाने का अधिकार और देने का दायित्व सभी वर्णों के लिये समान है। सभी वर्णों के लिये इस अधिकार एवं दायित्व की अनुल्लङ्घनीयता पञ्चमहायज्ञ के अनुशासन का मुख्य अङ्ग है। आगे मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ अनुशासन का विवेचन करते हुए हमें देने के दायित्व एवं पाने के अधिकार की सार्विकता पर कुछ और विचार करने का अवसर मिलेगा। अस्तु, अब मनुप्रणीत अनुशासन का वर्णन प्रारम्भ किया जाये।

पञ्चमहायज्ञ विवाह से ही प्रारम्भ होता है

गृहस्थाश्रम धर्म का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए मनु कहते हैं कि विवाह के उपरान्त गृहस्थ को विवाह सम्बन्धी होम के लिये प्रज्वलित अग्नि से ही गृह्याग्नि स्थापित कर पञ्चयज्ञ का नित्य अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये –

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥[१३]

---

[११] महाभारत *अनुशासन* १४१.५७, पृ.५९२१।
[१२] महाभारत *शान्ति* १३५, पृ.४७६२-४।
[१३] मनुस्मृति ३.६७, पृ.८१।

पञ्चमहायज्ञ का प्रारम्भ

विवाह के समय जिस अग्नि में लाजा आदि होम किये गये हों, गृहस्थ को उसी को स्थापित कर उस में विधिवत् सभी नित्य-नैमित्तिक गृह्य कर्म करने चाहियें। प्रतिदिन का अन्नपाक और पञ्चयज्ञ भी उसी अग्नि में सम्पन्न करना चाहिये।

इस आदेश के प्रायः तुरन्त पश्चात् मनु पञ्चमहायज्ञ को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[१४]

गृहस्थ के लिये पाँच महायज्ञों के प्रतिदिन अनुष्ठान का विधान है। इनमें से अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलिहरण भूतयज्ञ है और अतिथिपूजन मनुष्ययज्ञ है।

पञ्चमहायज्ञ की यह मनुप्रणीत परिभाषा शतपथ ब्राह्मण की परिभाषा से भिन्न नहीं है, और मनु प्रायः शतपथ के शब्दों का ही उपयोग कर रहे हैं। केवल ब्रह्मयज्ञ के प्रसङ्ग में जहाँ शतपथ ब्राह्मण में अध्ययन का निर्देश है वहाँ मनु अध्यापन का विधान करते हैं। यह अन्तर कदाचित् इसीलिये है कि मनु मुख्यतः ब्राह्मण गृहस्थों के लिये पञ्चमहायज्ञ के अनुशासन का प्रतिपादन कर रहे हैं। जो भी हो, मनु द्वारा प्रतिपादित पञ्चमहायज्ञ अनुष्ठान और वेद-इतिहास में प्रतिपादित अनुष्ठान का सार तो एक ही है। दोनों के लिये गृहस्थ सम्पूर्ण जीवसृष्टि के भरण-पोषण का स्रोत है और पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ के इस दायित्व के निर्वाह का विधान है। इसीलिये पञ्चमहायज्ञ की सङ्क्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करने के किञ्चित् उपरान्त मनु कहते हैं –

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते इतराश्रमाः।
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृहम्।
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छताऽत्यन्तं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥[१५]

---

[१४] मनुस्मृति ३.६९-७०, पृ.८४-५।
[१५] मनुस्मृति ३.७७-७९, पृ.९२-४।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

जिस प्रकार सभी जीव वायु का आश्रय लेकर जीते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करते हैं। क्योंकि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थ से ही अन्न एवं ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसलिये गृहस्थाश्रम ही आश्रमों में ज्येष्ठ है।

अतः इहलोक में अत्यन्त सुख और परलोक में अक्षय स्वर्ग की इच्छा रखने वालों को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम के दायित्व का निर्वाह करना चाहिये। गृहस्थ का यह कठिन दायित्व दुर्बलेन्द्रिय गृही की क्षमता से तो परे है।

आगे मनु कहते हैं कि ऋषि, पितर, देव, भूत और अतिथि सभी अपने निर्वाह के लिये गृहस्थ पर ही आशा लगाये रहते हैं। इसलिये गृहस्थ को इन सब की आशाओं को सर्वदा ध्यान में रखते हुए पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के माध्यम से उन्हें तृप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिये।

पितृयज्ञ

इस प्रकार गृहस्थ के दिन प्रति दिन के जीवन में पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान की प्रधानता का प्रतिपादन करने के उपरान्त मनु इस अनुष्ठान के पाँच अङ्गों के लिये पृथक्-पृथक् विधि का विस्तृत विधान करते हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम पितृयज्ञ का विधान करते हुए मनु कहते हैं कि गृहस्थ को प्रतिदिन अन्न-जल अथवा दूध एवं फल-मूल आदि का अर्पण कर प्रीतिपूर्वक पितरों के लिये श्राद्धकर्म करना चाहिये। यह नित्य का श्राद्ध ही पितृयज्ञ है।

आगे मनु कहते हैं कि नित्य का यह श्राद्धकर्म करते हुए एक ही विप्र को भोजन करवाना पर्याप्त है। उपयुक्त काल पर किये जाने वाले नैमित्तिक श्राद्धकर्म में पितरों का प्रतिनिधित्व करने वाले विप्र के अतिरिक्त विश्वेदेवों के प्रतिनिधि एक अन्य विप्र को भी भोजन करवाना अनिवार्य होता है। परन्तु पितृयज्ञ के सन्दर्भ में किये गये नित्य श्राद्ध में विश्वेदेवों के प्रतिनिधि अन्य विप्र की अपेक्षा नहीं रहती। मनु स्पष्ट कहते हैं कि –

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥[१६]

पञ्चयज्ञ में पितरों के निमित्त एक अकेले विप्र को भी भोजन करवाना पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में विश्वेदेवों के प्रतिनिधि किसी अन्य द्विज की अपेक्षा करना आवश्यक नहीं होता।

---

[१६] मनुस्मृति ३.८३, पृ.९७।

देवयज्ञ

पितृयज्ञ का विधान करने के उपरान्त मनु पञ्चमहायज्ञ के द्वितीय अङ्ग देवयज्ञ का विधान करते हुए कहते हैं –

> वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
> आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ।
> अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
> विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ।
> कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
> सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥[17]

> विश्वेदेवों के लिये भोजन सिद्ध होने पर ब्राह्मण गृहस्थ को गृह्याग्नि में देवों के निमित्त विधिपूर्वक होम करना चाहिये और अग्नि, सोम, अग्निसोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहु, अनुमति, प्रजापति, द्यु सहित पृथिवी और अन्ततः स्विष्टकृत के लिये क्रमपूर्वक आहुति देनी चाहिये ।

मनुस्मृति के उपलब्ध भाष्यों मे से मेधातिथि कृत 'मनुभाष्य' की ख्याति बहुत ऊँची है । मनुभाष्य में मेधातिथि स्पष्ट करते हैं कि 'विश्वेदेवों के लिये सिद्ध' भोजन का अर्थ तो विश्व के समस्त देवों के लिये पकाये गये अन्न से ही है । परन्तु वास्तव में यहाँ घर में पके सम्पूर्ण अन्न का ही सन्दर्भ है । उसी अन्न से देवों के लिये होम किया जाता है, उसके उपरान्त उसी अन्न से भूतों के लिये बलि निकाली जाती है और अतिथि आदि को भोजन करवाया जाता है । देवों के प्रति होम के लिये अलग से अन्न पकाने का विधान यहाँ नहीं किया गया ।

मनु अपने प्रतिपादन की अनुशासित प्रामाणिकता के लिये विख्यात हैं । मनुस्मृति का आग्रह है कि देवयज्ञ के लिये किया जाने वाला होम गृह्याग्नि में होना चाहिये । गृह्याग्नि उस अग्नि को कहा जाता है जिसे गृहस्थ विवाह के समय प्रज्वलित होमाग्नि से स्थापित कर निरन्तर सुरक्षित रखता है । अन्य धर्मशास्त्र मनु के इस अनुशासन को कुछ शिथिल कर गृह्याग्नि के अभाव में गृहस्थ की सामान्य पाकाग्नि में देवयज्ञ का होम सम्पन्न करने की छूट देते हैं । अन्यथा देवयज्ञ की विधि

[17] मनुस्मृति ३.८४-८६, पृ.९८-१०० ।

प्रायः सब धर्मशास्त्रों में मनुप्रणीत देवयज्ञ के समान ही है, केवल आहुति पाने वाले देवों के नाम और आहुतियों का क्रम विभिन्न स्मृतियों में बदलता रहता है।

भूतयज्ञ

पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का अगला अङ्ग भूतयज्ञ है। सृष्टि के समस्त चर या अचर एवं जड़ या चेतन पदार्थ एवं प्राणी भूत कहलाते हैं। भूतों को सृष्टि के ऐसे मूल तत्व भी समझा जा सकता है जिनसे सृष्टि के सभी पदार्थों एवं प्राणियों की संरचना हुई है। भूतयज्ञ में समस्त भूतों के लिये अन्न का अंश निकालकर इसे भूतों के विभिन्न प्रतिनिधियों को समर्पित किया जाता है। भूतों के निमित्त निकाले गये अन्न के अंश को बलि और अंश निकालने की क्रिया को बलिहरण कहा जाता है। बलिहरण ही भूतयज्ञ है। बलिहरण का अनुशासन नियत करते हुए मनु कहते हैं–

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्।
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्।
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तश्चारिभ्य एव च।
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वान्नभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्।
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वयसाञ्च कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि।
एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥[१८]

देवों के लिये अग्नि में सम्यक् आहुति अर्पण करने के उपरान्त चारों दिशाओं में

[१८] मनुस्मृति ३.८७-९३, पृ.१०१-०६।

प्रदक्षिण क्रम में समस्त भूतों के लिये बलि अर्पित की जाये । इन्द्र एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए पूर्व दिशा में, यम एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए दक्षिण दिशा में, वरुण एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए पश्चिम दिशा में और सोम एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए उत्तर दिशा में बल्यर्पण किया जाये। मरुतों के लिये घर के द्वार पर, अप् के लिये जलस्थान पर और वनस्पतियों के लिये मूसल-ओखली के पास बलि निकाली जाये। श्री का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के शीर्ष पर और भद्रकाली का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के पाँवों पर बलि रखी जाये। ब्रह्मा एवं वास्तोष्पति का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के मध्य में बलि अर्पित की जाये। तदुपरान्त विश्वेदेवों का आह्वान करते हुए दिवाचारी एवं रात्रिचारी समस्त जीवों के निमित्त आकाश में बलि के अन्न का उत्क्षेप किया जाये। सब के लिये सब प्रकार के अन्न की बहुलता की कामना करते हुए वास्तु के पृष्ठ पर अथवा घर के ऊपर बलि अर्पित की जाये। अन्ततः पितरों के निमित्त बलि का शेष अन्न दक्षिण दिशा में अर्पित कर दिया जाये।

इसके उपरान्त श्वानों, पक्षियों, कृमियों और चण्डालों, पापरोग के कारण समाज से बाहर हुए मनुष्यों एवं अन्य सब प्रकार के पतितों के लिये सावधानीपूर्वक धूल आदि से बचाकर पृथिवी पर धीरे-से भोजन रख दिया जाये।

जो ब्राह्मण गृहस्थ श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन इस प्रकार सब भूतों के लिये बलि अर्पण करता है वह तेजोमय हिरण्यगर्भ देह पाकर ऋजु पथ से ब्रह्मलोक को पहुँच जाता है।

भूतयज्ञ में इस प्रकार चारों दिशाओं के संरक्षक देवताओं, वायु, जल एवं वनस्पति के अभिमानी देवों, गृहभवन के आधारभूत वास्तुपुरुष, दिवाचारी एवं रात्रिचारी समस्त जीवों के संरक्षक विश्वेदेवों, पितरों और सब प्रकार की समृद्धि का सञ्चार करने वाले सभी भूतों को स्मरण कर उनके निमित्त बलि निकाली जाती है। उसके उपरान्त पक्षियों, कृमियों, पशुओं और उन सब मनुष्यों के लिये भोजन रखा जाता है जो किसी व्याधि, पाप अथवा अन्य दुर्भाग्य के कारण मानव समाज से बाहर रहने को अभिशप्त हैं। यह वृहद् भूतयज्ञ मानो सम्पूर्ण सृष्टि को ही गृहस्थ की भरण-पोषण की सहज वृत्ति के भीतर ले आता है।

भूतयज्ञ में सावधानी एवं प्रीतिपूर्वक सभी भूतों का स्मरण और उनके पोषण का प्रयास किया जाता है। देवयज्ञ में देवों के निमित्त निकाले गये अन्न को अग्नि में होम कर दिया जाता है। परन्तु भूतयज्ञ में भूतों के निमित्त निकाले गये अन्न का या तो आकाश में उत्क्षेप किया जाता है या उसे

सावधानी पूर्वक भूमि पर रख दिया जाता है – इस आशा के साथ कि जिन भूतों के लिये यह अन्न निकाला गया है वे अथवा उनके प्रतिनिधि सुख-शान्ति से इसका उपभोग कर पायेंगे। मनुस्मृति एवं अन्य धर्मशास्त्रों में विशेष आग्रहपूर्वक यह निर्देश दिया गया है कि भूतयज्ञ में कृमियों, पक्षियों, पशुओं और समाजेतर मनुष्यों के लिये निकाला गया अन्न अत्यन्त सावधानी से इस प्रकार भूमि पर रखना चाहिये कि यह अन्न धूल-मिट्टी आदि से कदापि भ्रष्ट न हो। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि बलि का अन्न भूमि पर रखने से पूर्व भूमि को बुहारकर वहाँ पानी छिड़क लेना चाहिये।[१९] इसी सन्दर्भ में मनुस्मृति 'शनकैर्निर्वपेद्भुवि' वाक्य से विशेष सावधानी बरतने का निर्देश देती है।

मनु के इस विधान पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि भूमि पर बलि रखने का अर्थ यह नहीं है कि बलि के अन्न को किसी उपयुक्त पात्र में न रखा जाये। मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकार का आशय केवल इतना है कि बलि का अन्न सीधे अपने हाथ से आदाता को न दिया जाये, परन्तु आदाता के निमित्त उपयुक्त स्थान पर रख दिया जाये। मेधातिथि आगे कहते हैं कि पक्षियों के लिये निकाला गया बलि का अन्न ऐसे स्थान पर रखना चाहिये जहाँ वे कुत्तों आदि के भय से मुक्त हो उस अन्न का सेवन कर सकें और कृमियों का बलिभाग ऐसे स्थान पर रखना चाहिये जहाँ प्रायः उनका उद्भव होता हो।

मनुष्ययज्ञ

पितरों, देवों एवं समस्त भूतों के लिये इस प्रकार विधिवत् अंश निकालने और उन सब को सन्तुष्ट करने के पश्चात् ही अन्न मानव समाज में उपभोग के योग्य बन पाता है। इस अवशिष्ट अन्न को अपने परिवार के साथ ग्रहण करने से पहले गृहस्थ को भिक्षुओं, अतिथियों एवं अपने पर निर्भर सब भृत्यों को भी सन्तुष्ट करना होता है। भिक्षुओं, अतिथियों एवं भृत्यों को श्रद्धा एवं अनुशासनपूर्वक अन्न का भाग देना ही मनुष्ययज्ञ है।

भिक्षा

मनु मनुष्ययज्ञ का पञ्चयज्ञ के अन्य अङ्गों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत विधान करते हैं। इस विधान का पहला चरण भिक्षुओं को भिक्षा दे: । इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

---

[१९] आपस्तम्ब २.३.१५, पृ.१८८।

कृत्वैतद्‌बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे।
यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥[२०]

बलिकर्म करने के उपरान्त स्वयं भोजन करने से पूर्व अतिथियों को भोजन करवाया जाये और भिक्षुओं को भिक्षा दी जाये। ब्रह्मचारी भिक्षुओं को विशेषतः विधिवत् भिक्षा देने का अनुशासन है।

इस प्रकार याचकों को भिक्षा देकर द्विज गृहस्थ अपने गुरु को विधिवत् गोदान करने से प्राप्त होने वाले पुण्य के तुल्य फल का भागी होता है।

भिक्षा द्वार पर आये भिक्षु को अल्प परिमाण में किये जाने वाले अन्नदान को कहते हैं। भिक्षा देने का कर्म अतिथिपूजन से भिन्न है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, अतिथि को सम्मानपूर्वक घर के भीतर बुला, आसन, अर्घ्य, पाद्य आदि प्रस्तुत करने के पश्चात् श्रद्धापूर्वक भरपेट भोजन करवाने का विधान है। भिक्षा में तो भिक्षु को उसके भोजन का स्वल्प अंश ही देना होता है। ब्रह्मचारियों एवं संन्यासियों का यह अनुशासन है कि वे किसी एक गृहस्थ से मुट्ठी-भर से अधिक अन्न स्वीकार नही करते। मेधातिथि के अनुसार मुट्ठी-भर अन्न का दान ही भिक्षा है, यही गृहस्थ स्त्रियों में प्रचलित रीति है। मनुस्मृति के अन्य सुविख्यात टीकाकार कुल्लूक स्मृति के इस अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ग्रास-मात्र अन्न का दान ही भिक्षा है, परन्तु सम्भव होने पर इससे कुछ अधिक भी दिया जा सकता है।

मेधातिथि आगे स्पष्ट करते हैं कि द्वार पर माँगने आये सभी भिक्षुओं को भिक्षा देना गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। अपनी शाखा अथवा परम्परा से सम्बन्धित विद्या का अनुशासनपूर्वक अध्ययन करने में रत ब्रह्मचारी भिक्षुओं को विशेष विधिवत् स्वस्तिवाचन आदि करते हुए भिक्षा देनी होती है। अन्यों को भिक्षा देते हुए स्वस्तिवाचन आदि करना अनिवार्य नहीं। परन्तु भिक्षा का अन्न तो सभी को देना होता है, उन भिक्षुओं को भी जो मात्र पाखण्डी दिखायी देते हों।

मनुस्मृति के अगले तीन श्लोकों में मनु भिक्षु के प्रति सर्वदा सम्मान एवं श्रद्धा रखते हुए भिक्षा देने के अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। मनु कहते हैं कि मोहवश याचक के प्रति अवज्ञा एवं अवहेलना के भाव से दिया हुआ दान, देने वाले के हव्य-कव्य आदि सभी पुण्यकर्मों के अर्जित

[२०] मनुस्मृति ३.९४-९५, पृ.१०७-०८।

फल को नष्ट कर देता है। मनु का कहना है कि भिक्षा देना तो भिक्षु के मुख पर स्थित अग्नि में होम करने के समान है। विधिपूर्वक किया गया यह भिक्षाहोम इहलोक में उपस्थित व्याधि, राजपीड़ा एवं शत्रुपीड़ा आदि सभी विघ्नों को नष्ट कर देता है और पूर्व के महान् पापों का प्रक्षालन कर दाता गृहस्थ के परलोक को भी सँवार देता है।

अतिथि

द्वार पर आने वाले सभी भिक्षुओं को श्रद्धा एवं सम्मानपूर्वक भिक्षा देने के अनुशासन का प्रतिपादन करने के उपरान्त मनु मनुष्ययज्ञ के अगले अङ्ग, अतिथिपूजन का विधान करते हैं। इस प्रसङ्ग में मनु का आदेश है –

> संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
> अन्नं चैव यथाशक्ति संस्कृत्य विधिपूर्वकम्॥[२१]
>
> घर आये अतिथि को हाथ-मुँह धोने के लिये जल एवं बैठने के लिये आसन प्रस्तुत किया जाये और उसके उपरान्त अतिथि के लिये विशेषतः संस्कृत अन्न से उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन करवाया जाये।

मनु के इस श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि स्पष्ट करते हैं कि इस सन्दर्भ में अतिथि वही है जो स्वयं आ उपस्थित हुआ हो, निमन्त्रण देकर घर बुलाये गये मित्र, गुरुजन आदि अतिथि नहीं होते। कुछ आगे स्वयं मनु अतिथि की परिभाषा देते हुए यह आग्रह करते हैं कि केवल अनामन्त्रित एवं अपरिचित जन ही अतिथि कहलाता है। इस प्रकार बिना बुलाये घर आये किसी अपरिचित को ही सम्मान-सत्कार पूर्वक बैठाकर विधिवत् भोजन करवाने से ही मनुष्ययज्ञ का यह अङ्ग सम्पन्न होता है। मनु का आदेश है कि अपरिचित अतिथि को ससम्मान भोजन करवाने का यह अनुशासन सब गृहस्थों को निभाना होता है, उन गृहस्थों को भी जो स्वयं अत्यन्त मितव्ययी जीवन व्यतीत कर रहे हों। क्योंकि अनर्चित लौटा अतिथि तो गृहस्थ के समस्त पुण्यों का क्षय ही कर देता है। स्मृति के शब्दों में –

> शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
> सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्॥[२२]

---

[२१] मनुस्मृति ३.९९, पृ.१११।
[२२] मनुस्मृति ३.१००, पृ.१११।

ब्राह्मण अतिथि जिसके गृह में श्रद्धापूर्वक सत्कार नहीं पाता, वह उस गृहस्थ के समस्त पुण्यों को ले जाता है। उञ्छवृत्ति से रहने और नित्य पञ्चाग्नि में शास्त्रानुसार होम करने वाला अनुशासित गृहस्थ भी घर आये ब्राह्मण की समुचित अर्चना न करने से अपने सब सुकृतों से वञ्चित हो जाता है।

मनु का आग्रह है कि दरिद्र गृहस्थ के घर में अन्न का अभाव तो हो सकता है परन्तु अतिथि के लिये स्नेहसिक्त सत्कार का अभाव तो कदापि नहीं हो सकता। स्मृति का कहना है –

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥[२३]

सज्जनों के घर में अतिथि के आसन के लिये भूमि, स्नानादि के लिये जल, सोने के लिये तृणों की शय्या और चौथे, स्नेहसिक्त वाणी का तो कभी अभाव नहीं होता।

अतिथि और अभ्यागत

घर आये अतिथि की सम्मानपूर्वक आवभगत करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का प्रतिपादन करने के पश्चात् मनु अतिथि की परिभाषा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसे अतिथि कहा जा सकता है और किसे नहीं। मनु की परिभाषा के अनुसार अतिथि के दो ही मुख्य लक्षण होते हैं – पहला यह कि उसके आने-जाने का कोई निश्चित काल नहीं होता है और दूसरे वह आतिथेय गृहस्थ से नितान्त असम्बन्धित एवं अपरिचित होता है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, अनामन्त्रित, अनपेक्षित और अपरिचित आने वाला ही अतिथि हुआ करता है। स्मृति के शब्दों में –

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते।
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥[२४]

गृह में आकर एक रात्रि-भर रुकने वाले ब्राह्मण को अतिथि कहा जाता है। क्योंकि

---

[२३] मनुस्मृति ३.१०१, पृ.११३।
[२४] मनुस्मृति ३.१०२-१०३, पृ.११३-१४।

उसका रहना अनित्य-अस्थायी होता है, इसीलिये वह अतिथि कहलाता है, अनित्यं स्थितः अतिथिः।

गृहस्थ के ही ग्राम का निवासी कोई विप्र अतिथि नहीं होता, न ही उस ग्राम का कोई निवासी जिस ग्राम से गृहस्थ की पत्नी और गृह्याग्नि आये हों। गृहस्थ के सखा, सहपाठी अथवा अन्यथा परिचित भी अतिथि नहीं होते। ये सभी उपयुक्त भोजनकाल पर घर में उपस्थित होने पर भी अतिथि नहीं कहलाते।

यहाँ अतिथि की परिभाषा करते हुए मनु ब्राह्मण को ही अतिथि की संज्ञा देते हैं। आगे विशेषतः अतिथि के वर्ण का विषय उठाते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण गृहस्थ के घर पर ब्राह्मण से इतर वर्ण के लोग अतिथि नहीं कहलाते, परन्तु वहीं मनु यह आदेश भी देते हैं कि ब्राह्मण गृहस्थ को भोजनकाल पर घर आने वाले क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों को सम्मानपूर्वक सत्कृत कर विधिवत् भोजन करवाना चाहिये। उपयुक्त क्रम में मनु के इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए हम अतिथि के वर्ण के विषय पर पुनः विचार करेंगे।

उपरोक्त श्लोकों का मुख्य कथ्य अतिथि के वर्ण का नियमन करना नहीं, अपितु यह प्रतिपादन करना है कि आश्रय एवं भोजन की अपेक्षा से आया अनामन्त्रित एवं अपरिचित याचक ही अतिथि कहलाने का अधिकारी होता है। भारतीय आर्ष साहित्य की अतिथि के सन्दर्भ में यही मूल अवधारणा है। मनुष्ययज्ञ के अङ्गस्वरूप किया जाने वाला अतिथिपूजन अनामन्त्रित अपरिचित याचक को सम्मानपूर्वक आश्रय एवं भोजन देने से ही सम्पन्न होता है। स्नेह एवं प्रीति वश घर आये या बुलाये गये सखा-सम्बन्धी इस सन्दर्भ में अतिथि नहीं होते।

महाभारत में युधिष्ठिर को अन्नदान का अनुशासन समझाते हुए श्रीकृष्ण बिना बुलाये द्वार पर आ उपस्थित हुए अपरिचित याचक और स्नेहपूर्वक घर आये सखा-सम्बन्धी के मध्य अन्तर अत्यन्त स्पष्टता से बताते हैं। श्रीकृष्ण का कहना है कि घर आये सखा-सम्बन्धी तो अभ्यागत कहलाते हैं, अतिथि तो अपरिचित ही हुआ करता है, अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।[२५] गृहस्थ को निश्चय ही अतिथि और अभ्यागत दोनों की ही ससम्मान आवभगत करनी होती है। परन्तु अतिथि को आश्रय-भोजन आदि प्रस्तुत करना मनुष्ययज्ञ का अनिवार्य अङ्ग है। अभ्यागत तो घर के सदस्य-से ही होते हैं और जैसे कि मनु आगे कहते हैं, अभ्यागत के लिये तो अतिथियों के भोजन के उपरान्त आतिथेय परिवार के साथ बैठकर भोजन करना ही उपयुक्त होता है।

[२५] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३२९।

सायं का अतिथि

किसी अपरिचित, अनपेक्षित एवं अनामन्त्रित अतिथि का सायं के समय द्वार पर आ उपस्थित होना तो मनु के अनुसार स्वयं अस्ताचलगामी सूर्य द्वारा गृहस्थ के लिये कोई महान् निधि ले आने के समान है। मनु का आदेश है कि सायं के समय आये ऐसे अतिथि का विशेष श्रद्धापूर्वक स्वागत-सत्कार करना चाहिये। स्मृति के शब्दों में –

> अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
> काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्॥[२६]

> सायं के समय गृहस्थ के द्वार पर आने वाला अतिथि तो मानो स्वयं सूर्य द्वारा ही लाया जाता है। ऐसे सायं के अतिथि को कदापि द्वार से लौटाया नहीं जाता। वह उपयुक्त काल पर उपस्थित हुआ हो अथवा अनुपयुक्त काल पर, उसे किसी भी अवस्था में भोजन से तृप्त किये बिना सुलाया नहीं जाता।

मेधातिथि मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए कहते हैं कि इस सन्दर्भ में उपयुक्त काल का अर्थ भोजनकाल से है और अनुपयुक्त काल वह काल है जब सायं का भोजनकाल व्यतीत हो जाने के उपरान्त उस दिन के लिये पकाया गया समस्त अन्न समाप्त हो चुका हो। मेधातिथि का कहना है कि ऐसी स्थिति में पुनः भोजन पकाकर अतिथि को तृप्त करना होता है, और थोड़ा आगे स्वयं मनु विलम्ब से आये अतिथि के लिये पुनः अन्न पकाने के अनुशासन का निर्देश करते हैं। स्मृति का स्पष्ट आग्रह है कि सायं के समय घर आये अतिथि को न तो लौटाया जा सकता है, न भूखे ही सोने दिया जा सकता है।

समस्त आर्ष साहित्य में सायं के समय आया अतिथि विशेष शुभ एवं श्रद्धेय माना गया है। सूर्यास्त के पश्चात् आने वाला अतिथि आश्रय एवं भोजन पाने की अपनी आवश्यकता का और अधिक काल तक संवरण करने की स्थिति में तो नहीं होता। सम्भवतः इसीलिये ऐसे अतिथि को समुचित आतिथ्य प्रदान करने का अनुशासन विशेषतः अनुल्लङ्घनीय माना गया है। श्रीविष्णुपुराण में कहा गया है कि सूर्यास्त के पश्चात् आने वाले अतिथि को गृहद्वार से लौटाने का पाप दिन में आये अतिथि को लौटाने के पाप से आठ गुना गुरुतर होता है।[२७] प्रसङ्गवश, श्रीविष्णुपुराण का यह भी आग्रह है कि स्वयं भोजन करने से पहले गृहस्थ को गाय दोहने में

---

[२६] मनुस्मृति ३.१०५, पृ.११६।
[२७] विष्णु ३.११.१०८, पृ.२३७।

जितना समय लगता है, न्यूनतम उतने काल तक अपने आङ्गन में खड़े होकर अतिथि के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिये।[२८]

आतिथ्य

मनुस्मृति के अगले तीन श्लोकों में अतिथि को भोजन करवाने के सम्यक् आचार का वर्णन हुआ है। मनु द्वारा अनुशंसित आतिथ्य का मुख्य अङ्ग अतिथि के लिये घर में उपलब्ध सर्वोत्तम अन्न प्रस्तुत करना है। उत्कृष्ट अन्न अतिथि से बचाकर आतिथेय गृहस्थ स्वयं अपने उपभोग के लिये नहीं रखा करते। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥[२९]

आतिथेय गृहस्थ को स्वयं कोई ऐसा अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये जो पहले अतिथि के समक्ष प्रस्तुत न किया गया हो। अतिथि का श्रद्धापूर्वक स्वागत-सत्कार करके गृहस्थ धन-समृद्धि, यश, आयुष एवं अन्ततः स्वर्ग को प्राप्त होता है।

मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि सूप, दही, घी एवं शक्कर आदि उत्कृष्ट अन्न अतिथि को भेंट किए बिना गृहस्थ को स्वयं नहीं खाने चाहियें, परन्तु रोगियों के लिये घर में जो दलिया-खिचड़ी आदि पकाये जाते हैं और अन्य जो कटु रस के व्यञ्जन बनते हैं, उन्हें अतिथि की इच्छा न होने पर उसके समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं होता।

सम्यक् आतिथ्य का अनुशासन प्रतिपादित करते हुए आगे मनु अनेक अतिथियों के एक ही समय घर में उपस्थित होने पर उन्हें उनके गुणों एवं प्रतिष्ठा के अनुरूप आतिथ्य देने का आदेश देते हैं। मनुस्मृति के अनुसार –

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥[३०]

श्रेष्ठ अतिथि को श्रेष्ठ आसन, श्रेष्ठ विश्राम स्थान, श्रेष्ठ शय्या एवं श्रेष्ठ उपासना अर्पित करनी चाहिये और ऐसे अतिथि के विदा होने पर उसे दूर तक छोड़ने जाना चाहिये।

---

[२८] विष्णु ३.११.५८, पृ.२३३।
[२९] मनुस्मृति ३.१०६, पृ.११७।
[३०] मनुस्मृति ३.१०७, पृ.११८।

मध्यम अतिथि के लिये यही सब आतिथ्य मध्यम परिमाण में और हीन अतिथि के लिये हीन परिमाण में अर्पित करना चाहिये।

मेधातिथि एवं कुल्लूक दोनों इस सन्दर्भ में स्पष्ट करते हैं कि श्रेष्ठ-सम-हीन का यह विवेक अनेक अतिथियों के युगपद् उपस्थित होने पर, सब के साथ-साथ आने की स्थिति में ही प्रासङ्गिक होता है। ऐसी स्थिति में सब को एक-सा आतिथ्य प्रस्तुत करना अतिथियों के लिये सङ्कोच का विषय बन सकता है। ऐसे अवसर पर आतिथेय गृहस्थ को अतिथियों के गुण-प्रतिष्ठा आदि का विचार कर सब को सम्यक् आतिथ्य देना चाहिये, ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि सब का शील बना रहे और किसी का तिरस्कार न होने पाये।

अतिथि को भोजन कराने के सम्यक् आचार का वर्णन करते हुए आगे मनु भोजन समाप्त होने के उपरान्त आने वाले अतिथि के लिये पुनः अन्नपाक करने के अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। हम मनु के इस अनुशासन की किञ्चित् चर्चा पहले कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में स्मृति वाक्य है –

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥[३१]

वैश्वदेव-होम आदि कर्मों से संस्कृत अन्न के समाप्त होने पर यदि घर में कोई अन्य अतिथि आ पधारता है तो उसके लिये पुनः अन्न पकाकर यथाशक्ति उसे सन्तुष्ट करना चाहिये। इस पुनः पकाये गये अन्न से देवों, भूतों आदि का भाग निकालना आवश्यक नहीं होता।

घर आये अनामन्त्रित एवं अपरिचित जन को भोजन कराने के आचार का मनु ऐसा विशद प्रतिपादन करते हैं। परन्तु घर आने वाले अतिथियों के लिये भी कुछ आचार तो होता ही है। स्मृति में किञ्चित् पहले आये दो श्लोकों में मनु इस सन्दर्भ में यह अनुशासन नियत करते हैं कि गृहस्थाश्रम में स्थित किसी को अन्य गृहस्थों के घर भोजन ग्रहण करने का अभ्यस्त नहीं होना चाहिये। अन्य घरों में खाने का आदी गृहस्थ अपने तप एवं अध्ययन का सब फल गँवाकर पशुवत् योनि को प्राप्त होता है। स्मृति के इन दो श्लोकों को हम यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे। आतिथेय के अनुशासन का प्रतिपादन करने के पश्चात् मनु पुनः अतिथि के अनुशासन की चर्चा करते हैं, और इस सन्दर्भ में उनका आदेश है –

[३१] मनुस्मृति ३.१०८, पृ.११९।

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ।।[३२]

भोजन पाने के लिये विप्र को अपने कुल-गोत्र आदि की चर्चा करते हुए नहीं घूमना चाहिये। जो भोजनप्राप्ति के लिये अपने कुल-गोत्र का गुणगान करते हैं, वे लोग मतिमानों में 'वान्ताशी' की संज्ञा से जाने जाते हैं। वे भ्रष्ट अन्न के भोक्ता माने गये हैं।

महाभारत में मनु के इस अनुशासन के प्रतिवर्ती अनुशासन का वर्णन भी हुआ है। मनु का आदेश है कि अतिथि को अपने कुल-गोत्र का आख्यान नहीं करना चाहिये और महाभारत के वैष्णवधर्म पर्व में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को बताते हैं कि आतिथेय गृहस्थ को अतिथि के गोत्र-चरण अथवा अधीत के प्रति जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये। श्रीकृष्ण का आदेश है – न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन।[३३] श्रीकृष्ण के इस आदेश को हम एकदा पहले भी सुन चुके हैं, और उनका यह अनुशासन अतिथि के लिये प्रतिपादित मनु के उपरोक्त अनुशासन का पूरक ही है।

ब्राह्मणेतर अतिथि

अतिथिपूजन के अनुशासन के प्रसङ्ग में मनुस्मृति में यहाँ तक अतिथि के वर्ण के विषय का सीधा उल्लेख नहीं आता, चाहे विभिन्न स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण गृहस्थ के घर में मनु ब्राह्मण आगन्तुक को ही अतिथि मान रहे हैं। अब मनु अतिथि के वर्ण सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ।।[३४]

ब्राह्मण गृहस्थ के घर आया क्षत्रिय अतिथि नहीं कहलाता और न ही ब्राह्मण के घर आये वैश्य अथवा शूद्र ही अतिथि कहे जाते हैं। इसी प्रकार घर आये मित्र, जाति-बन्धु एवं सम्बन्धी और गुरु को भी अतिथि नहीं कहा जाता।

---

[३२] मनुस्मृति ३.१०९, पृ.१२०।
[३३] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५।
[३४] मनुस्मृति ३.११०, पृ.१२०।

मित्र, गुरु, सम्बन्धी अथवा अन्य परिचित तो अतिथि नहीं हुआ करते, यह मनु पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु ब्राह्मण गृहस्थ के घर में इतर वर्ण के किसी आगन्तुक के अतिथि न होने का सिद्धान्त पञ्चमहायज्ञ की मूल भावना के अनुकूल नहीं दिखता। पञ्चमहायज्ञ के कर्म का तो सार ही सृष्टि के समस्त जीवों के निर्वाह के प्रति गृहस्थ के दायित्व को समझने और निभाने में है। ब्राह्मणेतर आगन्तुक को सब के निर्वाह एवं भरण-पोषण के इस दायित्व से बाहर कैसे रखा जा सकता है?

मनु भी ब्राह्मण गृहस्थ को ब्राह्मणेतर आगन्तुक के लिये आश्रय एवं भोजन अर्पण न करने की छूट तो नहीं देते। ब्राह्मणेतर का अतिथि न होना तो मात्र परिभाषा का विषय प्रतीत होता है। इस परिभाषा को प्रतिपादित करने के तुरन्त पश्चात् मनु समस्त वर्णों के अतिथियों और घर आये सखा-सम्बन्धियों का भी विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करने एवं उन सब को समुचित क्रम से भोजन करवाने का विधान करते हैं। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

> यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
> भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्।
> वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
> भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्।
> इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान्।
> प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥[३५]

> यदि ब्राह्मण गृहस्थ के घर में क्षत्रिय अतिथिधर्म का आश्रय लेकर आता है तो विप्र अतिथियों को भोजन करवाने के उपरान्त उसे भी यथेष्ट भोजन करवाया जाये। इसी प्रकार वैश्य अथवा शूद्र के अतिथिधर्म के अनुरूप ब्राह्मण कुटुम्ब के घर आने पर उसे भी घर के भृत्यों के साथ उदारतापूर्वक भोजन करवाया जाये।
>
> सखा आदि के प्रीतिपूर्वक घर आने पर पत्नी के साथ स्वयं गृहस्थ उसे प्रयत्नपूर्वक सुसंस्कृत अन्न परोसे।

मेधातिथि मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए कहते हैं कि अन्य ग्राम से आकर भोजन काल पर उपस्थित होने वाला प्रत्येक ऐसा यात्री जिसके पास पाथेय शेष न बचा हो, अतिथि ही होता है। स्मृतिवाक्य में अतिथिधर्म का आश्रय लेकर आने का जो उल्लेख हुआ है उसका

[३५] मनुस्मृति ३.१११-११३, पृ.१२१-३।

अर्थ यही है– तत्रातिथेर्धर्मः क्षीणपथ्योदनत्वं परग्रामवासो भोजनकालोपस्थानम्।[३६] इस प्रकार आने वाले सभी आगन्तुकों को विधिपूर्वक भोजन करवाना चाहिये।

स्मृति में यह भी कहा गया है कि क्षत्रिय को विप्र अतिथि के पश्चात् और वैश्य एवं शूद्र को भृत्यों के साथ भोजन करवाना चाहिये। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि भृत्यों को अतिथियों के उपरान्त परन्तु गृहस्थ दम्पती से पूर्व भोजन करवाया जाता है। अतः वैश्य एवं शूद्र अतिथियों को भृत्यों के साथ भोजन करवाने का अर्थ यही है कि वे अन्य अतिथियों के पश्चात् परन्तु गृहस्थ दम्पती से पूर्व भोजन पाने के पात्र हैं। मेधातिथि इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करते हैं कि 'सह भृत्यैस्तौ' वाक्य से स्मृति में वैश्य एवं शूद्र अतिथियों के लिये उपयुक्त भोजनकाल मात्र का निर्देश किया गया है – सहशब्द एककालतामात्रलक्षाणार्थः। यहाँ वैश्य अथवा शूद्र अतिथि को दिये जाने वाले सम्मान-सत्कार की चर्चा नहीं हो रही। सम्मान-सत्कार तो सभी अतिथियों का करना ही होता है और जैसा कि मेधातिथि इसी प्रसङ्ग में कहते हैं, घर आये सब लोगों का स्नेहसिक्त वाणी से स्वागत करने का विधान तो प्रत्येक परिस्थिति में बना ही रहता है।

मनुस्मृति की यह व्याख्या अतिथि के वर्ण के विषय में आर्ष साहित्य की भावना के अनुरूप ही है। शास्त्रों में अतिथि के वर्ण सम्बन्धी प्रायः किसी प्रकार के विवेक का विधान नहीं किया जाता। अधिकतर शास्त्र ब्राह्मण अतिथि को निश्चय ही विशेष शुभ मानते हैं, परन्तु सब वर्णों के आगन्तुक अतिथि ही होते हैं और किसी भी अतिथि का भोजन के समय घर आना गृहस्थ के लिये माङ्गल्य का ही विषय होता है। पराशरस्मृति में इस विषय में अत्यन्त स्पष्टता से यह निर्देश दिया गया है कि वैश्वदेव के सम्पन्न होने के उपरान्त, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं भूतयज्ञ की समाप्ति के पश्चात्, भोजनकाल उपस्थित होने पर जो भी घर में आता है वह अतिथि ही होता है, उसके सम्बन्ध में और किसी प्रकार का विवेचन नहीं किया जाता। स्मृति के शब्दों में –

इष्टो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥[३७]

वैश्वदेवकर्म के सम्पन्न होने के उपरान्त घर में जो भी उपस्थित हो, वह अतिथि ही है। इस प्रकार भोजनकाल पर आने वाला मित्र हो या शत्रु एवं मूर्ख हो या पण्डित, वह अतिथि ही होता है और गृहस्थ के लिये वह स्वर्गप्राप्ति का साधन बनता है।

---

[३६] मनुस्मृति ३.१११ पर मेधातिथि भाष्य, पृ.१२१।

[३७] पराशर १.४०, पृ.३४९।

पराशरस्मृति को विशेषतः आज के युग में अनुकरणीय स्मृतिग्रन्थ माना जाता है। परन्तु पराशरस्मृति का अतिथि सम्बन्धी यह अनुशासन तो महाभारत के वैष्णवधर्म पर्व में श्रीकृष्ण के आदेश की पुनरावृत्ति ही है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को अतिथि पूजन का उपदेश देते हुए वहाँ कहते हैं –

हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा।
प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥[३८]

श्रीकृष्ण इसी प्रसङ्ग में युधिष्ठिर को यह भी स्मरण कराते हैं कि जब कोई थका-माँदा अतिथि गृहस्थ के घर पर आता है तब उसके पीछे-पीछे सब देवता, पितर और अग्नि भी चले आते हैं, अतिथि का घर में सम्मान-सत्कार होने पर वे देव-पितर आदि भी सत्कृत होते हैं और अतिथि के निराश हो घर-द्वार से लौटने पर वे भी निराश हो गृहस्थ के घर से चले जाते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण का आदेश है कि चण्डाल भी यदि अतिथि होकर घर आये तो गृहस्थ को उसका पूजन ही करना चाहिये –

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा ॥[३९]

अन्नप्राप्ति की आकाङ्क्षा लेकर उपयुक्त देश एवं काल में यदि चण्डाल भी अतिथि रूप में घर पर उपस्थित होता है तो गृहस्थ के लिये वह भी सर्वदा पूजनीय है। इस प्रकार आये चण्डाल अतिथि का भी विधिपूर्वक सम्मान-सत्कार करना गृहस्थ के लिये अनिवार्य है।

अग्नि, देवों एवं पितरों को अपने पीछे-पीछे लिये गृहस्थ के घर पर पधार रहे अतिथि की छवि महाभारत में अनेक स्थानों पर उभरती है, और चण्डाल अथवा श्वपाक अतिथि का भी समुचित सम्मान-सत्कार करने का आदेश भी अनेक स्थानों पर दोहराया जाता है। वनपर्व में युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश देते हुए ऋषि मार्कण्डेय तो यहाँ तक कहते हैं कि घर आया अतिथि किसी भी वर्ण का हो, गृहस्थ के लिये तो वह ब्राह्मण ही है –

अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः।

---

[३८] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३३०।
[३९] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३२९।

पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया।
तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥[४०]

अपनी यात्रा से थका-माँदा, क्षीणगात्र, धूलधूसरित कोई पथिक उदार अन्नदाता का पता पूछते-पूछते घर पर आ पधारे तो गृहस्थ को निश्चय ही यत्नपूर्वक उसकी पूजा-अर्चना करनी चाहिये। इस प्रकार घर आया पथिक अतिथि कहलाता है, वह गृहस्थ के लिये निश्चय ही ब्राह्मण ही है।

घर आये अपरिचित, श्रान्त एवं क्षुधित को तो सर्वदा सम्मानपूर्वक आश्रय एवं भोजन अर्पित करना ही होता है। यह गृहस्थ के लिये अनतिक्रमणीय अनुशासन है। इसका पालन धर्मभीरु गृहस्थ को सर्वदा सब परिस्थितियों में करना ही होता है, और ऐसा करते हुए आने वाले के वर्ण अथवा कुल-गोत्र आदि का विचार करने का अधिकारी वह कदापि नहीं होता। घर पर आने वाले प्रत्येक अर्थी को भोजन एवं आश्रय देने का यह अनुशासन ही मनुष्ययज्ञ है। मनु ने इस विषय में अत्यन्त सूक्ष्मता से क्रमबद्ध आचार का प्रतिपादन करते हुए मनुष्ययज्ञ के इसी अनुशासन का ही उपदेश किया है।

ब्राह्मणेतर अतिथियों एवं घर आये समस्त सखा-सम्बन्धियों को उपयुक्त क्रम में यथेष्ट भोजन करवाने के आदेश के साथ मनु द्वारा प्रतिपादित मनुष्ययज्ञ का विधान प्रायः समाप्त होता है। परन्तु यज्ञानुशासन सम्पन्न कर गृहस्थ दम्पती को अवशिष्ट भोजन ग्रहण करने का निर्देश देने से पूर्व वे अपनी सूक्ष्मदर्शी सदय शैली के अनुरूप कुटुम्ब के सदस्यों को खिलाने से पहले अतिथियों को तृप्त करने के नियम में एक अपवाद का विधान करते हैं। अतिथिपूजन के अनुशासन के समापन पर मनु कहते हैं –

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽन्वगेवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥[४१]

पितृगृह में आयी हुई सधवा युवा बालिकाओं, कुमारियों, रोगियों एवं गर्भिणी स्त्रियों को अतिथियों को खिलाने से पूर्व ही भोजन करवाया जा सकता है। इस विषय में गृहस्थ को किसी प्रकार का कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं होती।

---

[४०] महाभारत *वन* २००.६०-६१, पृ.१५२७।
[४१] मनुस्मृति ३.११४, पृ.१२४।

दम्पती

इस प्रकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक अनुशासित एवं क्रमबद्ध विधान के अनुसार पितरों, देवों, भूतों, अतिथियों, भृत्यों एवं अभ्यागतों को भोजन अर्पित करने के उपरान्त ही गृहस्थ दम्पती स्वयं भोजन करने के अधिकारी होते हैं। भोजन के इस अनुशासन का पालन न करने वाला गृहस्थ राजा श्वेत से भी निकृष्टतर गति को प्राप्त होता है। राजा श्वेत ने धर्मसम्मत जीवन व्यतीत करते हुए और धर्मानुरूप राज्य चलाते हुए अथाह पुण्य अर्जित किये थे। सम्भवतः इसीलिये उत्तम लोकों में भी उनका अनुगमन करने वाली उनकी अस्वाभाविक क्षुधा की यदा-कदा किञ्चित् शान्ति के लिये उनका पार्थिव शरीर स्वच्छ एवं स्वस्थ बना रहा था। स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के अनुशासन का उल्लङ्घन करने वाले गृहस्थ के लिये तो राजा श्वेत को उपलब्ध किञ्चित् सान्त्वना की भी सम्भावना शेष नहीं रहती। मनु इस भीषण भावी के प्रति गृहस्थ को सचेत करते हुए कहते हैं –

> अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
> स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥[४२]
>
> जो मूढ गृहस्थ पितरों, देवों, भूतों, अतिथियों, भृत्यों एवं अभ्यागतों को तृप्त किये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करता है, वह तो मानो अन्धा ही है। स्वयं खाते हुए वह यह नहीं देख पाता कि भविष्य में उसी का शरीर कुत्तों और गीधों द्वारा खाया जायेगा।

अन्य सब को भोजन करवाने से पहले अनुशासित गृहस्थ स्वयं भोजन नहीं किया करते। सब को भोजन करवाने के उपरान्त, अपनी पहुँच में आने वाले सब जीवों का समुचित पोषण करने के पश्चात् ही गृहस्थ दम्पती के लिये सम्यक् भोजनकाल उपस्थित होता है। गृहस्थ का तो धर्म ही अन्यों को तृप्त करने के उपरान्त बचे शेष अन्न का, पञ्चयज्ञ के अवशिष्ट का उपभोग करने में है। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

> भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
> भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥[४३]
>
> विप्र अतिथियों से लेकर भृत्यों और घर के अन्य सदस्यों एवं जातिबन्धुओं आदि तक

---

[४२] मनुस्मृति ३.११५, पृ.१२४।

[४३] मनुस्मृति ३.११६, पृ.१२५।

सब को भोजन करवाने के उपरान्त शेष बचे अवशिष्ट अन्न का उपभोग ही गृहस्थ दम्पती के लिये उपयुक्त है।

मेधातिथि स्मृति के एक पूर्ववर्ती श्लोक के सन्दर्भ में ऊपर कहे गये 'अवशिष्टं तु दम्पती' के अनुशासन पर टीका करते हैं। मेधातिथि का कहना है कि इस अनुशासनवाक्य से स्पष्ट है कि गृहस्थ पति एवं पत्नी के लिये एक ही भोजनकाल का विधान है, पति-पत्नी के भोजन का समय पृथक्-पृथक् नहीं होता– यो भर्तुर्भोजनकालः स एव भार्याया अपि पृथक्तस्या भोजन-कालस्याभावात्।[४४]

द्रौपदी-सत्यभामा संवाद

मेधातिथि पति-पत्नी का एक ही भोजनकाल होने के अनुशासन के सन्दर्भ में महाभारत के वनपर्व में द्रौपदी एवं सत्यभामा में हुए संवाद का स्मरण भी करते हैं। मेधातिथि का कहना है कि उस प्रसङ्ग में तो द्रौपदी सब को खिलाने के पश्चात् स्वयं खाने को ही स्त्रीधर्म बताती हैं। वस्तुतः वहाँ द्रौपदी कहते हैं –

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥[४५]

जब तक मेरे पति और उनके सभी कर्मकार भी खा नहीं चुकते तब तक मैं भोजन ग्रहण नहीं करती हूँ, जब तक वे सब स्नान नहीं कर लेते तब तक मैं स्नान नही करती हूँ और जब तक वे सोते नहीं तब तक मैं कभी सोती नहीं हूँ।

द्रौपदी इस प्रसङ्ग में सत्यभामा को इन्द्रप्रस्थ में बिताये दिनों की अपनी दिनचर्या के विषय में और भी बहुत कुछ बताती हैं। द्रौपदी एवं सत्यभामा का यह संवाद द्रौपदी के असाधारण व्यक्तित्व का सशक्त उदाहरण है। द्रौपदी ने तो पाण्डव गृह को चलाने का सारा बोझ अकेले अपने ही कन्धों पर उठा रखा है। जैसा कि वे स्वयं सत्यभामा को बतलाती हैं, द्रौपदी अकेली ही पाण्डव गृह के सब कार्यों का सञ्चालन करती हैं और इस प्रकार युधिष्ठिर समेत पाँचों पाण्डवों को अपनी-अपनी रुचि का अनुसरण करने के लिये मुक्त कर देती हैं। वे स्वयं ही पाण्डवों की आय और व्यय का लेखा-जोखा रखती हैं, वही गृह से सम्बन्धित सब कर्मकारों का काम

[४४] मनुस्मृति ३.११३ पर मेधातिथि भाष्य, पृ.१२३।
[४५] महाभारत *वन* २३३.२४, पृ.१६२०।

देखती हैं और उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करती हैं, वही पाण्डव कुटुम्ब की ओर से पञ्चमहायज्ञ का सम्पादन करती हैं। और यह सब करते हुए वे सर्वदा सचेत रहती हैं कि उनके किसी कार्य से पाण्डवों की इच्छा-अनिच्छा का कदापि अतिक्रमण न होने पाये। अपने इन सारे दायित्वों का वर्णन करते हुए द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं –

ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा।
भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम।
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ॥[४६]

मैं नित्य भिक्षा, बलि एवं श्राद्ध का सम्पादन करती हूँ और मैं ही विभिन्न पर्वों के समय स्थालीपाक यज्ञ सम्पन्न करती हूँ। मैं ही माननीय जनों का सम्मान-सत्कार करती हूँ। कुटुम्बों में प्रचलित जिन धर्मों को मैंने पूर्व में अपनी सास से सुन रखा है और अन्य भी जिन धर्मों को मैं स्वयं जानती हूँ, उन सब का मैं आलस्य छोड़कर दिन-रात पालन करती हूँ। मैं सदा अपने-आप को यम-नियम में स्थित रखती हूँ, सर्वदा शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि एवं आत्मनियन्त्रण के लिये आवश्यक नियमों का यथाशक्ति पालन करती रहती हूँ।

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता ॥[४७]

पति जाग रहे हों तो मैं कभी सोती नहीं और जब तक वे भोजन ग्रहण न कर लें तब तक मैं कभी खाती नहीं। पतियों की इच्छा के विरुद्ध मैं कभी कोई साज-शृङ्गार नहीं करती। मैं कभी अपनी सास की निन्दा नहीं करती। अपने आप को मैं सदा अपने नियन्त्रण में ही रखती हूँ।

युधिष्ठिर जब इन्द्रप्रस्थ में राज्य करते थे उस समय के अपने गृहस्थ जीवन का वर्णन करते हुए द्रौपदी आगे कहती हैं –

---

[४६] महाभारत *वन* २३३.३३-३५, पृ.१६२१।

[४७] महाभारत *वन* २३३.३८, पृ.१६२१।

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ।
शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ।
अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ।
सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ।
मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ।।[४८]

कुन्ती के बुद्धिमान् पुत्र युधिष्ठिर की शतसहस्र दासियाँ हाथों में भोजन के पात्र लिये दिन-रात अतिथियों को खिलाने में तत्पर रहती थीं । जब इन्द्रप्रस्थवासी राजा युधिष्ठिर यात्रा पर निकलते थे तो शतसहस्र हाथी और शतसहस्र अश्व उनका अनुसरण करते थे । उन दिनों जब युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में रहकर पृथिवी का परिपालन किया करते थे, तब ऐसा उनका वैभव हुआ करता था । और तब मैं ही उन असंख्यात दासियों, अश्वों एवं हाथियों आदि की गणना करती थी । मैं ही उनके लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करती थी और मैं ही उनकी समस्याएँ सुनती थी ।

अन्तःपुर के समस्त वासियों, पाण्डव गृह के सब भृत्यों और गोपालों एवं गडरियों से लेकर समस्त कर्मकारों के समस्त कृत-अकृत की जानकारी मुझे ही रहती थी । मैं ही उनके कार्य की देखभाल करती थी ।

यशस्विनि सत्यभामे! कल्याणि! राजा युधिष्ठिर समेत सब पाण्डव बन्धुओं के समस्त आय-व्यय की जानकारी अकेले मुझे ही हुआ करती थी । वरानने! भरतवंश के ऋषभ पाण्डवों ने गृहस्थ का सारा दायित्व अकेले मुझ पर ही छोड़ रखा था । इस प्रकार बोझ-

[४८] महाभारत *वन* २३३.४९-५४, पृ.१६२२ ।

मुक्त हो वे उपासना में रत रहते थे और अपनी उपासना के अनुरूप कर्मों का ही निर्वाह किया करते थे।

द्रौपदी की दिनचर्या एवं दायित्व के इस विशद वर्णन से स्पष्ट है कि वे पाण्डव कुटुम्ब के प्रमुख की भूमिका निभा रही थीं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वे अन्य सब को भोजन करवाने के उपरान्त ही स्वयं अन्न ग्रहण करती थीं। भोजन सम्बन्धी भारतीय अनुशासन का तो सार ही यह है कि जिस किसी पर अन्यों की देख-भाल एवं भरण-पोषण का दायित्व होता है, वह अपने पर निर्भर अन्य सबके भोजन करने उपरान्त ही भोजन करता है। सामान्यतः अन्य जीवों एवं मनुष्यों का भरण-पोषण करने के गृहस्थ के सहज दायित्व को गृहस्थ दम्पती, गृहस्थ पति और पत्नी दोनों इकट्ठे ही वहन करते हैं। इसीलिये जैसा कि मेधातिथि कहते हैं, उन दोनों का भोजनकाल एक ही होता है। वे दोनों पञ्चमहायज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न कर और इस प्रकार सब का अंश निकाल एवं सब को तृप्त कर कृतकर्मा हो भोजन के लिये बैठते हैं।

विघसाशी भवेन्नित्यम्

मनु गृहस्थ के भोजन सम्बन्धी सूक्ष्मता से क्रमबद्ध एवं विस्तृत इस विधान का समापन करते हुए पुनः इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि अनुशासित गृहस्थ अन्यों को सन्तुष्ट करने के उपरान्त बचे शेष अन्न का ही उपभोग किया करते हैं। गृहस्थ के घर में केवल अपने लिये ही अन्न का पाक नहीं किया जाता, वहाँ तो गृहस्थ की पोषणवृत्ति के आश्रय में आने वाले सृष्टि के समस्त भावों, समस्त जीवों एवं समस्त मनुष्यों के लिये अन्न पकता है। गृहस्थ दम्पती उन सब का अंश निकालकर एवं सब को तृप्त करके ही स्वयं भोजन करते हैं। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ से शेष बचे अन्न को ग्रहण करना ही गृहस्थ दम्पती के लिये धर्मसम्मत भोजन होता है। अन्यों को सन्तुष्ट किये बिना स्वयं भोजन करने वाले गृहस्थ तो केवल पापभक्षण ही किया करते हैं। जैसा कि मनु कहते हैं –

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत्।
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥[४९]

---

[४९] मनुस्मृति ३.११७-११८, पृ.१२६-७।

देवों, ऋषियों, पितरों, भूतों एवं मनुष्यों को विधिपूर्वक अन्न समर्पण करने के पश्चात् बचे शेष अन्न का ही उपभोग करना गृहस्थ के लिये उपयुक्त है।

जो गृहस्थ केवल अपने लिये ही भोजन पकाते हैं वे भोजन का नहीं पाप का ही उपभोग करते हैं, क्योंकि सज्जनों के लिये तो पञ्चमहायज्ञ के अवशिष्ट अन्न का भोग करने का ही विधान है।

मनुस्मृति में पञ्चमहायज्ञ का वर्णन यहीं समाप्त नहीं होता। पञ्चमहायज्ञ के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए और विभिन्न परिस्थतियों में समुचित व्यवहार सम्बन्धी विस्तृत निर्देश देते हुए मनु इसी प्रसङ्ग में प्रायः दो सौ श्लोक और कहते हैं। इतने वृहद् विधान एवं विवेचन के उपरान्त ही मनु अनुशासित गृहस्थ को अपना आशीर्वाद देने के लिये उद्यत होते हैं, और तब वे कहते हैं –

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥[५०]

तुम नित्य विघस एवं अमृत का उपभोग करने वाले बनो। अन्यों को खिलाने के पश्चात् बचा शेष अन्न ही विघस होता है और यज्ञ का अवशिष्ट अन्न निश्चय ही अमृत होता है।

[५०] मनुस्मृति ३.२८५, पृ.२८०।



अध्याय ७

अभृतानां भवेद् भर्ता

निराश्रितों का आश्रय

अभृतानां भवेद् भर्ता भृत्यानामन्ववेक्षकः ।[१]

अपने भृत्यों का तुम अत्यन्त सावधानीपूर्वक भरण-पोषण करो और जिनका भरण करने वाला अन्य कोई न हो, उनके तुम स्वयं भर्ता हो जाओ।

भीष्म पितामह महाभारत के शान्ति पर्व में युधिष्ठिर को राजधर्म की शिक्षा देते हुए यह आदेश देते हैं और इसके अनन्तर शान्ति पर्व का मात्र एक अध्याय छोड़कर हम भीष्म पितामह को ब्रह्मा-कृत नीतिशास्त्र के प्रसङ्ग से प्रायः ठीक यही आदेश दोहराते हुए सुनते हैं।[२]

भीष्म पितामह इस प्रकार राजा युधिष्ठिर को एक महान् गृहस्थ बनने का ही परामर्श दे रहे हैं। उनका आदेश है कि अनुशासित धर्मनिष्ठ राजा बनने के लिये युधिष्ठिर को अनुशासित धर्मनिष्ठ गृहस्थ के ही समान सब के सावधानीपूर्वक भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर ले लेना होगा। वस्तुतः भारतीय परम्परा में राजा किसी बहुत बड़े कुटुम्ब का निर्वाह करने वाले महान् गृहस्थ-सा ही होता है। राजा का गार्हस्थ्य दायित्व निश्चय ही सामान्य गृहस्थ के दायित्व से कहीं गुरुतर होता है। राजा को सामान्य गृहस्थ की भाँति ही अपने आसपास के समस्त जीवों का पोषण तो करना ही होता है और सीधे अपने पर निर्भर अपने भृत्यों के समुचित भरण का प्रबन्ध भी करना ही होता है। परन्तु जैसा कि भीष्म का आदेश है, राजा को अपने राज्य में स्थित उन सब के भरण-पोषण का दायित्व भी उठाना होता है जिनको अपने समाज में भरण का कोई साधन अथवा कोई भर्ता प्राप्त न हो। अपने कुटुम्बियों, भृत्यों एवं अपने घर पर आने वाले

---

[१] महाभारत *शान्ति* ५७.१९, पृ.४५६५।
[२] महाभारत *शान्ति* ५९.५४, पृ.४५७३।

अतिथियों के लिये तो राजा सामान्य गृहस्थ ही है। किसी भी अन्य अनुशासित गृहस्थ की भाँति वह उन सब का सावधानीपूर्वक भरण करता है, उनका अन्ववेक्षक बनता है। परन्तु राजा का दायित्व अपने गृह से आगे पूरे राज्य तक व्याप्त होता है। राज्य में कहीं भी कोई अर्थी हो, उसका भरण करने का दायित्व अन्ततः राजा पर ही आता है। पूरा राज्य ही मानो उसका गृह है। इस महान् गृह का गृही होना, पूरे राज्य का सावधानीपूर्वक भरण करना ही भारतीय परम्परा में राजा का मुख्य धर्म माना गया है।

आर्ष साहित्य में भूखे एवं निराश्रय लोगों के प्रति राजा के दायित्व का निर्देश पुनः पुनः आता है। आर्ष साहित्य का आग्रह है कि यदि राज्य में कहीं कोई भूखा एवं निराश्रय रहने को बाध्य होता है तो उस धर्मविरुद्ध परिस्थिति का पाप राजा के ही सिर पर आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य का प्रमुख गृहस्थ होने के नाते राजा को उन सब सामान्य गृहस्थों के पाप में भागी होना होता है जो अभाव अथवा अज्ञानवश अन्यों का भरण-पोषण किये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करने का पापकर्म करते हैं। इतना ही नहीं, भारतीय परम्परा में तो प्राकृतिक विपदा के समय व्याप्त भूख एवं दारिद्रय का उत्तरदायी भी राजा को ही माना गया है। जैसा कि हम देखेंगे, आर्ष साहित्य में राजा को काल का कारण कहा गया है। अतः काल की विकृति के कारण प्रजा में भरण-पोषण का अभाव होने का दोष भी राजा पर ही आता है।

राजधर्म के सन्दर्भ में धर्मशास्त्रों में दण्ड एवं क्षत्र के धर्मसम्मत वहन का विस्तृत विधान किया जाता है। परन्तु यह तो सर्वदा स्पष्ट रहता है कि दण्ड एवं क्षत्र का वहन राष्ट्ररूपी वृहत् कुटुम्ब के समुचित भरण-पोषण के हित में ही किया जायेगा। दण्ड एवं क्षत्र राजा को मुख्यतः इसीलिये प्राप्त हैं कि इनके अनुशासित उपयोग से वह भरण-पोषण के अपने वृहद् दायित्व की परिधि में आने वाली जीवसृष्टि का निर्वाह अक्षुण्ण बनाये रखे और इस प्रकार एक महान् गृहस्थ होने का अपना उत्तरदायित्व निभाता रहे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तो राजधर्म के अनुशासन का प्रारम्भ ही राजा को एक महान् गृहस्थ के रूप में प्रतिष्ठापित करने के विधान से होता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का महान् गृहस्थ

अन्य धर्मशास्त्रों की भाँति आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी विभिन्न वर्णों एवं विभिन्न आश्रमों के लिये अनुसरणीय दिन प्रति दिन के जीवन के अनुशासन का ही मुख्यतः प्रतिपादन हुआ है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मात्र राजनीति का ग्रन्थ नहीं है। राजधर्म की चर्चा आपस्तम्ब धर्मसूत्र के प्रायः अन्त में आती है। सब वर्णों के सामान्य एवं विशेष धर्मों का प्रतिपादन करने के उपरान्त ही सूत्रकार

राजधर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका सङ्कल्पवाक्य है – व्याख्यातास्सर्ववर्णानां साधारणवैशेषिका धर्मा राज्ञस्तु विशेषाद्वक्ष्यामः ।[3]

राजधर्म का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए आपस्तम्ब सर्वप्रथम राजा को दक्षिणाभिमुख पुर और पुर के मध्य दक्षिणाभिमुख ही अपने निजी गृह वेश्म की स्थापना करने का आदेश देते हैं। इसके अनन्तर राजा को अपने घर पर आने वाले समस्त याचकों एवं अतिथियों के आतिथ्य के लिये एक वृहद् गृह, आवसथ का निर्माण करवाना होता है, और अन्ततः उसे सार्वजनिक कार्यों के लिये सभागृह बनवाना होता है।

आपस्तम्ब का निर्देश है कि इन तीन गृहों का निर्माण करवाने के उपरान्त राजा को इन तीनों ही गृहों में गृह्याग्नि प्रतिष्ठापित करनी चाहिये और इस प्रकार मानो त्रिविध गृहस्थ होकर राज्य का वहन प्रारम्भ करना चाहिये। इस सम्बन्ध में सूत्रवाक्य हैं[4] –

सर्वेष्वेवाऽजस्रा अग्नयस्स्युः ॥

वेश्म, आवसथ एवं सभा तीनों ही गृहों में अजस्र लौकिक अग्नि प्रज्वलित की जाये।

अग्निपूजा च नित्या यथा गृहमेधे ॥

गृहस्थ के लिये नियत विधान के अनुरूप ही राजा इन तीनों अग्नियों की नित्य पूजा करे।

आवसथे श्रोत्रियावराध्यानतिथीन् वासयेत् ॥

आवसथ में श्रोत्रियों एवं अन्य सब अतिथियों को ठहराया जाये।

तेषां यथागुणमावसथाः शय्याऽन्नपानं च विदेयम् ॥

आवसथ में ठहरे अतिथियों के लिये उनके गुणों के अनुरूप उपयुक्त शय्या एवं अन्नपान अर्पण किया जाये।

गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत् ॥

राजा को कदापि अपने गुरुजनों एवं अमात्यों से ऊँचा जीवन नहीं जीना चाहिये, उसे न उनसे श्रेष्ठ भोजन करना चाहिये, न उनसे श्रेष्ठ वस्त्र पहनने चाहियें।

---

[3] आपस्तम्ब २.२५.१, पृ.२८३।

[4] आपस्तम्ब २.२५.६-११, पृ.२८४।

निराश्रितों का आश्रय

> न चास्य विषये क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्यां वाऽवसीदेदभावाद्बुद्धिपूर्वं वा कश्चित् ।।
>
> राजा को यह सर्वदा सुनिश्चित करना चाहिये कि उसके राज्य में कोई भी भूख अथवा रोग से पीड़ित न हो और न ही कोई शीत अथवा आतप का कष्ट झेलने को बाध्य हो। राज्य में कोई किसी भी परिस्थिति में इस प्रकार पीड़ित नहीं होना चाहिये। सामान्य अभाव के कारण अथवा किसी के विरुद्ध विशेषतः लगाए गये दण्ड आदि के कारण भी कोई क्षुधा, रोग, शीत अथवा ताप के कष्ट में तो नहीं पड़ना चाहिये।

राजा के लिये प्रतिपादित इस अनुशासन से स्पष्ट है कि भीष्म पितामह के समान आपस्तम्ब के लिये भी राजा किसी महान् गृहस्थ-सा ही होता है। आपस्तम्ब के इस महान् गृहस्थ का अनुशासन सामान्य गृहस्थ के अनुशासन से कहीं कठिन है। राजा को एक नहीं तीन-तीन गृह्याग्नियों का संरक्षण करना होता है, तीन गृहों के भरण-पोषण का दायित्व उठाना होता है। राजा अपने निजी गृह वेश्म, उसका निजी आतिथ्य पाने वालों के निवास गृह आवसथ और सर्वसाधारण के प्रतिनिधि गृह सभा तीनों का निर्वाह करता है। इतना महान् गार्हस्थ्य दायित्व निभानेवाले गृहस्थ के लिये मर्यादित एवं मितव्ययी होना तो कदाचित् अनिवार्य ही है, अपने गुरुजनों एवं अमात्यों से बढ़कर खाना-पहनना ऐसे गृहस्थ को शोभा नहीं दे सकता। उसे तो सर्वदा संयम से रहते हुए सावधानीपूर्वक पूरे राष्ट्र का भरण करना होता है, सतत इस प्रयास में लगे रहना होता है कि राष्ट्र में कहीं कोई भूखा-प्यासा न रह जाये, सब आधि-व्याधि से बचे रहें और कोई भी ऐसा दरिद्र न हो कि शीत-आतप से भी अपनी रक्षा न कर पाये।

महाभारत के महान् गृहस्थ राजा युधिष्ठिर

वनवासी युधिष्ठिर की चिन्ता

महाभारत के आदर्श राजा तो युधिष्ठिर ही हैं और राजा युधिष्ठिर को राजाओं के बल-वैभव एवं ठाठ-बाट का किञ्चित् भी मोह नहीं है। राजा युधिष्ठिर अनेक वर्षों तक राज्य से निर्वासित रहते हैं, इस लम्बी अवधि में उन्हें अपने राजसी बल-वैभव के खो जाने का कभी कोई खेद हुआ हो, ऐसा तो नहीं दिखायी देता। वस्तुतः महाभारत युद्ध में विजयी होकर जब वे अपना अधिकार पुनः प्राप्त कर लेते हैं तब भी वे राजसिंहासन के प्रति अनासक्त ही दिखायी देते हैं। अनन्त धैर्यशीला द्रौपदी, दीर्घ वनवास एवं भीषण युद्ध के कष्टों से निकले पाण्डव बन्धुओं, विद्वान्

पितामह भीष्म, अनेक सुहृद् महर्षियों और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के पुनः पुनः आग्रह करने के उपरान्त ही युधिष्ठिर अपने-आप को राजसिंहासन पर बैठने के लिये उद्यत कर पाते हैं।

ऐसे अनासक्त एवं मोहरहित राजा युधिष्ठिर भी अन्यों का और विशेषतः अपने पर निर्भर भृत्यों एवं अनुयायिओं का भरण-पोषण करने के गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसीलिये वनपर्व के आरम्भ में हम युधिष्ठिर को अपनी नितान्त अर्थाभाव की स्थिति के प्रति क्षुभित होते हुए देखते हैं। यह महाभारत में कदाचित् एकमात्र ऐसा प्रसङ्ग है जहाँ युधिष्ठिर अपना राज्य छिन जाने के लिये दुःख व्यक्त करते हैं। परन्तु उन्हें दुःख राजसी बल-वैभव एवं धन-सम्पदा के खो जाने का नहीं, अपितु अन्यों के भरण-पोषण के लिये समुचित साधनों के अभाव का ही है। जब ऋषि शौनक और स्वेच्छा से वन में उनका अनुगमन करने वाले अन्य विप्र भौतिक वैभव की निस्सारता की शिक्षा देकर उन्हें सान्त्वना देने की चेष्टा करते हैं तब युधिष्ठिर उन्हें यही कहते हैं कि वे लोभवश नहीं, अन्यों के भरण का गार्हस्थ्य दायित्व निभाने के लिये ही भौतिक साधनों की आकाङ्क्षा कर रहे हैं। युधिष्ठिर के अपने शब्दों में –

> नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
> भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ॥[५]
>
> ब्रह्मन् शौनक! मुझ में धन प्राप्त करने की यह जो इच्छा जागृत हो रही है वह स्वयं अर्थोपभोग में रत होने की लालसा से नहीं उठी। मैं लोभवश नहीं अपितु विप्रों के भरण-पोषण के लिये ही धन की आकाङ्क्षा करता हूँ।
>
> कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे।
> भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ॥[६]
>
> ब्रह्मन्! यह कैसे हो सकता है कि गृहस्थाश्रम में रहने वाला मेरे जैसा कोई गृही अपने अनुयायिओं का भरण-पोषण भी न करे?

आगे युधिष्ठिर राजा के गार्हस्थ्य दायित्व का विशद वर्णन करने लगते हैं और उनका यह वर्णन सामान्य गृहस्थ के मनुप्रणीत अनुशासन से भिन्न नहीं दिखता। वस्तुतः युधिष्ठिर यहाँ प्रायः उन्हीं शब्दों का उपयोग करते सुनायी देते हैं जिन्हें पहले हम मनुस्मृति के पञ्चयज्ञानुशासन के सन्दर्भ में सुन चुके हैं। युधिष्ठिर कहते हैं –

---

[५] महाभारत *वन* २.५१, पृ.९५२।
[६] महाभारत *वन* २.५२, पृ.९५२।

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥[७]

सब पदार्थों में सभी भूतों का भाग हुआ करता है। इसलिये गृहस्थ के लिये यह अनुशासन है कि वह अपने भोजन में से उन सब के लिये समुचित अंश अर्पित करे जो स्वयं अन्न नहीं पकाया करते।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥[८]

आसन के लिये भूमि, स्नानादि के लिये जल, सोने के लिये तृणों की शय्या और चौथे, स्नेहसिक्त वाणी, इन चार का तो सज्जनों के घर में कभी अभाव नहीं हुआ करता।

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥[९]

रोगी के लिये शय्या, श्रान्त के लिये आसन, प्यासे के लिये पानी और भूखे के लिये भोजन तो सर्वदा देना ही होता है।

गृहस्थ के अन्य सब का और विशेषतः अतिथियों एवं अभ्यागतों का समुचित भरण-पोषण करने के दायित्व का स्मरण युधिष्ठिर इसी प्रकार अनेक श्लोकों में करते हैं। अन्त में वे ऋषि शौनक से कहते हैं कि अन्यों का भरण करना तो गृहस्थ का अनन्य धर्म है, क्या शौनक अब इस अर्थाभाव के समय उन्हें इस धर्म की उपेक्षा करने का परामर्श दे पायेंगे? युधिष्ठिर पूछते हैं –

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे।
तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ॥[१०]

विप्र! जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए अन्यों के भरण-पोषण की इस वृत्ति का निर्वाह करता रहता है उसे निश्चय ही परम धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। आपकी इस विषय में क्या सम्मति है?

---

[७] महाभारत *वन* २.५३, पृ.९५२।
[८] महाभारत *वन* २.५४, पृ.९५२।
[९] महाभारत *वन* २.५५, पृ.९५२।
[१०] महाभारत *वन* २.६३, पृ.९५३।

युधिष्ठिर अपने अनुयायियों के भरण का दायित्व किसी भी स्थिति में छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हैं। इस वृत्ति के पालन के लिये समुचित साधन प्राप्त करने के प्रति उनका आग्रह अत्यन्त उत्कट है। वे इस विषय में सतत चिन्ता करते रहते हैं। अन्ततः उनके कुलपुरोहित धौम्य उन्हें सूर्य भगवान् का आश्रय लेने को कहते हैं। धौम्य युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जब सब प्राणी भूख से व्याकुल हो रहे थे तो सूर्य ने ही अपनी किरणों से जलरूपी रस को खींच कर पुनः उस रस से पृथिवी को सींचा था। सूर्य के इस उपकार से ही पृथिवी पर खेत सम्भव हुए और अन्न की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सब भूतों के प्राण की रक्षा करने वाले भगवान् सूर्य सब के पिता समान हैं, और सब के प्राणों का धारक अन्न सूर्यरूप ही है। इसलिये युधिष्ठिर को सूर्य की ही उपासना करनी चाहिये। ऋषि धौम्य कहते हैं –

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज ॥[११]

समस्त भूतों के प्राणों को धारण करने वाला, सब के जीवन का प्राणरक्षक अन्न भानुमय ही है, सूर्य से ही उसका उद्भव हुआ है। इस प्रकार सूर्य सब भूतों के पिता समान ही हैं। अतः उन्हीं सूर्य भगवान् की शरण में जाओ।

सूर्य के अन्न का स्रष्टा होने और इसलिये समस्त अन्न के भानुमय होने का यह बोध आर्ष साहित्य में अनेक स्थानों पर व्यक्त होता है। पहले हम श्रीकृष्ण को अन्न के सूर्य से सम्भव होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सुन चुके हैं और अगले अध्याय में हम उपनिषद् से इसी शिक्षा का श्रवण करेंगे। परन्तु अभी युधिष्ठिर के निर्वासन के प्रारम्भिक दिनों की कथा को आगे बढ़ाया जाये।

अपने अनुयायिओं के भरण-पोषण के लिये समुचित साधन जुटाने के लिये व्यग्र युधिष्ठिर ऋषि धौम्य का परामर्श मानकर अत्यन्त कठिन तप का आश्रय लेते हुए भगवान् सूर्य की उपासना में लीन हो गये। अन्ततः सूर्य भगवान् युधिष्ठिर के तप एवं उपासना से प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वयं प्रकट होकर युधिष्ठिर को अक्षयपात्र भेंट करते हुए वर दिया कि जब तक द्रौपदी इस पात्र से अन्न परोसती रहेंगी तब तक इस पात्र से अक्षय भोजन उपलब्ध होता रहेगा, प्रतिदिन सब को भोजन करवाने के उपरान्त जब द्रौपदी स्वयं भोजन ग्रहण करेंगी तभी इस पात्र में भोजन समाप्त हुआ करेगा।

---

[११] महाभारत *वन* ३.९, पृ.९५५।

निराश्रितों का आश्रय

इस प्रकार अक्षयपात्र प्राप्त करने और उसके प्रभाव से अपने भृत्यों, अनुयायियों एवं अपने पास आने वाले अतिथियों-अभ्यागतों के समुचित भरण-पोषण का सामर्थ्य पाने के उपरान्त ही युधिष्ठिर स्वस्थ हो निर्वासित जीवन में रमने लगते हैं। वे राजसी बल-वैभव का त्याग करते हुए तो किञ्चित् भी शोक नहीं करते, परन्तु न्यायसम्मत राजा होने के नाते उन पर महान् गृहस्थ का जो दायित्व आता है उसे छोड़ने को वे कदापि तत्पर नहीं हो पाते। अपने निर्वास के पहले बारह वर्ष तो वे पर्याप्त बड़ा और कदाचित् राजसी घर-द्वार चलाते ही दिखते हैं। निर्वास के अन्तिम वर्ष-भर की अवधि में जब पाण्डव विराट के भृत्य होकर रहते हैं, केवल तभी वे महान् गृहस्थ के दायित्व का ठीक से निर्वाह करने में असमर्थ हुए दिखायी देते हैं।

इन्द्रप्रस्थ का महान् गृहस्थ

वन पर्व में बहुत आगे चलकर द्रौपदी-सत्यभामा संवाद पर्व आता है। इस अत्यन्त सशक्त संवाद के कुछ अंशों को हम पिछले अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। वहाँ द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं कि कैसे वे वन में भी गृहस्थ के अनुशासन का अनुसरण करती हैं, कैसे वे स्वयं भोजन करने से पहले भृत्यों एवं अतिथियों को विधिपूर्वक भोजन करवाती हैं और कैसे वे प्रतिदिन श्राद्ध, भिक्षा, बलि आदि गार्हस्थ्य नित्यकर्मों का सम्पादन करती हैं। इसी प्रसङ्ग में वे उन दिनों का स्मरण करती हैं जब युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में राजसिंहासन पर आरूढ हो गृहस्थाश्रम का निर्वाह करते थे। द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं कि कैसे इन्द्रप्रस्थ के उनके महान् घर-द्वार में सहस्रों ब्राह्मण, स्नातक एवं यति आश्रय एवं भोजन पाते थे और कैसे वहाँ दिन-रात आने वाले असंख्य अतिथियों के स्वागत-सत्कार के लिये शतसहस्रों सुसज्जित महिलाएँ हाथों में भोजन के थाल लिये सदैव तत्पर खड़ी रहती थीं।[१२]

द्रौपदी को राजसी घर-द्वार का ही नहीं, राजसी बल-वैभव का भी ध्यान रहता है। महाभारत के प्रमुख पात्रों में से कदाचित् द्रौपदी और श्रीकृष्ण ही ऐसे हैं जिनमें बल के सम्यक् सङ्ग्रह एवं सम्यक् नियोजन के प्रति किसी प्रकार की कोई दुविधा नहीं है। इन्द्रप्रस्थ में बिताये अपने दिनों का स्मरण करते हुए द्रौपदी केवल घर-द्वार की बातें ही नहीं करतीं, वे सत्यभामा को उन सहस्रों युद्धवीर राजओं के विषय में भी बताती हैं जो इन्द्रप्रस्थ आकर राजा युधिष्ठिर के चरणों में बैठा करते थे, और वे उन विपुल बलशाली महाराज युधिष्ठिर का भी स्मरण करती हैं जिनके यात्रा पर निकलने पर शतसहस्र अश्व एवं शतसहस्र हाथी उनका अनुसरण करते थे। इन्द्रप्रस्थ के चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिर के अतुलनीय बल-वैभव का वे अपने निर्वास की अवधि

[१२] महाभारत *वन* २३३, पृ. १६१८-२२।

में एकदा पुनः भी स्मरण करती हैं – विराट पर्व में विराट राज्य के बलशाली परन्तु कामुक सेनापति कीचक के अपमानजनक व्यवहार का प्रतिकार करने के लिये भीमसेन को प्रेरित करते हुए द्रौपदी इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों के उसी बल-वैभव का ही आह्वान करती हैं।[13]

परन्तु द्रौपदी की प्रियतम स्मृतियाँ तो इन्द्रप्रस्थ के उस महान् घर-द्वार की हैं जहाँ दिन-रात अतिथि एवं अभ्यागत आते रहते थे और उन सब के लिये सर्वदा भोजन उपलब्ध रहता था, उस उदार घर-द्वार की जहाँ आकर न केवल विद्वान् एवं यति-संन्यासी ही आश्रय एवं भोजन पाते थे अपितु वृद्ध, बालक और रोगी भी और जिनका कहीं कोई शरण स्थान नहीं था, जिनका भरण करने वाला अन्य कोई नहीं था, वे सब जहाँ पहुँचकर सादर आश्रय एवं भरण-पोषण को प्राप्त हो जाते थे। सत्यभामा को अपनी दिनचर्या के विषय में बतलाते हुए वे सब आने वालों का भरण-पोषण करने वाले उस घर-द्वार का ही अधिकतर स्मरण करती हैं, उस घर के उदार गृहस्थ एवं चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर के बल-वैभव की चर्चा तो वे प्रसङ्गवश ही करती दिखायी देती हैं। विराट पर्व में भयङ्कर विपत्ति एवं अवमान की परिस्थिति में होते हुए भी द्रौपदी को इन्द्रप्रस्थ के महान् बलशाली राजा युधिष्ठिर का उतना स्मरण नहीं होता जितना इन्द्रप्रस्थ के महान् एवं अत्यन्त उदार गृहस्थ युधिष्ठिर का होता है।

कुन्ती की प्रेरणा

महाभारत में और आगे उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण आसन्न युद्ध को टालने का एक और प्रयास करने हस्तिनापुर आते हैं। उस समय कुन्ती श्रीकृष्ण के माध्यम से युधिष्ठिर को सन्देश भेजती हैं कि उनके लिये क्षत्रियोचित शौर्य से अपना राज्य पुनः प्राप्त करना ही शोभनीय है। कुन्ती श्रीकृष्ण से युधिष्ठिर के समक्ष यह स्पष्ट करने के लिये कहती हैं कि सब परिस्थितियों में शान्ति बनाये रखने का युधिष्ठिर का आग्रह न तो युक्तियुक्त है और न ही उस राजधर्म के अनुरूप जिसकी शिक्षा उनके पूर्वज सर्वदा देते आये हैं और जिस पर सम्यक् आचरण की अपेक्षा उन्हें अपनी सन्तान से सतत रहती है। इस प्रकार कुन्ती युधिष्ठिर को सीधे-सीधे युद्ध के लिये प्रेरित करते हुए दिखायी देती हैं।

परन्तु यह भीषण युद्ध युधिष्ठिर को इसलिये लड़ना है कि वे राज्य जीतकर राष्ट्र के भरण-पोषण के अपने दायित्व का समुचित निर्वाह करने का अवसर पा सकें। राष्ट्र के भरण का जो वर्णन कुन्ती करती हैं वह किसी महान् गृहस्थ के अनुशासित जीवन से भिन्न नहीं है। कुन्ती अपने पुत्र को युद्ध के लिये इसलिये प्रेरित कर रही हैं कि वह महान् गृहस्थ के अनुशासन का

[13] महाभारत *विराट* १८, पृ.१८९६-९९।

पालन कर सके, गृहस्थ के लिये नियत यज्ञों का सम्पादन करते हुए अपनी ओर दृष्टि लगाये रहने वाले राष्ट्र का समुचित भरण कर सके। श्रीकृष्ण के माध्यम से युधिष्ठिर को भेजा गया कुन्ती का सन्देश है कि –

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया।
यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया।
नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्।
एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः।
यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ।।[१४]

न तुम्हारे पिता पाण्डु ने, न पितामह भीष्म ने और न मैंने ही कभी तुम्हें उस मार्ग पर चलने के लिये आशीर्वाद दिया है जिस पर चलते तुम दिखायी देते हो। मैंने तो सर्वदा तुमसे यज्ञ, दान एवं तप की ही अपेक्षा की है, तुम्हें नित्य शौर्यवान्, प्रज्ञावान् एवं सन्तानवान् होने का ही आशीर्वाद दिया है और तुम में बल, ओज एवं माहात्म्य देखने की ही आशा मैं करती रही हूँ।

मैंने सर्वदा यही कामना की है कि शुभ ब्राह्मण तुम्हारे लिये नित्य होम एवं तर्पण करते रहें और तुमसे सम्यक् आराधना स्वीकार कर तुम्हें दीर्घायु एवं विपुल धनवान् तथा पुत्रवान् होने का आशीर्वाद देते रहें। पितरों और देवों की तो सदा यही अपेक्षा होती है कि उनकी सन्तानें यज्ञ, दान एवं अध्ययन में रत रहकर सावधानीपूर्वक प्रजा का पालन करती रहेंगी।

---

[१४] महाभारत *उद्योग* १३२.२३-२८, पृ.२३९७।

श्रीकृष्ण! आप तो सहज ही यह जानते हो कि जो मैं कह रही हूँ वह धर्मसम्मत है अथवा धर्मविरुद्ध। परन्तु तात! पाण्डव उत्तम कुल में उत्पन्न होकर और विभिन्न विद्याओं में पारङ्गत होकर भी अवृत्ति से पीड़ित रहते हैं, वे सम्यक् कर्म करने के लिये उद्यत ही नहीं हो पाते। धर्म की स्थापना तो तभी होती है जब पृथिवी के क्षुधित लोग किसी दानपति शूरवीर को पाकर उसके माध्यम से सन्तुष्टि को प्राप्त होते हैं। दानपति शूरवीर के ऐसे कर्म से ऊँचा धर्म भला अन्य क्या हो सकता है?

हस्तिनापुर के महान् गृहस्थ युधिष्ठिर

महाभारत में बहुत आगे महाभारत युद्ध की समाप्ति के उपरान्त शान्ति पर्व के प्रारम्भ पर हम द्रौपदी एवं पाण्डव बन्धुओं को युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का राजसिंहासन स्वीकार करने का आग्रह करते हुए सुनते हैं। वहाँ संन्यास के प्रति आकृष्ट युधिष्ठिर को राज्य का दायित्व सँभालने के लिये मनाते हुए पाण्डव बन्धु पुनः पुनः महान् गृहस्थ के वैभव और पुण्य की ही चर्चा करते दिखते हैं। यह सत्य है कि इस अवसर पर द्रौपदी गृहस्थ जीवन के माहात्म्य से विशेष प्रभावित नहीं दिखतीं। युधिष्ठिर के संन्यास के प्रति असामयिक आकर्षण एवं आग्रह से वे अत्यन्त खिन्न हैं। अपनी इस आत्मवञ्चनात्मक वृत्ति से युधिष्ठिर को लौटाने के लिये वे उनके शौर्य एवं प्रज्ञा को ललकारती हैं और अपने भाइयों के बाहुबल से विजित राजशक्ति का समुचित उपभोग करने का आह्वान करती हैं। वे इस अवसर पर युधिष्ठिर को अन्यों के भरण का दायित्व निभाने वाले किसी महान् गृहस्थ के रूप में ही नहीं, अपितु ऐसे बलशाली महान् राजा के रूप में भी देखना चाहती हैं जिसके समक्ष पृथिवी के अन्य राजा श्रद्धा से झुक जाते हों।

परन्तु युधिष्ठिर के भाई तो उन्हें संन्यास के मार्ग से निवृत्त कर महान् गृहस्थ का दायित्व सौंपने में ही सन्तुष्ट दिखते हैं। वे धर्म के पक्ष में राजशक्ति का उपयोग करने के राजा के दायित्व की बात तो करते हैं, पर अधिकतर वे पितरों एवं देवों को तृप्त करने, भृत्यों का पालन करने और अतिथियों एवं अभ्यागतों का समुचित आतिथ्य करने के गार्हस्थ्य दायित्वों की ही चर्चा करते हैं। अर्जुन और नकुल इस अवसर पर गृहस्थाश्रमधर्म की सुदीर्घ व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, और महान् बाहुबल के धनी भीमसेन भी राजशक्ति का सम्यक् नियोजन करने के लिये नहीं अपितु अन्यों का भरण करने का अवसर पाने के लिये ही युधिष्ठिर से हस्तिनापुर का राज्य स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो पाण्डव बन्धु युधिष्ठिर को हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर नही कुरुवंश के प्रमुख गृहस्थ के पद पर आसीन होने के लिये ही आमन्त्रित कर रहे हों।[१५]

[१५] महाभारत *शान्ति* ७ से १८, पृ.४४३५-४४६३।

निराश्रितों का आश्रय

भीष्म का आशीर्वाद

भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजधर्म की दीर्घ शिक्षा देते हुए निश्चय ही राजपद के सभी पक्षों का और सभी दायित्वों का विवेचन करते हैं। राजधर्म की इस दीर्घ व्याख्या से भौतिक जीवन के अनुशासन से सम्बन्धित धर्म का सम्पूर्ण वर्णन हो जाता है, इस विषय में जो भी जानने योग्य है वह कह दिया जाता है। राजधर्म के इस वृहद् विवेचन में भीष्म पितामह अनेक स्थानों पर राजा के महान् गार्हस्थ्य दायित्व का विषय उठाते हैं। अनेक अवसरों पर वे युधिष्ठिर को स्मरण कराते हैं कि राजा को तो सब के भरण-पोषण का बोझ उठाना होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने भीष्म को युधिष्ठिर से यह आग्रह करते सुना है कि वे ऐसे महान् गृहस्थ बनें जिसकी भरण वृत्ति से उनके भृत्य तो फले-फूलें हीं, साथ ही जिनका अन्य कोई भर्ता न हो वे भी भरण-पोषण पा जायें। इस सम्बन्ध में हमने भीष्म पितामह का जो वाक्य उद्धृत किया है, अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः, वह शान्ति पर्व के प्रायः प्रारम्भ में ही आता है। जैसा कि सर्वविदित है भीष्म पितामह का यह उपदेश प्रायः सम्पूर्ण शान्ति पर्व और सम्पूर्ण अनुशासन पर्व में चलता है। इस इतने विस्तृत उपदेश के अन्त में हम भीष्म को युधिष्ठिर के लिये इस प्रकार आशीर्वाद देते हुए सुनते हैं –

क्षत्रधर्मरतः पार्थ पितॄन् देवांश्च तर्पय।
श्रेयसा योक्ष्यसे चैव व्येतु ते मानसो ज्वरः।
रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय।
सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः।
अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ॥[१६]

पृथु के वंशज युधिष्ठिर! क्षत्रिय धर्म में सर्वथा रत रहो। पितरों एवं देवों को तर्पण-होमादि से सन्तुष्ट करते रहो। तुम निश्चय ही श्रेयस् को प्राप्त होओगे। अतः अपने मानसिक ज्वर से मुक्त हो स्वस्थ हो जाओ।

प्रजाओं का रञ्जन करो, उन्हें प्रसन्न रखो। राज्य के सभी अङ्गों को प्रोत्साहन दो। अपने सुहृदों की समुचित सम्मान-सत्कार से एवं उपयुक्त उपहारों से यथेष्ट अर्चना करते रहो।

---

[१६] महाभारत *अनुशासन* १६६.११-१३, पृ.६०९२।

तात युधिष्ठिर! जिस प्रकार चैत्यस्थान में खड़े किसी फलवान् वृक्ष पर अनेक पक्षी आश्रय पाते हैं वैसे ही अनेक सुहृद्-मित्र तुम्हारे आश्रय में जीवन निर्वाह करें।

निराश्रयों का आश्रय

राजा के सब के भरणकर्ता गृहस्थ वाले रूप के लिये चैत्यस्थान पर खड़े फलवान् वृक्ष की उपमा विशेषतः सटीक है। वैसे तो सब गृहस्थ फलों से लदे घने वृक्ष के समान ही होते हैं, उनके घर पर आने वाले सब को अशन एवं आश्रय मिलता ही है। परन्तु सामान्य गृहस्थ अपने गृह के आङ्गन में उगे वृक्ष के समान है, उसके घर-द्वार की पहुँच में आने वालों का ही वहाँ भरण-पोषण हो पाता है। दूसरी ओर राजसी गृहस्थ तो चैत्यस्थान पर, सार्वजनिक स्थल पर खड़ा वृक्ष होता है। उसकी भरणवृत्ति की पहुँच की कोई सीमा नहीं होती। उस सार्वजनिक वृक्ष पर तो अशन एवं आश्रय के प्रत्येक अर्थी का स्वागत है। सामान्य गृहस्थ अपने भृत्यों का और अपने आङ्गन तक आने वाले अतिथियों का भरण करता है। राजा उन सब का भी भरण करता है जिनका कोई भर्ता नहीं होता, जिनका अपना कोई घर-आङ्गन नहीं होता और जिनकी अन्य किसी आङ्गन तक पहुँच नहीं होती।

इस प्रकार निर्बलों एवं दरिद्रों के भरण के प्रति राजा विशेषतः उत्तरदायी होता है। उसे निर्बलों का बल एवं निराश्रयों का आश्रय बनना होता है। शान्ति पर्व के एक प्रारम्भिक अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को राजोचित पुर एवं गृह-द्वार बसाने के अनुशासन की शिक्षा देते हुए राजा के निर्बलों एवं दरिद्रों के प्रति विशेष दायित्व की ओर युधिष्ठिर का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस सन्दर्भ में भीष्म पितामह का निर्देश है –

> कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
> योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥[१७]

> दीन-दरिद्र, अनाथ एवं वृद्ध जनों और विधवा स्त्रियों के लिये समुचित साधनों के सञ्चय, उनके सञ्चित साधनों के संरक्षण एवं उनकी दिन प्रति दिन की जीविका का प्रबन्ध तो सदैव ही करते रहना चाहिये।

अग्निपुराण, मत्स्यपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में राजाओं के अनुशासन के सन्दर्भ में

---

[१७] महाभारत *शान्ति* ८६.२४, पृ.४६४८।

भीष्म पितामह के इस निर्देश को प्रायः इन्हीं शब्दों में पुनः कहा गया है।[१८] गौतम इसी अनुशासन को अनुल्लङ्घनीय आदेशवाक्य में व्यक्त करते हैं। गौतमधर्मसूत्र का आदेश है – बिभृयाद्ब्राह्मणान् श्रोत्रियान्,ब्राह्मणों एवं श्रोत्रियों का भरण-पोषण करो और, निरुत्साहांश्चाब्राह्मणान्, ब्राह्मणों से इतर जो जन साधन एवं वृत्ति से विहीन हों उन सब का भी भरण-पोषण करो।[१९]

आर्ष साहित्य में राजा के सभी साधनहीन लोगों का भरण करने के धर्म की शिक्षा विभिन्न अवसरों पर विभिन्न रूपों में पुनः पुनः दी जाती है। स्वयं भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए उपरोक्त वाक्य के किञ्चित् ही अनन्तर इसी शिक्षा को कुछ भिन्न रूप में पुनः प्रतिपादित करते हैं। इस अवसर पर, पूर्वकाल में ऋषि उतथ्य द्वारा राजा मान्धाता को दी गयी शिक्षा का उद्धरण देते हुए भीष्म कहते हैं –

> संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
> तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥[२०]
>
> राजा जब सब वस्तुओं में से दुर्बल जनों के लिये समुचित भाग निकालने के उपरान्त ही स्वयं उन वस्तुओं का उपभोग करता है तब दुर्बल भी बलवान् हो जाते हैं। इसी को राजा का धर्म कहा जाता है।
>
> कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
> हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥[२१]
>
> जब राजा दीन-दरिद्रों, अनाथों एवं वृद्धों के अश्रु पोंछता है और प्रजा के हृदय में हर्ष का सञ्चार करता है, तो वह धर्मसम्मत कार्य ही करता है। ऐसे व्यवहार को ही राजा का धर्म कहा गया है।

दुर्बलों के बल के स्रोत के रूप में राजा की जो छवि ऋषि उतथ्य राजा मान्धाता के समक्ष रखते हैं, वह भी आर्ष साहित्य में अनेक अवसरों एवं अनेक स्थानों पर उभरती दिखायी देती है। इस प्रकार पद्मपुराण में इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि –

---

[१८] अग्नि २२५.२५, पृ.१०५४, मत्स्य २१५.६१, पृ.२४४, विष्णुधर्मोत्तर २.६५.५४, पृ.२२१।
[१९] गौतम १०.९-१०, पृ.१५९-६०।
[२०] महाभारत *शान्ति* ९१.३३, पृ.४६६१।
[२१] महाभारत *शान्ति* ९१.३८, पृ.४६६१।

निराश्रयों का आश्रय

दुर्बलस्य त्वनाथस्य राजा भवति वै बलम्।
अचक्षुषो भवेच्चक्षुरगतौ च गतिर्भवेत् ॥[२२]

राजा निर्बलों का बल एवं अनाथों का नाथ होता है। अन्धों के लिये राजा ही चक्षु बन जाता है। वस्तुतः जिन की अन्य कहीं गति नहीं होती वे भी राजा से गति प्राप्त कर जाते हैं।

दुर्बलों एवं निराश्रयों के प्रति राजा के विशेष दायित्व के इस विशिष्ट भारतीय बोध को अग्निपुराण में और भी भावपूर्ण अभिव्यक्ति दी गयी है। अग्निपुराण राजा को परामर्श देता है कि वह उस जलगर्भित मेघ के समान बन जाये जिससे सम्पूर्ण पृथिवी रसाविष्ट हो सन्तुष्टि को प्राप्त होती है। अग्निपुराण का आदेश है – आजीव्यः सर्वसत्त्वानां राजा पर्जन्यवद्भवेत्।[२३] धर्मनिष्ठ राजा के लिये जलगर्भित मेघ की उपमा केवल अग्निपुराण में ही नहीं पायी जाती। यह भी राजा के सम्बन्ध में आर्ष साहित्य की प्रिय छवि है। इसी छवि को उभारते हुए व्यासस्मृति में कहा गया है – पर्जन्य इव लोकानामाधारः पृथिवीपतिः।[२४]

रघुवंश में महाकवि कालिदास राजा की सब को रसाविष्ट कर देने वाली इस छवि को एक अन्य उपमा के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। राजा दिलीप की सम्पूर्ण पृथिवी के भरणकर्ता सूर्य से उपमा देते हुए कालिदास कहते हैं –

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥[२५]

जिस प्रकार सूर्य पृथिवी से आकृष्ट रस को सहस्रगुण कर पृथिवी पर ही बरसा देता है, वैसे ही राजा दिलीप प्रजा के वैभव की वृद्धि के लिये ही उनसे अपना अंश लेकर उसे सहस्रगुण लौटा देते थे।

राजा प्रजा की समृद्धि एवं कुशल-क्षेम में बहुशः वृद्धि करके ही प्रजा की आय से अपना अंश पाने का अधिकारी होता है। वस्तुतः प्रजा से अंश ग्रहण करके वह सम्पूर्ण प्रजा के भरण-पोषण के लिये उत्तरदायी हो जाता है। राजा की भूमिका के सम्बन्ध में यही सनातन भारतीय बोध है।

---

[२२] पद्म १.३७.८८, पृ.१११।
[२३] अग्नि २३९.४३, पृ.११२४, इसी सन्दर्भ में देखिये, कामन्दकी ५.६०, पृ.१२९।
[२४] राजनीति पृ.४, इसी सन्दर्भ में देखिये, कामन्दकी १.१३, पृ.१२।
[२५] रघुवंश १.१८, पृ.८।

निराश्रितों का आश्रय

वार्ता एवं कृषि का संरक्षक

भरण-पोषण के साधनों से वञ्चित सब जनों के भरण का प्रबन्ध करने के अनुल्लङ्घनीय दायित्व का समुचित निर्वाह करने के प्रति सजग भारतीय राजा सर्वदा ऐसा प्रयास करते आये हैं कि उनके राज्य में सर्वत्र सुभिक्ष एवं समृद्धि का प्रसार होता रहे, और कहीं कोई दरिद्र अथवा वृत्तिरहित न रहे। धर्मनिष्ठ राजा से सर्वदा यह अपेक्षा की जाती रही है कि प्रजा की जीविका के निर्वाह से सम्बन्धित कार्यों में वह किसी प्रकार का अवरोध नहीं आने देगा, प्रजा की जीविका का संरक्षण करता रहेगा।

सम्प्रति जिन कार्यकलापों को हम अर्थव्यवस्था की संज्ञा देते हैं, उन्हें भारतीय परम्परा में 'वार्ता' के नाम से ज़ाना जाता रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य तीनों ही वार्ता हैं, कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।[२६] वार्ता के ये तीन अङ्ग ही मुख्य आर्थिक कार्य होते हैं, प्रजा की जीविका के यही मुख्य साधन हैं, और आर्ष साहित्य में राजा को धर्म एवं वार्ता दोनों का ही संरक्षक माना गया है। उदाहरणतः, इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रतिपादन है कि प्रजा का परिपालन ही राजा का प्रधान कर्तव्य हुआ करता है, प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्, और विज्ञानेश्वर अपने 'मिताक्षरा' भाष्य में याज्ञवल्क्य के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि प्रजा के परिपालन का अर्थ धर्म एवं जीविका दोनों का ही संरक्षण करना होता है – क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च।[२७]

इसी प्रसङ्ग में कामन्दकीय नीतिसार का प्रतिपादन कदाचित् और भी सुस्पष्ट है। वहाँ कहा गया है –

> आयत्तं रक्षणं राज्ञि वार्ता रक्षणमाश्रिता।
> वार्तान्च्छेदे हि लोकोऽयं श्वसन्नपि न जीवति ॥[२८]

प्रजा एवं राष्ट्र का रक्षण राजा के अधीन होता है और वार्ता रक्षण के अधीन होती है। राजा से रक्षण सम्भव होता है और रक्षण से ही वार्ता सम्भव होती है। वार्ता के अवरुद्ध होने पर तो यह लोक मृतवत् ही हो जाता है, ऐसी स्थिति में प्रजा साँस लेते हुए भी जीवित तो नहीं मानी जा सकती।

---

[२६] अर्थशास्त्र १.४.१, पृ.१५।

[२७] याज्ञवल्क्य १.११९, पृ.५३।

[२८] कामन्दकी १.१२, पृ.११-१२।

वार्ता एवं कृषि का संरक्षक

वार्ता के महत्त्व का इतना गहन बोध रखते हुए भारतीय ऋषि-मुनि अपने अनुयायी राजाओं को वार्ता के और विशेषतः कृषि के संरक्षण की शिक्षा सतत देते रहते हैं। स्वयं भीष्म पितामह भी युधिष्ठिर को इस विषय में पुनः पुनः सतर्क करते रहते हैं। शान्ति पर्व के एक प्रायः प्रारम्भिक अध्याय में युधिष्ठिर के लिये वार्ता एवं विशेषतः कृषि के महत्त्व का विशद विवेचन करते हुए वे कहते हैं –

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।।[२९]

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य तो इस लोक में प्रजा का जीवन ही हैं।

कच्चित् ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः ।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ।।[३०]

कहीं ऐसा तो नहीं कि जो वैश्य लोग ऊँचे-नीचे भाव पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हुए अनेक दुर्गम प्रदेशों में घूमते रहते हैं, वही तुम्हारे राष्ट्र में असह्य कर के बोझ से उद्विग्न हो रहे हों?

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः ।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि ।
इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा ।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ।।[३१]

कहीं कृषक तुम्हारे असह्य आहरण से पीड़ित हो राष्ट्र छोड़कर तो नहीं जा रहे? निश्चय ही कृषक ही राजा का बोझ अपने कन्धों पर उठाते हैं और वही राष्ट्र में अन्य सब का भरण करते हैं। उनके दिये अन्न से ही देवता एवं पितर और मनुष्य, गन्धर्व, राक्षस, पशु एवं पक्षी सब-के-सब जीवन धारण करते हैं।

भीष्म पितामह के इस उपदेश से बहुत पहले महाभारत के सभा पर्व में जब नारदमुनि युधिष्ठिर को मिलने इन्द्रप्रस्थ आते हैं, तब वे भी राष्ट्र के विभिन्न पक्षों के कुशल-मङ्गल की ओर युधिष्ठिर का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनसे कृषि के संरक्षित एवं सुव्यवस्थित होने के विषय में विशेष विस्तार से पूछते हैं। नारदमुनि कहते हैं –

---

[२९] महाभारत *शान्ति* ८९.७, पृ.४६५५।
[३०] महाभारत *शान्ति* ८९.२३, पृ.४६५६।
[३१] महाभारत *शान्ति* ८९.२४-२५, पृ.४६५६।

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः ।
कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ।
कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ।
कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।।[३२]

तात युधिष्ठिर! चोरों और लोभियों से अथवा राजघराने के कुमारों और स्त्रियों से अथवा स्वयं तुम से ही कहीं राष्ट्र की प्रजा पीड़ित तो नहीं हो रही? तुम्हारे राज्य में किसान सन्तुष्ट तो हैं?

तुम्हारे राज्य के सभी भागों में खेतों की सिञ्चाई के लिये विशाल तडाग तो बना दिये गये हैं न? ये सब तडाग जल से परिपूर्ण तो रहते हैं? कहीं कृषि मात्र वर्षा के जल पर तो निर्भर नहीं? खेती को दैव पर ही तो नहीं छोड़ दिया गया?

कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे राज्य के कृषक अन्न अथवा बीज के अभाव में कष्ट पा रहे हों? ऐसी स्थिति में तुम उन पर अनुग्रह कर एक प्रतिशत व्याज पर ऋण तो दिया करते हो न?

तात! तुम्हारे राष्ट्र में सत्पुरुष वार्ता का भली-भाँति वहन तो कर रहे हैं न? यह लोक तो तात! वार्ता का अवलम्बन लेकर ही सुख-समृद्धि को प्राप्त होता है।

वाल्मीकीय रामायण में भरत श्रीराम को मिलने जब चित्रकूट पहुँचते हैं तब श्रीराम उनसे कोशलराज्य के कुशल-क्षेम के विषय में वैसे ही विस्तृत प्रश्न पूछते हैं जैसे नारदमुनि सभा पर्व में युधिष्ठिर से पूछ रहे हैं। परन्तु श्रीराम के प्रश्न कोशलदेश के सौन्दर्य, समृद्धि एवं सुव्यवस्था की उनकी निजी स्मृतियों से आविष्ट हैं। श्रीराम पूछते हैं –

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ।

---

[३२] महाभारत *सभा* ५.७७-८०, पृ.६८१।

प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ।
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ।
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ।।[33]

रघुकुल के भरत! जिस अपने कोशल देश में शत-शत चैत्यस्थान हैं, जो सुव्यवस्थित बस रहे असंख्य जनों से आकीर्ण है, अनेक देवस्थान, प्रपात एवं तडाग जिसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जहाँ के नर-नारी सदैव प्रसन्न रहते हैं, सामाजिक उत्सवों से जो सदा सुशोभित होता रहता है, जो कृषि करने में समर्थ स्वस्थ पशुओं से भरा-पूरा है, जहाँ हिंसा वर्जित है, जहाँ खेती मात्र वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहती, जिस रम्य देश में हिंसक पशु प्रवेश नहीं कर पाते, जहाँ किसी को किसी प्रकार का भय नहीं रहता, जो विभिन्न प्रकार की खानों से सुशोभित है, जहाँ पापी मनुष्य कदापि नहीं रहा करते और जो हमारे पूर्वजों से सर्वदा सुरक्षित होता रहा है, ऐसा अपना कोशलदेश भरत! सुख-समृद्धि से सम्पन्न तो है? वहाँ सब सुखपूर्वक बस रहे हैं न?

कोशलदेश एवं वहाँ के लोगों के कुशल-क्षेम के प्रति इस प्रकार स्नेहसिक्त प्रश्न पूछने के अनन्तर श्रीराम कोशल में वार्ता के सुव्यवस्थित निर्वाह के प्रति विशेष चिन्ता व्यक्त करते हुए भरत से कहते हैं –

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम् ।।[34]

तात भरत! कृषि एवं गोरक्षा ही जिनका जीवन है, ऐसे सब वैश्य तुम्हारे विशेष प्रीतिपात्र तो हैं न? वार्ता का अवलम्बन लेकर ही यह लोक सुख-समृद्धि को प्राप्त होता है। इसलिये वार्ता में संलग्न लोगों का तुम्हें विशेष सावधानीपूर्वक भरण करना चाहिये, उनके इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये।

[33] रामायण *अयोध्या* १००.४३-४६, पृ.४४६।
[34] रामायण *अयोध्या* १००.४७-४८, पृ.४४६।

काल का संरक्षक

भीष्म पितामह जैसे उच्च विद्वान्, नारद जैसे दिव्य मुनि और भारतीय परम्परा के आदर्श राजा स्वयं श्रीराम इस भूमि के राजाओं को वार्ता का सर्वदा सावधानीपूर्वक संरक्षण करते रहने की शिक्षा दे गये हैं। उन्होंने भारत के राजाओं को यह आदेश भी दिया है कि वे कृषि सम्बन्धी ऐसी सुव्यवस्था करें जिससे सूखे के समय भी सुभिक्ष बना रहे और किसी भी परिस्थिति में कृषक पीड़ित न हों। उनकी इस शिक्षा एवं आदेश का सतर्कता से पालन करने में ही भारतीय परम्परा के राजा अपना कल्याण देखते रहे हैं। उन्हें सर्वदा यह भान रहा है कि आर्षबोध के अनुसार तो अल्प परिमाण एवं असमय वर्षा होने और ऋतुओं के विकृत होने का दायित्व भी राजा पर ही आता है। धर्मनिष्ठ राजा के राज्य में विपुल एवं समयोचित वर्षा होती है और ऋतुएँ अपने सहज सौम्य एवं कल्याणकारी रूप में स्थित रहती हैं। धर्मच्युत राजा के राज्य में तो ऋतुएँ ही अपने स्वभाव से च्युत होने लगती हैं, काल ही विकृत हो जाता है।

इसीलिये आर्ष साहित्य में राजा को काल का कारण कहा गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भीष्म पितामह राजा के विषय में इस भारतीय बोध का पाठ युधिष्ठिर को अत्यन्त स्पष्टता से पढ़ा देना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में वे युधिष्ठिर को बताते हैं –

> कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
> इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥[३५]
>
> काल राजा का कारण होता है या राजा काल का कारण होता है? इस विषय में तुम्हें किञ्चित् भी संशय में नहीं रहना चाहिये। निश्चय ही राजा ही काल का कारण होता है, उसी के भले-बुरे कर्मों से भले-बुरे समय का प्रादुर्भाव होता है।

आगे भीष्म युधिष्ठिर को समझाते हैं कि जब कोई धर्मनिष्ठ राजा पृथिवी पर राज्य करता है तब मानो कृतयुग का ही प्रादुर्भाव हो जाता है, उस समय ऋतुएँ कल्याणकारी हो जाती हैं, भूमि प्रभूत अन्न उपजाती है और सब नर-नारी स्वस्थ-सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घायु होते हैं। दूसरी ओर, जब धर्मविहीन राजा राज्य करता है तो काल कलियुग-सा हो जाता है, तब अल्प एवं असमय वर्षा होती है, खेतों में अनाज सूख जाता है और नर-नारी रोग से पीड़ित एवं दरिद्र जीवन जीकर असमय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

---

[३५] महाभारत *शान्ति* ६९.७९, पृ.४६०७।

इस प्रकार जिन्हें प्राकृतिक अथवा दैविक कारण कहा जाता है उनसे व्यापे दारिद्र्य एवं क्षुधा के पाप का बोझ भी राजा को ही ढोना होता है। भारतीय बोध में राजा का यह अनुल्लङ्घनीय दायित्व है कि वह अपने राज्य में किसी को क्षुधा अथवा दारिद्र्य से पीड़ित नहीं रहने दे। राजा को यह दायित्व सब परिस्थितियों में निभाना होता है। प्राकृतिक परिस्थितियों के विकृत होने पर वह भरण के अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो जाता, अपितु उस विकृति का कारण भी उसे अपने ही कृत्यों में ढूँढना होता है। किसी भी कारण से प्रजा के भरण के दायित्व से च्युत हुआ राजा निश्चय ही अधम गति को प्राप्त होता है और उसका राज्य तो शीघ्र ही उसके अधिकार से निकल ही जाता है। इस अध्याय में पहले एक स्थान पर ऋषि उतथ्य की राजा मान्धाता को राजधर्म विषयक शिक्षा का प्रसङ्ग आया है। उसी प्रसङ्ग में ऋषि उतथ्य राजा मान्धाता को यह भी बताते हैं कि कैसे प्रजा की क्षुधाग्नि राजा को ही जलाकर भस्म कर दिया करती है। ऋषि उतथ्य का वचन है –

> युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव।
> अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥[३६]
>
> जब जनपदों के लोग भिक्षुओं का रूप बनाकर ब्राह्मणों के समान भिक्षा माँगते हुए घूमते हैं तब उन का इस प्रकार माँगने पर विवश होना निश्चय ही उस राज्य के राजा का विनाश कर डालता है।

भीष्म एवं उतथ्य धर्मविहीन राजा के कारण उपस्थित होने वाले काल का जो वर्णन करते हैं वह युगक्षय की स्थिति-सा ही है, उस काल के समान है जब कलियुग के बहुत आगे बढ़ जाने पर जगत् सब प्रकार से ह्रासोन्मुख दिखायी देता है। वन पर्व में ऋषि मार्कण्डेय युधिष्ठिर के लिये युगक्षय के समय जगत् की स्थिति का विशद वर्णन करते हैं। ऋषि मार्कण्डेय का कहना है–

> अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
> केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ॥[३७]
>
> युगक्षय का काल आने पर जनपदों के लोग अन्न का, ब्राह्मण वेद का और स्त्रियाँ अपने शरीर का व्यापार करने पर विवश हो जायेंगी।

---

[३६] महाभारत *शान्ति* ९१.२३, पृ.४६६०।

[३७] महाभारत *वन* १९०.५२, पृ.१४९७।

निराश्रितों का आश्रय

युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगाः।
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ॥[३८]

कलियुग का अन्तकाल निकट आने पर सब ओर एक सर्वभक्षी अग्नि धधक उठेगी। उस समय याचना करने पर भी पथिकों को कोई भोजन एवं जल नहीं देगा। इस प्रकार सब ओर से तिरस्कृत एवं आश्रयविहीन हो वे पथ पर ही सोये हुए दिखायी देंगे।

कलियुग के चरम पर पहुँचने पर जगत् की ऐसी क्षीण स्थिति हो जाती है, और ठीक वैसी ही स्थिति तब भी उपस्थित होती है जब कोई धर्मविहीन राजा पृथिवी पर राज्य करने लगता है। राजारूपी महान् गृहस्थ को सर्वदा यह सुनिश्चित करना चाहिये कि उसके राज्य में कदापि ऐसी स्थिति न आये, कभी काल ऐसा विकृत न हो कि अनेक लोग अशन एवं आश्रय की याचना करते हुए इधर-उधर घूमने लगें और राज्य के सामान्य गृहस्थ दारिद्र्य एवं अभाव से ऐसे क्षीण हो जायें कि वे अपने द्वार पर आकर याचना करने वालों को भी आश्रय अथवा भोजन न देने जैसा अकल्पनीय अपराध करने लगें।

असिधारा पर चलना

भारतीय परम्परा के राजा की भूमिका निश्चय ही विकट है। क्षत्र धारण करने एवं राज्य की आय में अपना सीमित भाग पाने के अधिकार के प्रतिफलस्वरूप उसे राज्य में सर्वत्र धर्म एवं वार्ता के संरक्षण का बोझ उठाना होता है, सब प्रकार के दारिद्र्य एवं अभाव के प्रतिकार का सतत प्रयास करना होता है और ऋतुओं एवं काल की विकृति के प्रति सदा सजग रहना होता है। वस्तुतः भारतीय बोध में तो राजा से यही अपेक्षा रहती है कि वह अपने हित, अपने सुख और यहाँ तक कि अपने अस्तित्व को प्रजा के हित एवं सुख में लीन कर दे। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र के प्रायः प्रारम्भ में ही राजा के दायित्व सम्बन्धी इस भारतीय बोध को सुस्पष्ट अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं –

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥[३९]

---

[३८] महाभारत *वन* १९०.८३-८४, पृ.१४९९।
[३९] अर्थशास्त्र १.१९.४३, पृ.५९।

प्रजा के सुख में ही राजा का सुख विहित है और प्रजा के हित में ही राजा का हित। राजा का हित उसमें नहीं जो स्वयं उसे प्रिय लगता है, अपितु उसी में है जो प्रजा को प्रिय हो।

प्रजा के सुख एवं हित में अपने सुख-हित एवं अपने आप को ही लीन कर देने के राजा के इस कर्तव्य को भवभूति की सुविख्यात साहित्यिक कृति उत्तररामचरित में अत्यन्त हृदयग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ ऋषि अष्टावक्र राजाओं के धर्मसम्बन्धी वसिष्ठ मुनि की शिक्षा श्रीराम को सुनाते हुए कहते हैं –

युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः स्वस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ।।[४०]

अपने आप को प्रजा के रञ्जन में, प्रजा को प्रसन्न एवं सुखी रखने में नियुक्त कर दो। क्योंकि प्रजा की प्रसन्नता एवं सुख से जो यश राजा को प्राप्त होता है वह स्वयं अपनी रक्षा करने से भी अधिक मूल्यवान् है।

वसिष्ठ मुनि की यह शिक्षा सुनकर श्रीराम उत्तर देते हैं –

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।[४१]

प्रजा की आराधना में मुझे स्नेह, दया एवं सुख से वञ्चित होना पड़े तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा। प्रजा की आराधना में तो मैं जानकी से वियोग का दुःख भी सह सकता हूँ।

भारतीय परम्परा में धर्मनिष्ठ राजाओं से प्रजा के हित में ऐसे आत्म उत्सर्ग की अपेक्षा रखी गयी है। राजाओं को यहाँ ऐसा निःस्वार्थ जीवन जीना होता है । महाभारत में अनुशासन पर्व के एक सङ्क्षिप्त अपितु अत्यन्त भावप्रवण अध्याय में भीष्म पितामह राजाओं के इस विकट अनुशासन का सार युधिष्ठिर को समझाते हुए कहते हैं –

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ।।[४२]

---

[४०] उत्तररामचरित १.११, पृ.१०।
[४१] उत्तररामचरित १.१२, पृ.१०।
[४२] महाभारत *अनुशासन* ६१.४, पृ.५६६१।

तात युधिष्ठिर! क्षत्रिय को सतत हिंसायुक्त कठोर कर्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है। उसका यह दूषण केवल उदारतापूर्वक दान करने और वैदिक यज्ञों का सम्पादन करने से ही धुलता है।

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्ती धनं हरेत्।
हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम्।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम्।
येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः।
यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान् सीदेत् क्षुधा द्विजः।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम्।
धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा।
यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सहराजकम्।
क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद्ध्रियन्ते तरसा स्त्रियः।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति॥[४३]

राजा को वृद्ध, बालक, दरिद्र एवं ज्योतिहीन जनों के धन की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये। अपने दुःख में रोती हुई किसी अबला स्त्री से राजा को कदापि कोई धन नहीं लेना चाहिये और न ही उन कृषकों से, जिन्होंने स्वयं अपने प्रयास से कुआं खोदकर सिञ्चाई का प्रबन्ध किया हो।

दरिद्र से छीना गया धन राजा को श्रीहीन कर देता है और राष्ट्र के विनाश का कारण बनता है। इसलिये दरिद्रों के धन से भाग लेने के स्थान पर राजा को उन्हें महान् सुख-साधनों से सम्पन्न करना चाहिये और सज्जन प्रजा को क्षुधा के भय से सर्वथा मुक्त करने का प्रयास करना चाहिये।

---

[४३] महाभारत *अनुशासन* ६१.२५-३१, पृ.५६६२-३।

जब बालक अन्यों को स्वादु भोजन खाते देख रहे हों और उन्हें वही खाना विधिवत् परोसा न जाता हो, तो उससे भीषण पाप और क्या हो सकता है?

राजा युधिष्ठिर! तुम्हारे राज्य में यदि एक भी विद्वान् द्विज भूख से पीड़ा पाता है तो तुम भ्रूणहत्या के समान पाप के भागी होओगे और महान् पाप करने वालों की जो गति होती है वैसी ही अधम गति को तुम प्राप्त होओगे। इस सन्दर्भ में राजा शिबि कह ही गये हैं कि जिस राजा के राज्य में एक भी द्विज या अन्य कोई भी भूख की पीड़ा सहने को विवश होता है उस राजा को धिक्कार है, ऐसे राजा का जीना तो व्यर्थ ही है।

जिस राजा के राज्य में एक भी स्नातक भूख से दुःख पाता है वह राष्ट्र अवनति को प्राप्त होता है। ऐसा राज्य निश्चय ही अन्य राजाओं के अधीन हो जाता है।

जिस राजा के राज्य में रोती-बिलखती स्त्रियों का बलपूर्वक हरण कर लिया जाता है और उनके पति एवं पुत्र पीटते-चिल्लाते ही रह जाते हैं, वह राजा तो मृत ही है। निश्चय ही उसे जीवित तो नहीं माना जा सकता।

अन्त में भीष्म कहते हैं –

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्।
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥[४४]

जो राजा प्रजा एवं राष्ट्र का रक्षण नहीं करता, जो प्रजा से अन्यायपूर्वक धन का हरण करता है, जो जीविका के साधनों के लोप का कारण बनता है और जो प्रजा को नेतृत्व नहीं दे पाता, ऐसा राजा निश्चय ही स्वयं कलि के समान है। प्रजा को चाहिये कि ऐसे राजा को घेर-घार कर मार डाले।

प्रजा की रक्षा करने का वचन देकर जो राजा रक्षा नहीं करता वह तो प्रजा द्वारा सङ्गठित होकर विक्षिप्त एवं रोगी कुत्ते के समान मार दिये जाने योग्य ही है।

---

[४४] महाभारत *अनुशासन* ६१.३२-३३, पृ.५६६३।



अध्याय ८

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

केवलाघो भवति केवलादी

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं। केवलाघो भवति केवलादी॥[१]

जो अन्न का दान नहीं करता उसे अन्न का प्राप्त होना तो व्यर्थ ही है। मैं आङ्गीरस ऋषि सत्य कह रहा हूँ, अन्यों को न खिलाने वाले को जो अन्न प्राप्त होता है वह न केवल व्यर्थ है, वह अन्न तो उसकी मृत्यु के समान ही है। उस अन्न से वह न देवों का पोषण करता है न अपने घर-द्वार पर आने वाले अतिथियों, अभ्यागतों एवं सखा-सम्बन्धियों का। इस प्रकार केवल स्वयं अपने लिये ही अन्न का भक्षण करने वाला अज्ञानी तो निश्चय ही केवल पाप का ही भोक्ता होता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम अध्याय में भिक्षुसूक्त की शिक्षा देते हुए ऋषि भिक्षु आङ्गीरस इस ऋचा का प्रतिपादन करते हैं। भिक्षु आङ्गीरस का श्रुतिवाक्य कि जो अन्यों के साथ बाँटे बिना अकेले स्वयं अन्न का उपभोग करता है वह अन्न का नहीं मात्र पाप का ही उपभोग करता है, केवलाघो भवति केवलादी, आर्ष साहित्य में सर्वत्र प्रतिपादित अन्न के अनुशासन की सम्भवतः स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। स्वयं भोजन ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करना भारतीय परम्परा में अन्न का अनुल्लङ्घनीय अनुशासन माना गया है। इस अनुशासन का उल्लङ्घन

[१] ऋक्संहिता १०.११७.६, पृ.७३९।

करने वालों की गति के विषय में ऋषि भिक्षु आङ्गीरस का यह सङ्क्षिप्त पर निनादमान् श्रुतिवाक्य किसी प्रकार के संशय की कोई सम्भावना नहीं छोड़ता।

भिक्षुसूक्त की इस छठी ऋचा में अन्न के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का उल्लङ्घन करने वालों की गति का कदाचित् स्पष्टतम निर्देश हुआ है, परन्तु सूक्त की सभी नौ ऋचायें अन्न के अनुशासन का पालन न करने वालों को प्राप्त होने वाली अधम गति का ही निनाद करती हैं। सूक्त की प्रथम ऋचा में ऋषि कहते हैं कि देवों ने मानव को जो यह क्षुधा दी है वह तो मानव के लिये मृत्यु के समान ही है, यह क्षुधा अन्न के अभाव से ग्रस्त क्षुधार्त जनों के लिये मरण के समान तो है ही, यह उन अन्नसम्पन्न जनों के लिये भी मृत्युवत् है जो स्वयं भोजन करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने का उपक्रम नहीं करते। ऋषि के शब्दों में – न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।[२] अगली ऋचा में ऋषि कहते हैं कि जो अपने घर-द्वार पर आये अतिथि को अन्न आदि से सन्तुष्ट किये बिना लौटा देता है उसका मन कदापि शान्त नहीं हो पाता, वह कहीं भी आत्मिक सुख नहीं पा सकता, मर्डितारं न विन्दते।[३] एक अन्य ऋचा में ऋषि कहते हैं कि जो गृहस्थ अपने भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों का भरण नहीं करता उसके भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों को उसका गृह त्याग कर कहीं और शरण ले लेनी चाहिये। ऋषि का कहना है कि भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों से परित्यक्त ऐसे गृहस्थ का निवासस्थान तो गृह ही नहीं रहता, क्योंकि जैसा कि श्रीसायणाचार्य इस ऋचा पर भाष्य करते हुए स्पष्ट करते हैं, गृह तो बन्धुओं एवं भृत्यों आदि से भरे-पूरे भवन को ही कहा जाता है, वही सदन होता है। सायणाचार्य के शब्दों में, सदनं हि बन्धुभिः परिवृतम्।[४]

अन्नदेवता का अनुशासन

यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बन्धित तैत्तिरीय ब्राह्मण में अन्न के अभिमानी देवता, स्वयं अन्नदेवता, सृष्टि में अन्न के महत्त्व एवं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों को भोजन करवाने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। अन्नदेवता के अनुशासनवाक्य ऋग्वेद से श्रुत ऋषि भिक्षु आङ्गीरस के अनुशासन वाक्यों से ही निनादमान् हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वितीय अष्टक के आठवें प्रपाठक के आठवें अनुवाक में हम अन्नदेवता को इस प्रकार उद्घोष करते हुए सुनते हैं[५] –

---

[२] ऋक्संहिता १०.११७.१, पृ.७३७।
[३] ऋक्संहिता १०.११७.२, पृ.७३७।
[४] ऋक्संहिता १०.११७.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, पृ.७३९।
[५] तैत्तिरीयब्राह्मण २.८.८.१-८, पृ.८३०-४।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्तिः अन्न

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य । पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः ।
यो मा ददाति स इदेव माऽऽवाः । अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

मैं अन्नदेवता यज्ञ का प्रथम जनयिता हूँ, सर्वप्रथम यज्ञ मुझसे ही उत्पन्न होता है। मैं ही सृष्टि के पूर्वकाल में देवों के लिये अमृत का स्रोत बनता हूँ, देवों के लिये अमृत का सम्पादन मुझसे ही होता है।

जो मुझे दान करता है वास्तव में वही मुझे प्राप्त करता है। जो मुझे अन्यों को दिये बिना स्वयं मेरा उपभोग करता है उसका मैं विनाश कर देता हूँ। मैं अन्नदेवता अन्नदान न करने वालों को खा जाता हूँ।

पूर्वमग्नेरपि दहत्यन्नम् । यत्तौ हाऽऽसाते अहमुत्तरेषु । व्यात्तमस्य
पशवः सुजम्भम् । पश्यन्ति धीराः प्रचरन्ति पाकाः ॥

जो अन्यों को दिये बिना स्वयं अन्न का उपभोग करता है उसका खाया हुआ अन्न जठराग्नि में पकने से पूर्व ही उस खाने वाले को जला डालता है। खाने से पूर्व अन्यों को खिलाने वाले दाता और अन्यों को खिलाये बिना स्वयं खाने वाले अदाता के मध्य पूर्ववर्ती, दाता ही श्रेष्ठ है। मैं उसी के पास निवास करता हूँ। अन्यों को खिलाये बिना स्वयं खाने वाला अदाता तो पशुवत् ही है। इस प्रकार के पशु समान मनुष्यों का भक्षण करने के लिये तीक्ष्ण दाँतों से युक्त मेरा मुख सर्वदा खुला रहता है। अन्यों को खिलाकर स्वयं खाने वाले बुद्धिमान् जन मेरी इस वृत्ति को जानते हैं, अन्य मूढ जन तो बिना किसी को खिलाये ही स्वयं खाने में रत रहते हैं।

जहाम्यन्यं न जहाम्यन्यम् । अहमन्नं वशमिच्चरामि ।
समानमर्थं पर्येमि भुञ्जत् । को मामन्नं मनुष्यो दयेत ॥

अन्यों को खिलाये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करने वाले को मैं छोड़ जाता हूँ। अन्यों की क्षुधा शान्त करने के पश्चात् स्वयं भोजन करने वालों का साथ मैं कभी नहीं छोड़ता। मैं अन्नदेवता अपने ही अनुशासन के अनुरूप विचरण करता हूँ। जिनके लिये अन्न का दान एवं अन्न का भोग दोनों समानार्थक ही हैं, उनका मैं पोषण करता हूँ, उन्हें मैं विपुल मात्रा में प्राप्त होता हूँ। जो दान किये बिना मात्र अन्न का भोग ही करते हैं वे मुझे प्राप्त ही नहीं कर पाते। अदाताओं का परित्याग करने और दाताओं

को विपुल मात्रा में उपलब्ध होने के अपने इस अनुशासन से मुझें, मुझ अन्नदेवता को, कौन मनुष्य विचलित कर सकता है?

पराके अन्नं निहितं लोक एतत्। विश्वैर्देवैः पितृभिर्गुप्तमन्नम्।
यद्द्यते लुप्यते यत्परोप्यते। शततमी सा तनूर्मे बभूव ॥

इस लोक में देवों, भूतों, पितरों एवं मनुष्यों के लिये जो अन्नदान किया जाता है वह अन्न देने वाले के लिये सुरक्षित सञ्चित हो जाता है। विश्व के समस्त देवता और पितर उस सञ्चित अन्न की रक्षा करते हैं। ऐसा अन्न का पारलौकिक व्यवहार है। परन्तु इस लोक में तो अन्न की मात्रा अनन्त है। इस लोक में जितना अन्न अन्यों को दान कर दिया जाता है, जितने का उपभोग कर लिया जाता है और जितना नष्ट हो जाता है, वह सब मिलकर भी इस लोक में व्याप्त अन्न के परिमाण का शतांश भी नहीं हो पाता। मैं अन्नदेवता इस लोक में दान किये गये, उपभोग किए गये एवं व्यर्थ हुए अन्न की समग्र मात्रा से कहीं अधिक व्यापक हूँ। मेरा माहात्म्य इस सबसे परे है।

महान्तौ चरू सकृद्दुग्धेन पप्रौ। दिवञ्च पृश्नि पृथिवीं च साकम्।
तत्संपिबन्तो न मिनन्ति वेधसः। नैतद्भूयो भवति नो कनीयः ॥

जिस प्रकार अच्छी दुधारू गाय बड़े-बड़े पात्रों को शीघ्र ही दूध से परिपूर्ण कर देती है, वैसे ही दान किया हुआ किञ्चित् मात्र अन्न पृथिवीलोक एवं दिव्यलोक दोनों को ही अन्न से परिपूर्ण कर देता है। देवों, भूतों, पितरों एवं मनुष्यों को तृप्त करने के पश्चात् स्वयं अन्न ग्रहण करने वाले मतिमान् जन इस प्रकार भोजन करते हुए न अन्न के प्रति कोई हिंसा करते हैं न अपने ही प्रति। क्योंकि अन्यों को तृप्त करने के पश्चात् खाया गया अन्न घटता नहीं, बढ़ता ही है और यह बढ़ा हुआ अन्न अन्यों को खिलाकर खाने वाले मतिमान् को चिरकाल तक प्राप्त होता रहता है। इतना ही नहीं, इस प्रकार अनुशासनपूर्वक खाया गया अन्न न कभी इतना अधिक होता है कि खाने वाले को अजीर्ण हो जाये और न कभी इतना अल्प कि खाने वाले की क्षुधा ही शान्त न हो। अन्यों को तृप्त कर स्वयं खाने के अनुशासन के अनुरूप ग्रहण किया गया अन्न तो सर्वदा सहज स्वास्थ्यकर ही होता है।

अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः। अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाहुः।
अन्नं ब्रह्माणो जरसं वदन्ति। अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम् ॥

अन्न को ही प्राणवायु एवं अपानवायु कहा गया है, अन्न के बल से ही इन दोनों का सञ्चरण हो पाता है। अन्न को ही मृत्यु एवं जीवन का कारक कहा गया है, अन्न से ही जीवन है और विकृत अन्न ही मृत्यु का कारण होता है। आयुर्वेद के ज्ञाता विद्वान् अन्न को ही जरा का कारण बताते हैं और अन्न को ही सन्तान की उत्पत्ति का कारण कहा जाता है। अतः अन्न ही प्राण है एवं अन्न ही अपान है, अन्न ही जीवन है एवं अन्न ही मृत्यु है और अन्न ही जरा है एवं अन्न ही जनक है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्। केवलाघो भवति केवलादी॥

जो अन्न का दान नहीं करता उसे अन्न का प्राप्त होना तो व्यर्थ ही है। मैं अन्नदेवता सत्य कह रहा हूँ, अन्यों को न खिलाने वाले को जो अन्न प्राप्त होता है वह न केवल व्यर्थ है, वह अन्न तो उसकी मृत्यु के समान ही है। उस अन्न से वह न देवों का पोषण करता है न अपने घर-द्वार पर आने वाले अतिथियों, अभ्यागतों एवं सखा-सम्बन्धियों का। इस प्रकार केवल स्वयं अपने ही लिये अन्न का भक्षण करने वाला अज्ञानी तो निश्चय ही केवल पाप का ही भोक्ता होता है।

अहं मेघस्तनयन्वर्षन्नस्मि। मामदन्त्यहमद्मद्यन्यान्।
अह९ सदमृतो भवामि। मदादित्या अधिसर्वे तपन्ति॥

आकाश में गरजते हुए पृथिवी को वर्षा से आप्लावित करने वाले यह मेघ मेरा ही रूप हैं। मुझ अन्नदेवता से ही इन मेघों की उत्पत्ति होती है। जो मुझ अन्नदेवता का दान कर भोजन ग्रहण करते हैं वे सुखपूर्वक मेरा उपभोग करते हैं, इनसे इतर जो बिना अन्यों को खिलाये स्वयं भोजन करते हैं उनको मैं खा जाता हूँ। अन्यों की क्षुधा शान्त कर स्वयं भोजन करने वालों के लिये तो मैं अमृत समान हो जाता हूँ। मैं अन्नदेवता हूँ, सृष्टि में उपस्थित विभिन्न महान् सूर्य मेरी ही अग्नि से तपते हैं, मुझसे ही वे प्रकाशित होते हैं।

वेदवाक्य अनुल्लङ्घनीय हैं

ऋषि भिक्षु आङ्गीरस एवं अन्नदेवता से श्रुत इन वेदवाक्यों का मनन करने से समझ आने लगता है कि सुविज्ञ पितामह भीष्म क्यों इतने आग्रह से यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि उनके पौत्रों से अन्नदान के धर्म की अवहेलना कदापि न होने पाये? क्यों श्रीकृष्ण 'ददस्वान्नं ददस्वान्नं

ददस्वान्नं युधिष्ठिर' का सङ्क्षिप्त परन्तु अत्यन्त सारगर्भित आदेश देते हैं? क्यों ऋषि अगस्त्य श्रीराम को अन्नदान के धर्म से च्युत राजा श्वेत की अधम गति की कथा इतने विस्तार से सुनाते हैं? क्यों कुरुक्षेत्र निवासी वह दिव्य नकुल युधिष्ठिर के भव्य अश्वमेध यज्ञ के समापन पर भरी सभा में खड़ा होकर युधिष्ठिर को स्मरण कराता है कि अपने वित्त के अनुरूप कोइ अन्न का चाहे कितना भी दान कर ले वह दान कभी पर्याप्त नहीं होता, अन्नदान की तो कोई पराकाष्ठा नहीं होती? क्यों मनु गृहस्थ के लिये स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के अन्य सब घटकों के निमित्त अन्नदान करने के अनुशासन का इतना विस्तृत विधान करते हैं? और क्यों भारतीय परम्परा में गृहस्थों एवं राजाओं को अपने ऋषि-मुनियों एवं सभी गुरुजनों से सर्वदा यही शिक्षा मिलती रही है कि उनकी पहुँच के भीतर आने वाला कोई मानव अथवा अन्य कोई भी जीव कभी क्षुधा से पीड़ित नहीं रहना चाहिये?

वेद समस्त ज्ञान एवं विद्या के स्रोत हैं। आर्ष साहित्य में वर्णित महान् राजाओं एवं ऋषियों के जीवन वृत्तान्त वेदों की शिक्षा के दृष्टान्त मात्र हैं। भारतीय परम्परा के ऋषियों एवं मुनियों के उपदेश वेदों की शिक्षा की समसामयिक व्याख्या ही करते हैं। भारत के किसी महान् राजा, किसी उत्कट विद्वान्, किसी तपस्वी और कदाचित् किसी अवतार ने भी कभी वेदवाक्य से परे जाने का दम्भ नहीं किया। फिर 'केवलाघो भवति केवलादी' के श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन तो भिक्षु आङ्गीरस ने ऋग्वेद में और स्वयं अन्नदेवता ने तैत्तिरीय ब्राह्मण में इतने आग्रह के साथ किया है। भारत के किसी अनुशासित राजा अथवा गृहस्थ को इस श्रुतिवाक्य की उपेक्षा करने का साहस भला कैसे हो सकता है? इसीलिये तो भारतीय परम्परा के सभी राजा, गृहस्थ और ऋषि-मुनि भी 'केवलादी' होने के, अन्यों को खिलाये बिना केवल स्वयं खाने के पाप से बचने के प्रति इतने सचेत दिखायी देते हैं। जिस परम्परा में ऋषि भिक्षु आङ्गीरस और अन्नदेवता के प्रामाणिक उद्घोष को सुना गया हो उस परम्परा के वाहक वंशजों को तो स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के अनुशासन से किञ्चित् भी विचलित होना अकल्पनीय पाप-सा ही लगता रहा होगा।

अन्न एवं ब्रह्मविद्या: तैत्तिरीयोपनिषद्

अन्न एवं अन्नदान के माहात्म्य का निर्देश वेदों में सभी स्थानों पर, संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् संज्ञक सभी अंशों में, पुनः पुनः होता है। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि में अन्न के मूलभूत स्थान और सृष्टि के मूलतत्व ब्रह्म का दर्शन पाने के मानवीय प्रयासों में अन्न की विशिष्ट भूमिका का विशेष विस्तार से उपदेश किया गया है।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्तिः अन्न

वेदों के शीर्षस्थ अंश के रूप में सङ्कलित उपनिषद् एकमात्र ब्रह्मविद्या का ही निरूपण करते हैं। उपनिषदों का कथ्य सृष्टि का मूलतत्व वह अकथनीय ब्रह्म है जो प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ पर अपने आप को इस व्यक्त सृष्टि के अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करता है और जो कल्प के अन्त पर इन सब रूपों को, इस सम्पूर्ण सृष्टि को, अपने में ही लीन कर लेता है। और पुनः, एक और कल्प के प्रारम्भ पर, ब्रह्म से व्यक्त सृष्टि के विभिन्न रूपों के सर्जन एवं ब्रह्म में ही उनके विलय का एक और आवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। सर्जन एवं प्रलय का यह क्रम एक सुनिश्चित कालक्रम के अनुसार निरन्तर चलता रहता है। सृष्टि का यह सतत आवर्तन-पुनरावर्तन ब्रह्म की ही लीला है। उस अनादि-अनन्त ब्रह्म के सङ्कुचन एवं व्यास से ही काल का यह अनादि-अनन्त प्रवाह बना रहता है। सृष्टि एवं काल का एकमेव कर्ता वह अकथनीय-अचिन्तनीय ब्रह्म ही उपनिषदों के चिन्तन-मनन एवं उपदेश का विषय है।

उपनिषद् ब्रह्म से इस व्यक्त सृष्टि के सर्जन और ब्रह्म में उसके विलय की गाथा मात्र नहीं सुनाते। न ही उपनिषदों के द्रष्टा ऋषियों का उद्देश्य ब्रह्म की लीलास्वरूप इस व्यक्त सृष्टि, उस में मानव के स्थान और ब्रह्म को पाने-समझने के मानवीय प्रयासों सम्बन्धी मूल भारतीय अवधारणाओं का प्रतिपादन मात्र करना ही है। सर्जन एवं प्रलय के अनादि-अनन्त आवर्तन की गाथा तो उपनिषदों में कही ही गयी है, और इस आवर्तन के एकमेव कर्ता ब्रह्म के ज्ञान सम्बन्धी मूल भारतीय अवधारणाओं का प्रतिपादन भी उपनिषदों में हुआ ही है। परन्तु उपनिषदों का उद्देश्य तो ब्रह्मज्ञान का वर्णन-प्रतिपादन करना नहीं अपितु जिज्ञासु को सृष्टि के उस मूलतत्व ब्रह्म का साक्षात्कार करने के, स्वयं उस ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन करने के, योग्य बनाना है। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषि जिज्ञासु को ब्रह्म के विषय में बताने के लिये नहीं अपितु ब्रह्म का जो प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें प्राप्त हुआ है, जिस दर्शन को पाकर वे द्रष्टा हुए हैं, वही प्रत्यक्ष दर्शन जिज्ञासु को करवाने के लिये उत्सुक हैं।

भारतीय बोध में सृष्टि के मूलतत्व के प्रत्यक्ष दर्शन को ही ज्ञान की संज्ञा दी गयी है और ऐसे ज्ञान की प्राप्ति ही सब बन्धनों से मुक्ति की वह स्थिति है जिसकी ईषना सब भारतीयों में सर्वदा बनी रहती है। भारत में तत्वज्ञान विषयक चिन्तन-मनन का ध्येय मानव को प्रत्यक्ष दर्शन, सर्वाङ्गीण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये उपयुक्त मार्ग का निर्देश करना ही रहा है। इसीलिये तत्वज्ञान विषयक चिन्तन-मनन के शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है। और, उपनिषद् तो जिज्ञासुओं के लिये दर्शन के मार्ग को प्रशस्त करने के भारतीय द्रष्टाओं के प्रयासों की पराकाष्ठा ही हैं।

उपनिषदों में तैत्तिरीयोपनिषद् का विशेष स्थान है। तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा ऋषि तो

जिज्ञासु का मानो हाथ पकड़कर उसे ब्रह्मविद्या की जटिलताओं में से क्रमशः निकालते हुए दर्शन, ज्ञान एवं मोक्ष की ओर ले चलते हैं। इस सन्दर्भ में यह तथ्य निश्चय ही विलक्षण है कि तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा का अनुसरण करते हुए ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर जिज्ञासु के मार्ग में अन्न एवं अन्न की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ पुनः पुनः उपस्थित होती रहती हैं। उपनिषद् में निर्दिष्ट मार्ग के अन्त पर हम द्रष्टा को अन्न के अतुलनीय माहात्म्य का अत्यन्त श्रद्धामय उपदेश देते हुए सुनते हैं, और उसके उपरान्त जिज्ञासु अन्न के साथ एकात्मता का अनुभव कर आनन्दविभोर हो गा उठता है – मैं ही अन्न हूँ, मैं अन्न ही हूँ, मैं अन्न ही हूँ, अहमन्नमहन्नमहन्नम्।[६]

तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा के लिये अन्न ब्रह्मज्ञान का द्वार है और इस द्वार के भीतर जाकर ब्रह्मज्ञान के गर्भ के समक्ष पहुँचने पर वहाँ भी अन्न ही प्रतिष्ठापित हुआ दिखायी देता है। ब्रह्मविद्या के इस अत्यन्त सम्मानित श्रुतिग्रन्थ में अन्न की ऐसी प्रमुखता निश्चय ही भारतीय बोध में अन्न के विशेष महत्त्व की द्योतक है। भारतीय संस्कृति में अन्न के महत्त्व और अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का इससे बड़ा प्रमाण भला और क्या हो सकता है कि तैत्तिरीयोपनिषद् इस अनुशासन को ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु के लिये अपरिहार्य मानता है और अन्न को ब्रह्मज्ञान के द्वार एवं मर्म के रूप में प्रतिष्ठित करता है?

ब्रह्मविद्या का उपक्रमः शीक्षावल्ली

तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अङ्ग है। इस शाखा की एक संहिता है, एक ब्राह्मण और एक आरण्यक। अन्नदेवता से श्रुत अन्नसूक्त इसी ब्राह्मण में आता है। तैत्तिरीयारण्यक के दस प्रपाठक हैं। इनमें से सप्तम, अष्टम एवं नवम प्रपाठक तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाते हैं। आरण्यक के सप्तम प्रपाठक को तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली, अष्टम प्रपाठक को उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली और नवम प्रपाठक को भृगुवल्ली कहा जाता है। आरण्यक का दशम प्रपाठक महानारायणोपनिषद् नामक स्वतन्त्र उपनिषद् है।

शीक्षावल्ली में ब्रह्मज्ञान के हेतु सम्यक् श्रवण, मनन एवं ध्यान और सम्यक् आचार का उपदेश किया गया है। शीक्षावल्ली का प्रयोजन जिज्ञासु में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अनुकूल बौद्धिक एवं मानसिक वृत्ति को जागृत करना है। इस प्रकार शीक्षावल्ली ब्रह्मविद्या के उपक्रमस्वरूप है।

---

[६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४५।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

शान्तिपाठ

सभी सम्यक् व्यवस्थित ग्रन्थों का प्रारम्भ शान्तिपाठ से हुआ करता है। शान्तिपाठ में ग्रन्थ के प्रयोजन की सिद्धि में आने वाले विघ्नों की शान्ति के लिये सृष्टि के विभिन्न भावों के अभिमानी देवताओं का अभिवादन-आह्वान किया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रारम्भ शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ से होता है। क्योंकि शीक्षावल्ली का अधिकार ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपक्रमस्वरूप पठन-पाठन आदि है, कदाचित् इसीलिये शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ में आचार्य एवं शिष्य दोनों के सुख एवं सामर्थ्य की एक साथ रक्षा की कामना की गयी है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलते हुए द्रष्टा आचार्य एवं दर्शनाभिलाषी शिष्य एक ही हो जाते हैं। आचार्य एवं शिष्य के अपने प्रयत्न में एक ही होने का यह भाव शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उपनिषद् में स्थान-स्थान पर उभरता रहता है।

शान्तिपाठ का आरम्भ जिज्ञासु मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति एवं विस्तीर्ण पादविक्षेप वाले उरुक्रम विष्णु के प्रति इस प्रार्थना से करता है कि वे सब विश्व पर प्रसन्न हों और हम सब के लिये सुखावह बनें। मित्र प्राणवायु के, वरुण अपान के, अर्यमा दृष्टि के, इन्द्र बल के, बृहस्पति वाणी एवं बुद्धि के और उरुक्रम विष्णु पाद के अभिमानी देवता हैं। इन सब देवों के सुखावह होने और उन द्वारा संरक्षित विभिन्न वृत्तियों के स्वस्थ होने पर ही ज्ञान का श्रवण, धारण एवं अभ्यास निर्विघ्नता से हो सकता है।

आगे जिज्ञासु अपने परम ध्येय ब्रह्म को नमस्कार करता है और वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म और इसीलिये ऋत एवं सत्य का ही स्वरूप मानने का सङ्कल्प करते हुए वायु के प्रति नमन करता है। अन्ततः वह वायु से ही प्रार्थना करता है कि ब्रह्म, ऋत एवं सत्य स्वरूप वह वायु उसकी और आचार्य की रक्षा करे। वह वायु उस जिज्ञासु शिष्य की रक्षा करे। वह वायु आचार्य की रक्षा करे। और, विद्या की प्राप्ति में आने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक त्रिविध विघ्न शान्त हों। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।[७]

शीक्षा

शान्तिपाठ के अनन्तर उपनिषद् में 'शीक्षा' की व्याख्या की गयी है। शीक्षा 'शिक्षा' का ही वैदिक रूप है। उपनिषद् के अत्यन्त श्रद्धेय भाष्यकार श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाये उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा शब्द का ठीक-ठीक बोध करवाने

[७] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१, पृ.२१।

के लिये जिन वर्णादि का उपदेश किया जाता है वही 'शिक्षा' हैं। शिक्षा की व्याख्या सम्बन्धी इस अत्यन्त सङ्क्षिप्त अनुवाक में शिक्षा के मूल अङ्गों वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान की ओर इङ्गित मात्र करके व्याख्या का उपसंहार कर दिया गया है। शीक्षावल्ली के यह द्वितीय अनुवाक मात्र इतना है – शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।[८]

उपनिषद् का 'शिक्षा' सम्बन्धी यह उपदेश पढ़ाने की विधा की पराकाष्ठा ही है। यहाँ आचार्य मानो उपदेश नहीं दे रहे अपितु शिष्य को जो पहले से ही ज्ञात है उसे ही स्मरण करने के लिये आमन्त्रित कर रहे हैं, अथवा 'शिक्षा' के सम्यक् ज्ञान के मार्ग का मानो वे मात्र दिशा निर्देश ही कर रहे हैं।

उपरोक्त में अकारादि वर्ण हैं, उदात्तादि स्वर हैं, ह्रस्वादि मात्राएँ हैं, वर्णों के उच्चारण में जो प्रयत्न किया जाता है वह बल है, वर्णों का नियमानुसार सम वृत्ति से उच्चारण करना साम है और दो वर्णों की सन्धि से होने वाला रूपान्तर सन्तान है। सन्तान को संहिता भी कहा जाता है।

संहितोपासना

तृतीय अनुवाक के प्रारम्भ पर जिज्ञासु शिष्य एकदा पुनः आचार्य एवं अपने लिये संयुक्त प्रार्थना करते हुए कामना करता है कि ब्रह्म के सामीप्य से जिस यश एवं ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है, वह उसे और आचार्य को एक साथ ही प्राप्त हो।

इस प्रार्थना के उपरान्त आचार्य शिष्य को सृष्टि के विभिन्न तत्वों और उनके परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाले विभिन्न रूपों को 'शिक्षा' में उपदिष्ट वर्णों और उनकी परस्पर सन्धि के समान ही देखते हुए सृष्टि की उपासना करने का उपदेश देते हैं। सृष्टि के मूलतत्वों के परस्पर संयोग को यहाँ महासंहिता कहा गया है और इस रूप में सृष्टि की उपासना को श्रीशङ्कराचार्य संहितोपनिषद् अथवा संहितोपासना की संज्ञा देते हैं।

संहितोपासना की व्याख्या करते हुए आचार्य शिष्य को बताते हैं कि कैसे पृथिवी एवं द्युलोक की सन्धि आकाश में होती है और वायु इस सन्धि का माध्यम, सन्धान बनता है। यह लोक सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, अग्नि और आदित्य की सन्धि जल में होती है और आकाशीय विद्युत् इस सन्धि में सन्धान बनती है। यह ज्योतियों सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, आचार्य एवं अन्तेवासी शिष्य की सन्धि विद्या में होती हैं और प्रवचन इस सन्धि में सन्धान होता है। यह

---

[८] तैत्तिरीयोपनिषद् १.२, पृ.२५।

विद्या सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, माता और पिता की सन्धि प्रजा में होती है और प्रजनन इसमें सन्धान होता है। यह प्रजा विषयक महासंहिता है। अन्ततः आचार्य बताते हैं कि नीचे के हनु और ऊपर के हनु की सन्धि वाणी में होती है और जिह्वा इस सन्धि में सन्धान बनती है। यह आत्म सम्बन्धी महासंहिता है।

इन पाँच महासंहिताओं का वर्णन करते हुए आचार्य शिष्य को समझाते हैं कि इन संहिताओं में प्रथम तत्व शिक्षा में सीखी गयी संहिता के पूर्वरूप अथवा प्रथम वर्ण के ही समान है, दूसरा तत्व उत्तररूप अथवा द्वितीय वर्ण के समान है और तृतीय तत्व जिसमें प्रथम दो तत्वों की सन्धि होना कहा गया है, वह दो वर्णों की सन्धि से बनने वाले रूपान्तरित वर्ण के समान है। जिस चौथे तत्व का इन महासंहिताओं में उल्लेख हुआ है, वह शिक्षा में वर्णों की सन्धि के माध्यम सन्धान के समान है।

इस प्रकार पाँच महासंहिताओं की व्याख्या करने के पश्चात् आचार्य कहते है कि जो जिज्ञासु इन महासंहिताओं को जानकर इस रूप में सृष्टि की उपासना करता है वह प्रजा, पशु, अन्न एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो अन्ततः स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। आचार्य का आशीर्वाद है –इतीमा महासꣳहिता य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।[१]

आवहन्ती होम

शीक्षावल्ली के चतुर्थ अनुवाक का आरम्भ प्रणवस्तुति से होता है। ओङ्कार शब्द भारतीय बोध में सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत और इस प्रकार स्वयं ब्रह्म का ही द्योतक माना गया है। ओङ्काररूपी ब्रह्म का आह्वान करते हुए जिज्ञासु इस अनुवाक में प्रार्थना करता है कि –

"ॐ! जो वेदवाक्यों में ऋषभ-सा है, जो सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होते हुए विश्वरूप ही है, जो वेदरूपी अमृत के सारवत् आविर्भूत हुआ है और जो सभी कामनाओं के स्वामी इन्द्र के समान है, ऐसा वह ओङ्कार मुझे मेधा से सम्पन्न करे। हे देव! मैं ब्रह्मज्ञान से प्रवाहित होने वाले अमृत को धारण करूँ। मेरा शरीर विचक्षण बने। मेरी जिह्वा मधुमती हो। कानों से मैं भली-भाँति श्रवण करूँ। ॐ! तुम स्वयं ब्रह्म के कोष हो, तुझमें ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है, परन्तु लौकिक बुद्धि से ढके रहने के कारण तुम्हारा यह स्वरूप आँखों से ओझल रहता है। ब्रह्म के कोष ऐसे ॐ! तुम मेरी श्रवण की हुई विद्या की रक्षा करो।"

[१] तैत्तिरीयोपनिषद् १.३, पृ.२८।

शरीर के सौष्ठव, इन्द्रियों की कुशाग्रता और बुद्धि की निर्मलता के हेतु यह प्रार्थना ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु के करने योग्य ही है, इनके बिना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। समुचित मेधा की कामना से की गयी इस प्रार्थना के उपरान्त उपनिषद् लोक में यश एवं समृद्धि की प्राप्ति की कामना से किये जाने वाले 'आवहन्ती होम' की शिक्षा देता है। ब्रह्मचारी जिज्ञासु के लिये तो सब प्रकार की लौकिक विभूति त्याज्य ही है। अतः भौतिक सम्पदा एवं यश के हेतु यह होम सम्भवतः आचार्य के निमित्त ही किया जाता है, अथवा यह होम उस समय के निमित्त है जब ब्रह्मचारी जिज्ञासु ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो स्वयं आचार्यपद को प्राप्त हो जायेगा। आवहन्ती होम का सम्पादन करते हुए मुमुक्षु प्रार्थना करता है –

''ॐ! मेरी श्रवण की हुई विद्या का संरक्षण करने के अनन्तर तू मेरे पास ऐसी श्री लेकर आ जो मुझे तुरन्त वस्त्र, गो, लोमश पशु एवं अन्नपान की सम्पदा से समृद्ध कर दे, और जो इस समृद्धि को सर्वदा बनाये रखे एवं सतत इसका विस्तार करती जाये। स्वाहा!

''ब्रह्मचारी मेरे पास आयें। स्वाहा! ब्रह्मचारी मेरे प्रति निष्कपट हों। स्वाहा! मेरे पास आने वाले ब्रह्मचारी प्रमा को धारण करें। स्वाहा! वे इन्द्रियनिग्रह करते हुए दम का पालन करें। स्वाहा! वे ब्रह्मचारी मनोनिग्रह करते हुए शम का पालन करें। स्वाहा!

''मैं जन में यश का भागी होऊँ। स्वाहा! मैं अत्यन्त प्रशंसनीय एवं धनवान् होऊँ। स्वाहा! हे भगवन्! ब्रह्म के कोषभूत तुझ में मैं प्रवेश कर जाऊँ। स्वाहा! हे भगवन्! तुम मुझ में प्रवेश कर जाओ। स्वाहा! सहस्रशाखाओं से युक्त हे भगवन्! मैं तुझमें अपने समस्त पापों का मार्जन करूँ। स्वाहा!

''हे सर्वस्व के विधाता ! जिस प्रकार जल नीचे की ओर बहता चला जाता है और जिस प्रकार मास संवत्सर में लीन होते चले जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी सब दिशाओं से मेरी ओर आते चले जायें। स्वाहा!

''तू जो सब के सब प्रकार के श्रम की निवृत्ति का स्थान है, वह तू मेरे प्रति अपने को प्रकाशित कर। तू मुझे प्राप्त हो।''

व्याहृत्योपासना

चतुर्थ अनुवाक में मेधा एवं श्री की कामना से की जाने वाली भावप्रवण उपासना एवं होम की शिक्षा देने के अनन्तर उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को एकदा पुनः सृष्टि के मूलभूत तत्वों पर ध्यान केन्द्रित कर सृष्टि के मूलस्रोत ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देते हैं। इससे पूर्व, तृतीय अनुवाक में 'शीक्षा' में होने वाली वर्णों की संहिता के अनुरूप ही सृष्टि के मूलभूत

तत्वों की संहिता को देखते हुए 'संहितोपासना' करने का उपदेश दिया गया है। अब इस पाँचवें अनुवाक में सृष्टि के मूलभूत घटकों को व्याहृति नामक लोकों की शृङ्खला के रूप में देखते हुए व्याहृतिरूपी ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की जाती है।

भूः, भुवः एवं सुवः नामक तीन व्याहृतियाँ परम्परा से ज्ञात हैं। उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को इन तीन का स्मरण करवाने के उपरान्त कहते हैं कि महाचमस के पुत्र ऋषि माहाचमस्य ने महः नामक एक चौथी व्याहृति का उपदेश दिया है। वह महः ब्रह्म ही है। वह सृष्टि की आत्मा है और अन्य सब देवता उसके अवयव हैं।

इस प्रकार चार व्याहृतियों का परिचय देकर द्रष्टा आचार्य सृष्टि के मूलभूत घटकों को एक सुनिश्चित क्रम से इन चार के साथ जोड़ते हुए जिज्ञासु को व्याहृत्योपासना की शिक्षा देते हैं। द्रष्टा कहते हैं कि सर्वप्रथम भूः इहलोक है, भुवः अन्तरिक्षलोक है, सुवः स्वर्गलोक है और महः आदित्य है – आदित्य से ही समस्त लोक वृद्धि पाते हैं। पुनः द्रष्टा कहते हैं कि भूः अग्नि है, भुवः वायु है, सुवः आदित्य है और महः चन्द्रमा है – चन्द्रमा से ही सभी ज्योतिमान् नक्षत्रादि ज्योति पाते हैं। पुनश्च, भूः ऋक् है, भुवः साम है, सुवः यजुः है और महः ब्रह्म है – ब्रह्म से ही समस्त वेदों का आविर्भाव होता है। अन्ततः द्रष्टा कहते हैं कि भूः प्राणवायु है, भुवः अपानवायु है, सुवः व्यानवायु है और महः अन्न है –अन्न से ही समस्त प्रकार की प्राणवायु सञ्चारित होती है।

इस प्रकार चारों व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार की होती हैं। इन चतुर्धा चार व्याहृतियों के रूप में ब्रह्म की उपासना की शिक्षा देने के पश्चात् द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि जो इन व्याहृतियों को जानता है वह ब्रह्म को जानता है, सम्पूर्ण देवगण ऐसे ज्ञाता जिज्ञासु के लिये उपहार लेकर प्रस्तुत होते हैं।

अन्तःस्थित ब्रह्म की उपासना

छठे अनुवाक में पिछले अनुवाक में आरम्भ की गयी ध्यानयुक्त उपासना को आगे बढ़ाते हुए आचार्य अब जिज्ञासु को अपने भीतर झाँकने, बाह्य लोकों में अभिव्यक्त ब्रह्म से दृष्टि हटाकर अपने भीतर स्थित ब्रह्म को देखने का उपदेश देते हैं। अन्तःस्थित ब्रह्म के उपलब्धि स्थान का परिचय देते हुए आचार्य कहते हैं –

''हृदय के मध्य यह जो आकाश है, दिक् सम्बन्धी महाभूत का जो अंश वहाँ विद्यमान् है, वही इस सर्वस्व को पूरित किये रहने वाले 'पुरुष' का निवासस्थान है। हृदयाकाश में स्थित वह पुरुष मनोमय है, केवल मनन से ही उसे जाना जाता है और उसके वहाँ रहने से ही मनन सम्भव होता है। वह पुरुष अमृतमय है – वह जीवन-मरण से परे है, और वह हिरण्मय है, ज्योतिस्वरूप है।''

अन्तःस्थित ब्रह्म के उपलब्धि स्थान हृदयाकाश का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु को एक ऐसी गहन उपासना की शिक्षा देते हैं, जो अन्तर्मन के इस हृदयाकाश से आरम्भ हो सारी सृष्टि को ही जिज्ञासु के ध्यान में समेटती चली जाती है। आचार्य कहते हैं –

''तालु के मध्य यह स्तन के समान लटकती हुई लम्बिका है। यहाँ से प्रारम्भ हो शीर्षप्रदेश में जहाँ केश विभक्त होते हैं वहाँ से यह इन्द्रयोनि कपाल को विदीर्ण करके निकलती है। यही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है। हृदयाकाश में स्थित पुरुष इस मार्ग से निकलकर 'भूः' व्याहृति के रूप में व्याप्त अग्नि में समा जाता है, इसी प्रकार वह पुरुष 'भुवः' व्याहृति के रूप में व्याप्त वायु में समा जाता है, पुनः वह 'सुवः' व्याहृति के रूप में व्याप्त आदित्य में समा जाता है और अन्ततः वह 'महः' व्याहृति के रूप में व्याप्त ब्रह्म में समा जाता है।

''इस प्रकार हृदयाकाश में विद्यमान यह पुरुष ब्रह्मभूत हो स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं अपना स्वामी हो जाता है। स्वाराज्य को प्राप्त हुआ वह ब्रह्मभूत पुरुष मन का, वाणी का, चक्षु का, श्रोत्र का और समस्त विज्ञान का स्वामी हो जाता है। अन्ततः इन सब से भी परे पहुँचकर वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, उस ब्रह्म में समा जाता है जिसका आकाश ही शरीर है, सत्य ही जिसकी आत्मा है, जिससे समस्त जीवसृष्टि में प्राणों का सञ्चरण होता है, जो मन को आनन्द से परिपूर्ण करता है और जो शान्तिसम्पन्न एवं अमृतस्वरूप है।''

इस प्रकार हृदयाकाश से आरम्भ हो सारी सृष्टि तक व्याप्त होने वाली इस ध्यान-उपासना का निर्देश करने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु से आग्रह करते हैं कि –

''हे प्राचीनयोग्य जिज्ञासु, तुम जो अनेक जीवनों के तप के उपरान्त ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा के योग्य हुए हो, ऐसे तुम इस प्रकार उस ब्रह्म की उपासना करो।''

पाङ्क्तोपासना

शीक्षावल्ली के सातवें अनुवाक में द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य को एकदा पुनः सृष्टि के मूल घटकों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि के एकमेव स्रोत ब्रह्म की उपासना का निर्देश करते हैं। पहले, तृतीय अनुवाक में 'शीक्षा' की संहिताओं के रूप में और पाँचवें अनुवाक में व्याहृतियों के रूप में सृष्टि के विभिन्न घटकों को देखते हुए ब्रह्मोपासना करने की शिक्षा दी गयी है। अब इस सातवें अनुवाक में आचार्य सृष्टि के मूल घटकों को पाँच-पाँच की छः शृङ्खलाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पाँच-पाँच घटकों की इन शृङ्खलाओं को 'पाङ्क्तों' की संज्ञा दी गयी है।

पाङ्क्तों के रूप में सृष्टि का दिग्दर्शन करवाते हुए आचार्य सर्वप्रथम पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं एवं अवान्तर दिशाओं के पाङ्क्त की ओर इङ्गित करते हैं। यह 'लोकपाङ्क्त' है।

आगे आचार्य अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा एवं नक्षत्रों के 'देवपाङ्क्त' का निर्देश करते हैं। और तदुपरान्त वे अप्, औषधि, वनस्पतियों, आकाश एवं आत्मा के 'भूतपाङ्क्त' का वर्णन करते हैं। श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार इस भूतपाङ्क्त में आत्मा का अर्थ विराट् से है और विराट् ब्रह्म के शरीररूपी समस्त भौतिक सृष्टि को कहा जाता है।

लोकपाङ्क्त, देवपाङ्क्त एवं भूतपाङ्क्त, ये तीन आधिभौतिक पाङ्क्त हैं – जिज्ञासु अपने से बाह्य सृष्टि पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि को इन तीन पाङ्क्तों के रूप में देखता है। अब आगे द्रष्टा आचार्य आध्यात्मिक पाङ्क्तों का वर्णन करते हैं – अपने भीतर ध्यान केन्द्रित करने पर सृष्टि इन आध्यात्मिक पाङ्क्तों के रूप में दिखलायी देती है।

आध्यात्मिक पाङ्क्तों का निर्देश करते हुए आचार्य सर्वप्रथम प्राण, व्यान, अपान, उदान एवं समान वायुओं के पाङ्क्त की ओर इङ्गित करते हैं। जीवशरीर इन पाँच वायुओं से ही अपने विभिन्न कार्यों का सम्पादन करता है। आगे आचार्य चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वक् के 'इन्द्रियपाङ्क्त' का निर्देश करते हैं। इन इन्द्रियों से ही जीव सब प्रकार का ज्ञान ग्रहण करता है। अन्ततः आचार्य चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि एवं मज्जा के 'धातुपाङ्क्त' का वर्णन करते हैं। इन धातुओं से ही जीवशरीर का निर्माण होता है।

इस प्रकार तीन आधिभौतिक एवं तीन आध्यात्मिक पाङ्क्तों का विधान करने के उपरान्त आचार्य कहते हैं कि यह सब, यह समस्त सृष्टि, पाङ्क्त ही हैं। जिज्ञासु पाङ्क्त से ही पाङ्क्त को परिपूर्ण करता है, आध्यात्मिक पाङ्क्तों से आधिभौतिक पाङ्क्तों को परिपूर्ण करते हुए अपने आप का ऐसे विस्तार करता है कि वह समस्त सृष्टि के साथ एकरूप ही हो जाता है। इस प्रकार पाङ्क्तों के रूप में ब्रह्म की उपासना करते हुए, पाङ्क्तों को जानते हुए, जिज्ञासु प्रजापति के साथ एकात्म हो जाता है।

ओङ्कारोपासना

पूर्ववर्ती अनुवाकों में द्रष्टा आचार्य ने जिज्ञासु को बाह्य एवं आन्तरिक जगत् को, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सृष्टि को, सृष्टि के मूलभूत घटकों की संहिताओं, व्याहृतियों एवं पाङ्क्तों की क्रमबद्ध शृङ्खलाओं के रूप में देखते हुए ब्रह्म की ध्यान-उपासना करने का उपदेश किया है। अब आठवें अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को प्रणव का अवलम्बन ले सृष्टि की सम्पूर्णता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए ब्रह्म की सर्वाङ्गीण उपासना करने की शिक्षा देते हैं। ओङ्कारोपासना का विधान करते हुए आचार्य कहते हैं –

''ॐ ही ब्रह्म है। यह जो सब है वह ॐ ही है। ॐ ही अनुकृतिवाचक शब्द के रूप में प्रसिद्ध हैं – होम करते हुए याज्ञिक ॐ शब्द से ही अनुकरण की सम्मति देते हैं। और 'ओ श्रावय'

ऐसा कहकर वे प्रतिश्रवण करवाते हैं। सामगायक ॐ शब्द से ही सामगान प्रारम्भ करते हैं। शस्त्र नामक गीतिरहित ऋचाओं का पाठ करने वाले 'ॐ शोम्' शब्द से ही पाठ प्रारम्भ करते हैं। अध्वर्यु याज्ञिक ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए ही प्रतिगर याज्ञिक को यज्ञ सम्बन्धी प्रत्येक कर्म के सम्पादन के लिये प्रेरित करता है। ब्रह्मा याज्ञिक ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए यजमान को अनुज्ञा देता है और ॐ शब्द से ही वह अग्निहोत्र के सम्पादन की आज्ञा देता है। वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व ब्राह्मण ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए सङ्कल्प करता है कि 'मै ब्रह्म को प्राप्त करूँ।' इस प्रकार ॐ के उच्चारण के साथ सङ्कल्प करके वह निश्चय ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।''

जिज्ञासु का नित्यानुशासन

सृष्टि के विभिन्न पक्षों एवं विभिन्न रूपों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि के मूलस्रोत ब्रह्म की ध्यान-उपासना का विधान आठवें अनुवाक से पूरा हो जाता है। आगे के तीन अनुवाकों में जिज्ञासु के लिये नित्य अनुसरणीय कर्मों, सतत जप एवं लौकिक उत्तरदायित्वों के समुचित सम्पादन के अनुशासन का विधान किया गया है।

शीक्षावल्ली के नवम अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को विभिन्न श्रौत एवं स्मार्त कर्मों के निष्ठापूर्वक नित्य अनुष्ठान का उपदेश देते हैं। आचार्य का आदेश है कि जिज्ञासु को सब परिस्थितियों में शास्त्र एवं अपने कर्तव्यानुसार बुद्धि से सुनिश्चित किये गये अर्थ का विवेक रखते हुए 'ऋत' का पालन करना चाहिये। इस प्रकार सुनिश्चित किए गये अर्थ का वाक् एवं शरीर से व्यवहार में सम्पादन करते हुए 'सत्य' का पालन करना चाहिये। ब्रह्मविद्या के अनुसन्धान में शरीर को सतत तपाते हुए 'तप' का अनुष्ठान करना चाहिये। बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करते हुए 'दम' का और चित्तवृत्तियों का निग्रह करते हुए 'शम' का निर्वाह करना चाहिये। लौकिक अग्नियों का आधान करते हुए 'अग्नि' के अनुशासन का और सदा होम करते हुए 'अग्निहोत्र' का पालन करना चाहिये। घर-द्वार पर आये अतिथियों का सम्मान-सत्कार एवं पूजन करते हुए 'अतिथि' सम्बन्धी अनुशासन का और समुचित लौकिक व्यवहार का अवलम्बन लेकर 'मानुष' सम्बन्धी अनुशासन का निर्वाह करते रहना चाहिये। जिज्ञासु को पुत्र-पुत्रियों को उत्पन्न एवं पोषित कर 'प्रजा' के, समुचित काल में प्रजनन की ओर प्रेरित हो 'प्रजन' के और पौत्र-पौत्रियों के जन्म एवं संरक्षण का प्रबन्ध कर 'प्रजाति' के कर्तव्यों को निभाते रहना चाहिये। इस सब के अतिरिक्त जिज्ञासु को अपनी शाखा से सम्बन्धित विद्या का अनुशासनपूर्वक अनुशीलन करते हुए 'स्वाध्याय' में और उस विद्या का आगे सञ्चार करते हुए 'प्रवचन' में सर्वदा लीन रहना चाहिये।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

जिज्ञासु के लिये अनुसरणीय इस नित्य अनुशासन में स्वाध्याय एवं प्रवचन का वस्तुतः विशेष महत्त्व है। उपरोक्त प्रत्येक कर्म के निर्वाह का उपदेश देते हुए आचार्य जिज्ञासु को स्वाध्याय एवं प्रवचन की अनिवार्यता का स्मरण कराते चले जाते हैं। आचार्य का उपदेश इस प्रकार है – ''ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च शमश्च स्वाध्याये प्रवचने च।...''[१०]

जिज्ञासु के करने योग्य नित्यकर्मों का इस प्रकार निर्देश करने के अनन्तर आचार्य कहते हैं कि ऋषि रथीतर के वंशज सत्यवचा का मानना है कि 'सत्य' ही निर्वाह करने के योग्य है, पुरुशिष्ट के वंशज ऋषि तपोनित्य का मत है कि 'तप' ही नित्य अनुष्ठान करने के योग्य है और मुद्गल के वंशज ऋषि नाक का कहना है कि 'स्वाध्याय' एवं 'प्रवचन' ही नित्य अनुष्ठेय हैं। इस प्रकार पूर्व ऋषियों के मतों का उपदेश करके उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य कहते हैं कि वस्तुतः स्वाध्याय एवं प्रवचन ही तप हैं, यही तप हैं।

जिज्ञासु के लिये जपमन्त्र

शीक्षावल्ली के दसवें अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को सतत जप के लिये, मन्त्राम्नाय स्वाध्याय के लिये, एक गूढ मन्त्र का उपदेश देते हैं। यह जप चित्त एवं बुद्धि को शुद्ध कर उसे ब्रह्मज्ञान के ग्रहण के योग्य बनाने के लिये ही है। आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम ऋषि त्रिशङ्कु ने इस मन्त्र का गायन किया था। त्रिशङ्कु ऋषि का अनुकरण करते हुए और अपने आपको ब्रह्म के साथ एकरूप हुआ अनुभव करते हुए जिज्ञासु अब इस प्रकार जप करता है –

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसवर्चसम्।
सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥[११]

मैं ही इस संसार रूपी वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान उच्च है। मैं स्वयं ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ हूँ – पवित्र ब्रह्म ही मेरा कारण है। जिस प्रकार समस्त अन्न का स्रोत सूर्य अमृत का धारक है, वैसे ही मैं भी अमृतमय हूँ। मैं ही देदीप्यमान् सम्पत्ति हूँ, मैं ही शुद्ध मेधा हूँ, मैं अमृत से सिक्त हूँ। यह ऋषि त्रिशङ्कु का वेदानुवचन है।

---

[१०] तैत्तिरीयोपनिषद् १.९, पृ.६१।
[११] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०, पृ.६५।

स्नातक के प्रति आचर्योपदेश

शीक्षावल्ली के अगले अनुवाक में वेदाध्ययन सम्पन्न कर गृहस्थाश्रम में स्थित हो लौकिक जीवन का निर्वाह करने के योग्य हुए स्नातक ब्रह्मचारी के लिये समुचित अनुशासन का विधान किया गया है। श्रीआदिशङ्कराचार्य इस अनुवाक का प्रयोजन समझाते हुए कहते हैं कि श्रौत एवं स्मार्त लौकिक कर्मों का अनुशासनपूर्वक वहन करते हुए ही जिज्ञासु शुभ संस्कारों को प्राप्त होता है, और संस्कारयुक्त एवं विशुद्धचित्त जिज्ञासु के लिये तो ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि सहज ही है, ऐसा जिज्ञासु तो बिना प्रयास के ही ब्रह्मज्ञान को पा जाता है। अतः इस अनुवाक में वर्णित लौकिक जीवन का अनुशासन ब्रह्मज्ञान का ही हेतु है।

उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य गुरु के चरणों में वेदाध्ययन सम्पन्न कर लौकिक जीवन में प्रवेश के लिये प्रस्तुत हुए स्नातक ब्रह्मचारी को दिये जाने वाले उपदेश का निर्देश करते हुए कहते हैं –

''वेदाध्ययन सम्पन्न करवाकर आचार्य अन्तेवासी शिष्य से कहता है –

'सत्य बोलो। धर्मानुरूप आचरण करो। स्वाध्याय के प्रति प्रमाद मत करो। आचार्य के लिये समुचित धन एकत्रित करने के पश्चात् सन्तान परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने का उपक्रम करो, सन्तान परम्परा का छेदन मत करो। सत्य के प्रति प्रमाद न करो। धर्म के प्रति प्रमाद न करो। अपनी कुशलता के प्रति प्रमाद न करो। भूतिकारक शुभ एवं मङ्गल कर्मों के प्रति प्रमाद न करो। स्वाध्याय एवं प्रवचन के प्रति प्रमाद न करो।

'देवों एवं पितरों के निमित्त किये जाने वाले कर्मों के प्रति प्रमाद न करो। माता तुम्हारे लिये देववत् हों। पिता तुम्हारे लिये देववत् हों। आचार्य तुम्हारे लिये देववत् हों। अतिथि तुम्हारे लिये देववत् हों।

'जो कर्म अनिन्द्य माने गये हैं उन्हीं का सेवन करो, अन्यों का नहीं। हम गुरुजनों के जो शुभ चरित हैं तुम उन्हीं की उपासना करो, उन्हीं का श्रद्धापूर्वक आचरण करो, अन्यों का नहीं। हम गुरुजनों से भी श्रेष्ठ जो ब्राह्मण हों, तुम उन्हें आसनादि समर्पण कर उनका पूजन करो।

'श्रद्धापूर्वक दान करो। अश्रद्धापूर्वक, लेने वाले के प्रति हीन भाव रखते हुए, दान मत दो। अपने ऐश्वर्य के अनुरूप दान दो। लज्जापूर्वक, लेने वाले के प्रति विनय का भाव रखते हुए, दान दो। भयपूर्वक, लेने वाले के प्रति सङ्कोच का भाव रखते हुए, दान दो। संविद्पूर्वक, लेने वाले के प्रति मैत्री एवं संवेदना का भाव रखते हुए, दान दो।

'यदि कभी तुम्हारे समक्ष कर्म अथवा आचरण के विषय में संशय उत्पन्न हो तो उस सन्दर्भ

में वैसा ही आचरण करो जैसा वहाँ विचारशील, अन्यों के अनुशासन से मुक्त, स्वेच्छा से कर्मयुक्त, सरलमति एवं धर्मकामी ब्राह्मण उस सन्दर्भ में करते हैं।

'जिन पर किसी प्रकार का कोई दोष आरोपित किया गया हो, उनके प्रति तुम वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि वहाँ विचारशील, अन्यों के अनुशासन से मुक्त, स्वेच्छा से कर्मयुक्त, सरलमति एवं धर्मकामी ब्राह्मण उन अभियुक्तों के प्रति करते हैं।' ''

स्नातक ब्रह्मचारी को दिये जाने वाले इस विस्तृत एवं विशद उपदेश का उपसंहार करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यह अनुशासन स्नातक के लिये सर्वदा अनुल्लङ्घनीय है। अनुवाक के अन्त में आचार्य आग्रहपूर्वक कहते हैं –

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्।
एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।[१२]

यही आदेश है। यही मेरा तुम्हारे प्रति उपदेश है। यही वेदों का सार है। यही प्रामाणिक अनुशासन है। इसी की उपासना करो। इसी पर श्रद्धापूर्वक आचरण करो। इसी पर दृढता से आचरण करो।

शान्तिपाठ

शीक्षावल्ली का अन्तिम, द्वादश अनुवाक इस वल्ली में प्राप्त की गयी विद्या के निर्विघ्न संरक्षण के लिये किया गया शान्तिपाठ है। यह पाठ शीक्षावल्ली के प्रारम्भ में किये गये शान्तिपाठ के प्रायः समरूप ही है, केवल पाठ के द्वितीय भाग में 'वदिष्यामि' के स्थान पर 'अवादिषम्' और 'अवतु' के स्थान पर 'आवीत्' क्रियापदों का उपयोग किया गया है। शीक्षावल्ली के प्रारम्भ पर जिज्ञासु वायु को ऋत, सत्य एवं ब्रह्म की संज्ञा देते हुए शीक्षावल्ली के अनुशीलन में उसकी एवं आचार्य की रक्षा करने की प्रार्थना करता है। अब शीक्षावल्ली के निर्विघ्न समापन पर वह उस वायु को, जिसे उसने ऋत, सत्य एवं ब्रह्म कहकर सम्बोधित किया था, उसी वायु को धन्यवाद देता है कि उसने इस कार्य में शिष्य एवं आचार्य दोनों की ही रक्षा की। इस प्रकार शीक्षावल्ली के अनुशीलन से प्राप्त विद्या संरक्षित रहे, इसके संरक्षण में आने वाले त्रिविध ताप शान्त हों।

शीक्षावल्ली का सार

शीक्षावल्ली का उद्देश्य जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से अपनी जिज्ञासा के योग्य बनाना है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु को सब प्रकार से सक्षम बनाने का यह वृहद् अनुष्ठान निश्चय

---

[१२] तैत्तिरीयोपनिषद् १.११, पृ.७१।

ही अत्यन्त सुघड़ता से सम्पादित किया गया है। यहाँ आचार्य जिज्ञासु को सर्वप्रथम शब्दों के सम्यक् बोध के शास्त्र का स्मरण कराते हैं, इस शास्त्र को जाने बिना तो किसी प्रकार का पठन-पाठन सम्भव ही नहीं होता। इसके अनन्तर आचार्य सृष्टि के मूल घटकों को संहिताओं, व्याहृतियों एवं पाङ्क्तों के रूप में जिज्ञासु के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उसे इन विभिन्न रूपों में सृष्टि की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। और, सृष्टि के आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक घटकों को इन विभिन्न रूपों में देखते हुए की गयी प्रत्येक ध्यान-उपासना के उपरान्त आचार्य जिज्ञासु को सृष्टि की सर्वाङ्गीण समग्रता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए इस समग्रता के द्योतक ओङ्कार की आराधना का उपदेश देते हैं।

गहन ध्यान-उपासना एवं श्रद्धायुक्त आराधना के इस सुदीर्घ क्रम को सम्पन्न करवाने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु को स्वाध्याय-प्रवचन एवं ऋत,सत्य, शम, और दम आदि के अनुशासन का सतत निर्वाह करने, और निरन्तर एक ऐसे गूढ मन्त्र का जप करने का निर्देश देते हैं जिसमें ब्रह्म के साथ एकाकार हुए जिज्ञासु की मनोस्थिति का स्मरण किया गया है। इस सघन अनुशासन का पालन और इस मन्त्र का जप करते हुए जिज्ञासु निश्चय ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अपने लक्ष्य का अपनी बुद्धि एवं वृत्ति में गहनता से समावेश कर लेता है। अन्ततः आचार्य जिज्ञासु को अनुशासित लौकिक जीवन जीते हुए उपयुक्त संस्कारों का सञ्चय करने और स्वाध्याय एवं प्रवचन में रत रहने की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ध्यान-उपासना, आराधना, स्वाध्याय-प्रवचन और संस्कारयुक्त अनुशासित जीवन का अनुशीलन करते हुए जिज्ञासु एक दिन अनायास ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

शीक्षावल्ली में सिखाया गया यह सब अनुशासन ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का उपक्रम मात्र है। ब्रह्मविद्या की, ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप तक पहुँचने की प्रक्रिया की शिक्षा तो उपनिषद् की अगली दो वल्लियों, ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली में ही दी गयी है। वहाँ आचार्य जिज्ञासु को समझाते हैं कि कैसे अव्यक्त सूक्ष्म ब्रह्म सृष्टि की स्थूल से स्थूलतर होती जाती परतों में अपने आप को अभिव्यक्त करते जाते हैं, और कैसे योग्य जिज्ञासु स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए एक-एक परत को अनावृत करता चला जाता है एवं अन्ततः एकाकी अव्यक्त एवं नितान्त आनन्दरूप ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन पा लेता है।

ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में जैसे-जैसे द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य के लिये ब्रह्मविद्या के गूढ से गूढतर रहस्यों को प्रकट करते चले जाते हैं, वैसे-वैसे ही अन्न एवं अन्न के विभिन्न रूप आचार्य के उपदेश में महत्तर होते जाते हैं। शीक्षावल्ली में तो अन्न का उल्लेख मात्र दो-तीन स्थानों पर ही आया है। शीक्षावल्ली के पञ्चम अनुवाक में अन्न को महः व्याहृति के रूप में प्रस्तुत किया

गया है और महः व्याहृति तो ब्रह्म ही है। उस सन्दर्भ में आचार्य का उपदेश है – मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते।[१३] 'अन्न महः व्याहृति है। अन्न से सब जीवों में प्राण का सञ्चार होता है।' इसके अतिरिक्त तीसरे अनुवाक में संहितोपासना का उपदेश देने के अनन्तर हम आचार्य को यह आशीर्वाद देते हुए सुनते हैं कि संहिताओं के रूप में सृष्टि की ध्यान-उपासना करने वाला जिज्ञासु ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले यश, उत्तम लोकों, विपुल अन्न, प्रजा एवं पशुओं से सम्पन्न होता है – संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।[१४] और शीक्षावल्ली के प्रायः अन्त पर, दशम अनुवाक में, आचार्य आदित्य को वाजिनि की संज्ञा देते हैं। 'वाज' अन्न का ही पर्याय है और समस्त अन्न का स्रोत होने से सूर्य वाजिनि कहलाता है। सूर्य के इस अन्नमय स्वरूप का स्मरण करते हुए दशम अनुवाक में जिज्ञासु इस प्रकार जप करता है – ''मैं स्वयं ब्रह्म से उत्पन्न हुआ हूँ। जिस प्रकार समस्त अन्न का स्रोत सूर्य अमृत का धारक है वैसे ही मैं भी अमृतमय हूँ। मैं ही देदीप्यमान सम्पत्ति हूँ, मैं ही शुद्ध मेधा हूँ, मैं अमृत से लिप्त हूँ। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसवर्चसम्।''[१५]

शीक्षावल्ली में अन्न का मात्र इतना ही उल्लेख है। परन्तु ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में तो अन्न सब ओर ही व्याप्त दिखायी देता है। ब्रह्मनन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या की विभिन्न परतों का अनावरण करते हुए आचार्य सबसे पहले ब्रह्म के अन्नमय कोश की ही व्याख्या करते हैं, और भृगुवल्ली में जिज्ञासु जब साक्षात्कार के मार्ग पर चल निकलता है तो इस मार्ग के द्वार पर उसे अन्न के ही दर्शन होते हैं। और अन्ततः जब द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए जिज्ञासु शिष्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तो आचार्य और शिष्य दोनों ही अनायास अन्न की स्तुति में भव्य गायन प्रारम्भ कर बैठते हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भृगुवल्ली में आचार्य और शिष्य ब्रह्म को अन्नमय ही पाते हैं, अन्न को ही ब्रह्म के स्थान पर बैठाकर अन्न की ही गरिमा एवं अन्न के ही अनुशासन का गायन करते हैं। अन्न की अद्भुत महिमा की इस अद्वितीय अभिव्यक्ति के साथ ही उपनिषद् का उपसंहार होता है।

ब्रह्मविद्या का स्वरूप : ब्रह्मानन्दवल्ली

ब्रह्मानन्दवल्ली का प्रारम्भ भी शीक्षावल्ली की भाँति ही शान्तिपाठ से होता है। इस वल्ली के अपेक्षाकृत सङ्क्षिप्त शान्तिपाठ में द्रष्टा आचार्य एवं दर्शनाभिलाषी शिष्य ब्रह्म से प्रार्थना करते

[१३] तैत्तिरीयोपनिषद् १.५, पृ.४२।
[१४] तैत्तिरीयोपनिषद् १.३, पृ.२८।
[१५] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०, पृ.६५।

हैं कि वे दोनों साथ-ही-साथ, आचार्य और शिष्य युगपत्, संरक्षण, जीविका, बल एवं तेज से सम्पन्न हों, उन दोनों में कभी किसी प्रकार का विद्वेष न हो और विद्या प्राप्ति के जिस मार्ग पर वे निकले हैं उस मार्ग में आने वाले सभी प्रतिबन्धों का निवारण हो, सब प्रकार के विघ्न शान्त हों। शान्तिपाठ है –

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः ![16]

ॐ! वह ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, हम दोनों का साथ-ही-साथ पोषण करे। हम दोनों साथ-ही-साथ वीर्यवान् हों। हम जिस विद्या का अध्ययन कर रहे हैं, उसमें हम तेजस्वी हों। हम आपस में द्वेष न करें। ॐ! सब प्रकार के विघ्न शान्त हों।

विद्या का फल

शान्तिपाठ के तुरन्त पश्चात् आचार्य जिज्ञासु के सम्मुख उसकी जिज्ञासा के परम ध्येय का चित्रण करते हैं। ब्रह्मविद्या के ज्ञाता को प्राप्त होने वाले फल का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥[17]

ॐ! जो ब्रह्मविद्या को जानता है वह परमात्मा को, एकमेव अव्यक्त ब्रह्म को पा लेता है। उस परम ब्रह्म के बारे में कहा जाता है कि वह सत्य है, वह ज्ञान है, और वह अनन्त है, समस्त देश-काल में व्याप्त है। जो उस ब्रह्म को परमाकाश में, शुद्ध बुद्धि के अनन्त विस्तार में और हृदय के मध्य विद्यमान आकाश के अंश में निहित जानता है, वह ब्रह्म के साथ सर्वथा एकरूप हो तुरन्त ही सब भोगों को पा लेता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

सृष्टिक्रम

ब्रह्मविद्या के फल का निर्देश करने के अनन्तर आचार्य ब्रह्मविद्या का वर्णन आरम्भ करते

[16] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९४।
[17] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।

हुए सर्वप्रथम अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम की व्याख्या करते हैं। द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः।
अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्।
अन्नात्पुरुषः॥[१८]

उस ब्रह्म से, जो जिज्ञासु की यह आत्मा भी है, आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से अग्नि की, अग्नि से जल की, जल से पृथिवी की और पृथिवी से ओषधियों की उत्पत्ति हुई। ओषधियों से अन्न उत्पन्न हुआ और अन्न से पुरुष।

अन्नमय पुरुष

उपरोक्त में आकाश, अग्नि, जल और पृथिवी सृष्टि के मूलतत्व पञ्चमहाभूतों में से ही चार हैं। ओषधियां मूलभूत वनस्पति हैं, उन्हीं से अन्न होता है और अन्न से पुरुष। श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ पुरुष से शरीरयुक्त व्यक्तिगत जीव ही निर्दिष्ट है। परन्तु क्योंकि यह जीवात्मा परमपुरुष ब्रह्म ही है, उसी का अंश है, इसलिए यहाँ और आगे आने वाले पुरुष शब्द से समस्त सृष्टि में व्याप्त अव्यक्त ब्रह्म का अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। द्रष्टा आचार्य यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जीवशरीर और समस्त सृष्टि में व्याप्त जिस पुरुष का इस सन्दर्भ में निर्देश किया जा रहा है वह सर्वथा अमूर्त नहीं है, वह पुरुष अन्नरसमय है। इसी अन्नरसमय पुरुष का जिज्ञासु को दर्शन करवाना ही इस सन्दर्भ में आचार्य का अभीष्ट है। अतः इस पुरुष की अन्नमयता पर विशेष बल देते हुए आचार्य कहते हैं –

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः।
अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥[१९]

वह, यह पुरुष अन्नरसमय ही है, वह अन्न एवं अन्न के सारभूत रस से बना है। उस पुरुष का ही यह सिर है, उसका ही यह दक्षिण पक्ष है, यह वाम पक्ष है। उसका ही यह मध्य भाग है और उसका ही यह निम्न भाग है। उसी के विषय में आगे का यह श्लोक कहा गया है।

---

[१८] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।
[१९] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।

उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य इतने आग्रह से पुरुष की अन्नमयता का प्रतिपादन करते हुए जिज्ञासु को इस अन्नमय शरीर को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति के रूप में देखने की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार जैसा कि हम पहले सङ्केत करते आये हैं, ब्रह्मविद्या के उपदेश के प्रथम चरण पर ही अन्न का बोध होता है। अव्यक्त ब्रह्म के सृष्टि के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने के क्रम को समझते हुए अन्न को ही सर्वप्रथम समझना होता है। आगे आचार्य बताते हैं कि जिस अन्नमय पुरुष का यहाँ वर्णन हुआ है वही प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय भी है। परन्तु यह प्राणमय आदि पुरुष अन्नमय पुरुष में ही समाये हुए हैं, श्रीशङ्कराचार्य के शब्दों में साँचे में ढाले गये पिघले ताँबे की प्रतिमा के समान ये प्राणमयादि पुरुष अन्नमय पुरुष के रूप से ही रूप पाते हैं, अन्नमय पुरुष के रूप से ही इन आगे के पुरुषों की रूपवत्ता की सिद्धि होती है। अतः अन्नमय पुरुष को समझे बिना प्राणमय आदि पुरुषों का बोध सम्भव नहीं हो सकता।

ब्रह्मानन्दवल्ली में आगे, आचार्य मानो धान के कण से तुषा की परतें हटाते हुए-से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष को जिज्ञासु के लिये अनावृत किये चले जाते हैं। परन्तु इन सब पुरुषों के प्रारम्भ पर और अन्य सब को रूप प्रदान करने वाला तो अन्नमय पुरुष ही है। अगले अनुवाक का आरम्भ आचार्य इस अन्नमय पुरुष की महिमा के गायन से ही करते हैं। जैसे कि आचार्य का कथन है, आगे का श्लोक उसी अन्नमय पुरुष के विषय में ही कहा गया है – तदप्येष श्लोको भवति।

अन्न की महिमा

ब्रह्मानन्दवल्ली के द्वितीय अनुवाक का प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं –

> अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳ श्रिताः। अथो अन्नेनैव
> जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्।
> तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
> अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते।
> जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति॥[२०]

जो भी उत्पन्न होता है वह अन्न से ही उत्पन्न होता है। पृथिवी पर जो कोई भी स्थित है वह अन्न से ही उत्पन्न हुआ है, अन्न का आश्रय लेकर ही जीवित रहता है और अन्ततः अन्न में ही लीन हो जाता है। अन्न ही सब भूतों में ज्येष्ठ है, निश्चय ही अन्न

---

[२०] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

ही सब भूतों में सब से पहले उत्पन्न हुआ है। इसीलिये अन्न को 'सर्वौषध', सब प्राणियों के सब प्रकार के देहसन्ताप को शान्त करने वाला कहा जाता है।

जो अन्न को ब्रह्म मानते हुए श्रद्धापूर्वक उसकी उपासना करते हैं, वे निश्चय ही सब प्रकार के अन्न को प्राप्त कर लेते हैं।

अन्न ही भूतों में ज्येष्ठ है, इसीलिये अन्न को सर्वौषध कहा जाता है। अन्न से ही सब भूतों को जन्म प्राप्त होता है और जन्म लेने के पश्चात् अन्न से ही वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

सब भूत अन्न को खाते है और अन्न उन सब को खाता है, अन्ततः वे सब अन्न में ही समा जाते हैं। क्योंकि भूत अन्न को खाते हैं, तानि अद्यते, और अन्न भूतों को खाता है, तत् अत्ति, इसीलिये उसे 'अन्न' की संज्ञा दी जाती है।

प्राणमय पुरुष

इस प्रकार सृष्टि के ज्येष्ठ भूत एवं ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति अन्नमय पुरुष का परिचय देने के पश्चात् द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के अगले चरण की ओर ले जाते हुए प्राणमय पुरुष का अनावरण करते हैं। आचार्य का उपदेश है –

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः।
स वा एष पुरुषविध एव॥[२१]

इस अन्नरसमय पुरुष से भिन्न और उसके अन्दर विद्यमान एक अन्य, प्राणमय पुरुष है। यह अन्नरसमय पुरुष उस प्राणमय पुरुष से परिपूर्ण है। वह प्राणमय पुरुष इस अन्नरसमय पुरुष के समान पुरुषाकार ही है।

प्राणमय पुरुष की अन्नमय पुरुष के साथ एकरूपता का और भी स्पष्टता से निर्देश करते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि प्राणमय पुरुष अन्नमय पुरुष के आकार से ही पुरुषाकार पाता है। श्रीआदिशङ्कराचार्य इसी सन्दर्भ में पिघली धातु के साँचे के अनुरूप प्रतिमा में ढलने की उपमा देते हैं – अन्नमय पुरुष को परिपूर्ण कर प्राणमय पुरुष अन्नरसमय पुरुष के साँचे में ढल जाता है, उसी जैसा पुरुषाकार हो जाता है। अन्नमय पुरुष के समान ही इस प्राणमय पुरुष के भी विभिन्न

[२१] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

अङ्ग हो जाते हैं और आचार्य प्राणमय पुरुष के विभिन्न अङ्गों की ओर इङ्गित करते हुए बताते हैं कि कैसे विभिन्न प्रकार की प्राणवायु प्राणमय पुरुष के विभिन्न अङ्गों का रूप लेती है। आचार्य कहते हैं –

तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥[२२]

उस अन्नमय पुरुष की पुरुषविधता से ही यह प्राणमय पुरुष पुरुषविध आकार पाता है। उस पुरुषविध प्राणमय पुरुष का सिर प्राणवायु है, दक्षिण पक्ष व्यानवायु है, वामपक्ष अपानवायु है, मध्य शरीर आकाश है और निम्न शरीर पृथिवी है। उस प्राणमय पुरुष के विषय में ही आगे का श्लोक कहा गया है।

मनोमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का आरम्भ प्राणमय पुरुष की महिमा के गायन से होता है। आचार्य कहते हैं –

''सृष्टि के विभिन्न घटकों के अभिमानी अग्नि आदि देवता प्राणवायु से ही प्राणन करते हैं, क्रियावान् होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और पशु भी प्राणवायु से ही क्रियावान् होते हैं। प्राण ही भूतों की आयु हैं, प्राणियों का जीवन हैं, इसीलिये प्राणवायु को 'सर्वायुष' कहा जाता है। जो प्राण को ब्रह्म मानकर श्रद्धापूर्वक प्राणब्रह्म की उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु से सम्पन्न होते हैं, दीर्घायु को प्राप्त होते हैं। निश्चय ही प्राण से ही प्राणियों का जीवन है। इसीलिये प्राणों को 'सर्वायुष' कहा जाता है।''

इस प्रकार अन्नमय पुरुष के भीतर विद्यमान और अन्नमय पुरुष को जीवन्त एवं क्रियावान् करने वाले प्राणमय पुरुष का उपदेश करने के उपरान्त द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के अगले चरण की ओर ले जाते हुए प्राणमय पुरुष को परिपूर्ण करने वाले मनोमय पुरुष का अनावरण करते हैं।

आचार्य का उपदेश है कि यह प्राणमय पुरुष अन्नमय पुरुष की आत्मा है और प्राणमय पुरुष से भिन्न और उसके भीतर समाया हुआ एक अन्य मनोमय पुरुष है। प्राणमय पुरुष मनोमय पुरुष

[२२] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

से परिपूर्ण है। अन्नमय पुरुष एवं प्राणमय पुरुष की भाँति ही इस मनोमय पुरुष के भी पाँच मुख्य अङ्ग हैं – यजुः इस मनोमय पुरुष का सिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, वेदों का ब्राह्मण अंश, जिसे आदेश भी कहा जाता है, इस मनोमय पुरुष का मध्य शरीर है, और ऋषि अथर्वाङ्गिरस से श्रुत अथर्ववेद इसका निम्न शरीर है।

विज्ञानमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का प्रारम्भ आचार्य ब्रह्म के सामान्य बोध से परे होने की विशद् व्याख्या से करते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म तो ऐसा है कि वाणी और मन, शब्द और चिन्तन, उस तक पहुँचे बिना ही लौट आते हैं। परन्तु जो ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जान जाता है उसके लिये तो कहीं कोई भय शेष नहीं रह जाता।

चतुर्थ अनुवाक के शेष अंश में आचार्य ब्रह्मविद्या के उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाते हुए जिज्ञासु को मनोमय पुरुष के भीतर समाये विज्ञानमय पुरुष का परिचय करवाते हैं। आचार्य कहते हैं कि मनोमय पुरुष प्राणमय पुरुष की आत्मा है और इस मनोमय से भिन्न और इसे परिपूर्ण किये हुए एक अन्य, विज्ञानमय पुरुष है। यह विज्ञानमय पुरुष मनोमय के पुरुषविधाकार से आकार पाता है। पहले कहे गये तीन पुरुषों की भाँति विज्ञानमय पुरुष के भी पाँच मुख्य अङ्ग हैं – श्रद्धा इसका सिर है, ऋत इसका दक्षिण पक्ष है, सत्य इसका उत्तर पक्ष है, योग इस विज्ञानमय पुरुष का मध्य शरीर है और महत् इस का निम्न शरीर है।

विज्ञान, श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् भारतीय तत्वदर्शन की मूलभूत अवधारणाओं में से हैं। श्रीआदिशङ्कराचार्य ब्रह्मनन्दवल्ली के इस चतुर्थ अनुवाक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वेदों के अर्थ के विषय में ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि जो यज्ञादि कर्मों के सम्पादन का हेतु बनती है, वही विज्ञान है। अतः विज्ञान अन्तःकरण का धर्म है और अध्यवसाय ही इस धर्म का प्रमुख लक्षण है। स्वयं श्रीशङ्कराचार्य के शब्दों में– वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः।[२३]

श्रीसायणाचार्य एक पूर्ववर्ती अनुवाक पर टीका करते हुए मनोमय एवं विज्ञानमय पुरुष की व्याख्या इस प्रकार करते हैं – तमोमिश्रः सत्त्वगुणो मनोमयकारणम्। अतो मनोमये तामसभागधर्मा रागद्वेषादय उपलभ्यन्ते। रजोमिश्रः सत्त्वगुणो विज्ञानमय कारणम्। अतो विज्ञानमये यज्ञादीनां वैदिकक्रियाणां कृष्यादीनां लौकिकक्रियाणां च कर्तृत्वमुपलभ्यते।[२४]

[२३] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.१३९।

[२४] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ८.४, पृ.५९९।

अर्थात् तमोमिश्रित सत्त्व गुण से मनोमय पुरुष सम्भव होता है। अतः मनोमय में तामस भाग के विशिष्ट गुण राग-द्वेष आदि पाये जाते हैं। विज्ञानमय कोष रजोमिश्रित सत्त्व गुण से सम्भव होता है। अतः विज्ञानमय पुरुष में यज्ञादि वैदिक क्रियाओं एवं कृषि आदि लौकिक क्रियाओं की उपलब्धि होती है।

विज्ञानमय पुरुष को परिभाषित करते हुए जिन श्रद्धा आदि शब्दों का उपयोग हुआ है उनकी परिभाषा करते हुए श्रीसायणाचार्य कहते हैं कि गुरु एवं शास्त्रों द्वारा सिखाये गये तत्वों में परम विश्वास ही श्रद्धा है – गुरुशास्त्राभ्यामभिहिते तत्त्वे तदवबोधोपाययोश्च परमो विश्वासः श्रद्धा।[२५] श्रीशङ्कराचार्य इसी सन्दर्भ में कहते हैं कि कर्तव्य कर्म के सम्पादन का सङ्कल्प ही श्रद्धा है। ऋत एवं सत्य की व्याख्या श्रीशङ्कराचार्य पहले शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत करते हैं। वहाँ उनका उपदेश है कि शास्त्र एवं कर्तव्यानुसार बुद्धि में सुनिश्चित किये अर्थ को ऋत कहते हैं और सत्य उस सुनिश्चित अर्थ के वाक् एवं शरीर द्वारा सम्पादन का नाम है – ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं, एवं, सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां सम्पाद्यमानः।[२६]

विज्ञानमय पुरुष के अङ्गभूत ऊपर जो 'योग' का निर्देश हुआ है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्य महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में उपदिष्ट सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य इस सन्दर्भ में योग का अर्थ मात्र कर्मसम्पादन बताते हुए कहते हैं – योगो युक्तिः समाधानम्।[२७] श्रीशङ्कराचार्यकृत योग की इस व्याख्या से सहज ही श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के उपदेश का स्मरण हो आता है। वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को योग का अर्थ समझाते हुए कहते हैं – योगः कर्मसु कौशलम्[२८], योग कर्म करने का कौशल ही है।

'महत्' तो ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला, सांख्य दर्शन में उल्लिखित प्रथम तत्व ही है, उसी 'महत्' से पञ्चमहाभूतों का उद्भव होता है। महत् तत्व ही सृष्टि के समस्त रूपों का प्रथम कारण है, श्रीआदिशङ्कराचार्य महत् को सब प्रकार की बुद्धि एवं सब प्रकार के विज्ञान का कारण बताते हैं। इसीलिये उसे विज्ञानमय पुरुष की प्रतिष्ठा बताया गया है।

अतः श्रीआदिशङ्कराचार्य एवं श्रीसायणाचार्य द्वारा प्रस्तुत विज्ञानमय पुरुष की व्याख्या का सार यह है कि विज्ञान लोक में कर्मसम्पादन करवाने वाली बुद्धि को कहा जाता है और यह

---

[२५] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ८.४, पृ.६०८।

[२६] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.२३-२४।

[२७] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.१३९-४०।

[२८] श्रीमद्भगवद्गीता २.५०, देखिये महाभारत *भीष्म* २६.५०, पृ.२६०७।

कर्मसम्पादन श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् के अधीन है। ये पाँचों विज्ञानमय पुरुष, कर्मसम्पादन की ओर उन्मुख पुरुष के अङ्ग हैं। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् से युक्त हुए बिना किसी सम्यक् कर्म का होना सम्भव नहीं। कदाचित् यही ब्रह्मानन्दवल्ली के चतुर्थ अनुवाक का कथ्य है।

आनन्दमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली का पाँचवाँ अनुवाक विज्ञान की महिमा के गायन से प्रारम्भ होता है। आचार्य कहते हैं कि विज्ञान से ही यज्ञों एवं कर्मों का विस्तार होता है, विज्ञानवान् पुरुष ही यज्ञों का अनुष्ठान करता है और वही कर्मों का सम्यक् सम्पादन करता है। इन्द्रादि सभी देवगण विज्ञान को ब्रह्म का प्रथमजात मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। अतः जो विज्ञानब्रह्म को जानता है और इस विषय में कोई प्रमाद नहीं करता, वह शरीर के सब पापों से मुक्त हो अपनी सब कामनाओं को तुष्ट कर लेता है, उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

पाँचवें अनुवाक को आगे बढ़ाते हुए आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के प्रायः अन्तिम चरण पर ले जाकर उसे आनन्दमय पुरुष का उपदेश देते हैं। आचार्य कहते हैं कि विज्ञानमय पुरुष मनोमय पुरुष की आत्मा है और इस विज्ञानमय से भिन्न एक अन्य, आनन्दमय पुरुष है। यह आनन्दमय पुरुष विज्ञानमय पुरुष की आत्मा है। विज्ञानमय पुरुष आनन्दमय पुरुष से परिपूर्ण है और विज्ञानमय पुरुष के पुरुषविध आकार से यह आनन्दमय पुरुष भी पुरुषाकार हो जाता है। पहले उपदेश किये गये पुरुषों की भाँति इस आनन्दमय पुरुष के भी पाँच अङ्ग हैं – प्रिय इसका सिर है, मोद इसका दक्षिण पक्ष है, प्रमोद वाम पक्ष है, आनन्द इसका मध्य शरीर है और ब्रह्म इसका निम्न शरीर है, जिस पर यह प्रतिष्ठित है।

श्रीआदिशङ्कराचार्य इस अनुवाक में आये प्रिय, मोद, प्रमोद आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुत्रादि इष्ट पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न होने वाला हर्ष का भाव 'प्रिय' है, प्रिय पदार्थ की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला हर्ष का भाव 'मोद' कहलाता है, वही हर्ष प्रकृष्ट होने पर 'प्रमोद' कहा जाता है और 'आनन्द' सुख के लिये सामान्य संज्ञा है। प्रिय, मोद, प्रमोद आदि इस सुख के विशिष्ट रूप हैं, ये सब सुख के अवयव हैं, आनन्द इन सबकी आत्मा है, आनन्द में ही हर्ष के सब भावों की प्रतिष्ठा है, और उपनिषद् के अनुसार यह आनन्द स्वयं ब्रह्म ही है।

सृष्टि में अभिव्यक्त ब्रह्म

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का आरम्भ आनन्दस्वरूप ब्रह्म की महिमा के गायन से ही होता है। अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष और आनन्दमय

पुरुष का क्रमपूर्वक उपदेश करते हुए और जिज्ञासु को क्रमपूर्वक अन्नमय से आनन्दमय तक ले जाते हुए आचार्य मानो उसे स्वयं ब्रह्म का ही उसकी सर्वाङ्गीण सम्पूर्णता में बोध करवा देते हैं। और अब उस ब्रह्म की स्तुति में आचार्य कहते हैं – असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।[२९] जो ब्रह्म को असत् जानता है वह स्वयं असत् ही हो जाता है और जो ब्रह्म को सत् जानता है वही सत् है, ऐसा विद्वानों का मानना है। यह आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही विज्ञानमय पुरुष की शारीर आत्मा है, इसी से वह परिपूर्ण है।

विज्ञानमय पुरुष में समाये हुए आनन्दस्वरूप ब्रह्म के उपदेश के साथ द्रष्टा आचार्य का दर्शनाभिलाषी जिज्ञासु के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश तो सम्पूर्ण हो जाता है। आचार्य स्वयं ब्रह्म से अभिव्यक्त हुई अन्नमय आदि की विभिन्न परतों को अनावृत करते हुए और जिज्ञासु को एक-एक परत के स्वरूप का उपदेश देते हुए, इस सब के केन्द्र पर विराजमान आनन्दमय ब्रह्म को प्रकाशित करते हैं। अन्नमय आदि की एक-एक परत का साक्षात्कार कर और उससे परे जाकर ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म तक पहुँचा जाता है। परन्तु ब्रह्म से अभिव्यक्त विभिन्न पुरुषों की और उन सब के मध्य प्रतिष्ठित एवं सब को परिपूर्ण किये हुए आनन्दमय ब्रह्म की शिक्षा के साथ ब्रह्मविद्या की व्याख्या तो निश्चय ही सम्पन्न हो जाती है। ब्रह्मानन्दवल्ली के छठे अनुवाक के शेष भाग में आचार्य अब जिज्ञासु के मन में उठ रही एक मौलिक शङ्का का निर्देश करते हुए उस शङ्का का निवारण प्रारम्भ करते हैं।

जिज्ञासु की शङ्का है कि जो ब्रह्म को नहीं जानता क्या वह इस लोक से प्रस्थान करने पर ब्रह्म को प्राप्त होता है? और जो ब्रह्म को जानता है क्या वह भी इस लोक से मुक्त होने पर ब्रह्म को प्राप्त हो पाता है या नहीं?

आचार्य जिज्ञासु के इस प्रश्न का सीधा कोई उत्तर नहीं देते। अपितु वे ब्रह्म और उससे व्यक्त हुई सृष्टि के तत्व के विषय में एक दीर्घ प्रवचन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्म एवं सृष्टि के स्वरूप पर यह प्रवचन ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले दो अनुवाकों तक चलता है।

आचार्य कहते हैं कि उस एकमेव ब्रह्म ने कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ। इस सङ्कल्प के साथ ब्रह्म ने तप किया। अपने तप से उसने सृष्टि में यह जो सब है उस सब का सृजन किया, और इस सब का सृजन करने के उपरान्त वह स्वयं इसी में ही प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार अपने से ही अभिव्यक्त सृष्टि में प्रवेश करके वह व्यक्त एवं अव्यक्त, कथनीय एवं अकथनीय, मूर्त एवं

[२९] तैत्तिरीयोपनिषद् २.६, पृ.१६० ।

अमूर्त, जड़ एवं चेतन और अनृत एवं सत्य दोनों ही हो गया। ब्रह्म जो सत्य है, वही यह सब हो गया, इसीलिये यह जो सब है उसे ब्रह्मवेत्ता 'सत्य' की ही संज्ञा देते हैं।

ब्रह्म एवं उससे अभिव्यक्त सृष्टि के स्वरूप विषयक इस प्रवचन को आगे बढ़ाते हुए ब्रह्मानन्दवल्ली के सातवें अनुवाक में आचार्य कहते हैं कि पहले यह सब असत् ही था, अव्यक्त ही था। उस असत्, अव्यक्त, से ही यह सत्, व्यक्त जगत्, उत्पन्न हुआ, अव्यक्त ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही व्यक्त जगत् का रूप दिया। इसीलिये वह सुकृत, स्वयं अपने से ही सृष्ट, कहलाता है।

आचार्य आगे कहते हैं कि वह सुकृत निश्चय ही रस ही है,वही तृप्ति एवं आनन्द का मूल हेतु है। उस रस को जो पा लेता है वह आनन्दी हो जाता है, आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। यदि यह आनन्द हृदयाकाश में विद्यमान न होता तो प्राणन की क्रिया कौन सम्पन्न करता? कौन जीवनधारक वायु को गतिशील रखता? निश्चय ही वह ब्रह्म, जो सुकृत है, वही सब ओर आनन्द का विस्तार करता है। उसी से प्राण वायु प्रवाहित रहती है।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो उस अदृश्य, अशरीर, अकथनीय एवं निराधार ब्रह्म में लीन हो, उसके साथ सर्वथा एकरूपता का बोध कर, अभय की स्थिति को प्राप्त करता है, वह तुरन्त अभय को प्राप्त होता है। जो ब्रह्म के साथ एकरूपता के इस बोध से किञ्चित् भी विचलित होता है, जो अपने और उसमें किञ्चित् भी भेद करता है, वह भय को प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान् के लिये भयरूप हो जाता है।

ब्रह्मानन्द

अगले अनुवाक का आरम्भ आचार्य भयरूप ब्रह्म की महिमा के गायन से करते हैं। आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के भय से ही वायु गतिमान् रहती है और सूर्य उदित होते हैं, उसके भय से ही अग्नि एवं इन्द्र अपने-अपने कर्म में रत रहते हैं और उसके भय से ही मृत्यु इधर-उधर दौड़ती रहती है।

भयरूप ब्रह्म की इस स्तुति के उपरान्त आचार्य आनन्दरूप ब्रह्म और ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले अतुलनीय आनन्द का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि कहीं कोई ऐसा पुरुष है जो नवयुवक हो, साधु स्वभाव का हो, सम्यक् अध्ययन कर अपनी शाखागत विद्या में पारङ्गत हो चुका हो, भविष्य के प्रति आशा से ओत-प्रोत हो, जिस का शरीर सुदृढ एवं बलवान् हो और इस सब के अतिरिक्त जिस युवा पुरुष के लिये यह पृथिवी सम्पूर्ण धन-धान्य और सम्पत्ति से परिपूर्ण हो रही हो, तो ऐसे पुरुष को प्राप्त होने वाले आनन्द को मानुषानन्द

का परिमाण माना जा सकता है। इस मानुषानन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर मनुष्यगन्धर्वानन्द, गन्धर्वलोक को प्राप्त हुए मनुष्यों के आनन्द, का एक परिमाण होता है। मनुष्यगन्धर्वानन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर देवगन्धर्वानन्द, गन्धर्व लोक में ही जन्म लेने वाले देवतुल्य गन्धर्वों के आनन्द, का एक परिमाण होता है। इस देवगन्धर्वानन्द को शतगुण करने पर चिरलोकों के वासी पितरों के आनन्द का एक परिमाण होता है। चिरलोकवासी पितरों के आनन्द को शतगुण करने पर देवलोक में पैदा होने वाले आजानज देवों के आनन्द का एक परिमाण होता है। आजानज देवों के आनन्द का शतगुण कर्मदेवों के, इहलोक के कर्मों के परिणामस्वरूप देवलोक को प्राप्त होने वाले देवों के, आनन्द का एक परिमाण होता है। कर्मदेवों के आनन्द का शतगुण मनुष्यों के यज्ञों में भाग पाने वाले देवों के आनन्द का एक परिमाण होता है। देवों के आनन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर देवों के ईश इन्द्र के आनन्द का एक परिमाण प्राप्त होता है। इन्द्र के आनन्द का शतगुण देवों के आचार्य बृहस्पति का आनन्द होता है, बृहस्पति के आनन्द का शतगुण प्रजापति का आनन्द होता है और प्रजापति के आनन्द का शतगुण करने पर ब्रह्म के आनन्द का एक परिमाण प्राप्त होता है।

ब्रह्मानन्द का ऐसा परिमाण है। ब्रह्मानन्द मनुष्यों, गन्धर्वों, पितरों, देवों और देवों के ईश एवं आचार्य तक के आनन्द को अपने में समेटता हुआ उन सबके आनन्द का बहुगुण अतिक्रमण कर जाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा ब्रह्मानन्द और उससे लघु अन्य जिन सभी आनन्दों का उल्लेख हुआ है, वे सब-के-सब अकामहत श्रोत्रिय को, सब प्रकार की कामनाओं से मुक्त वेद के अध्येता को, सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म के भयावह एवं आनन्दमय रूपों का वर्णन करने के उपरान्त आचार्य जिज्ञासु को पुनः सम्पूर्ण सृष्टि के एकत्व पर ध्यान केन्द्रित करने का उपदेश देते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह जो इस पुरुष में है और वह जो उस आदित्य में है वह एक ही है – आध्यात्मिक एवं बाह्य सृष्टि एक ही ब्रह्म से परिपूर्ण है। जो इस एकत्व को जानता है वह इहलोक को लाँघकर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है, पुनः अन्नमय को लाँघकर प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है, पुनः प्राणमय को लाँघकर मनोमय को प्राप्त होता है, पुनः मनोमय को लाँघकर विज्ञानमय को प्राप्त होता है, पुनः विज्ञानमय को लाँघकर आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है और अन्ततः वह आनन्दमय आत्मा को भी लाँघकर आगे निकल जाता है।

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले एवं अन्तिम अनुवाक में आचार्य उस विद्वान् जिज्ञासु की मनोस्थिति का वर्णन करते हैं जो आनन्दमय आत्मा तक पहुँचकर उसका भी सङ्क्रमण करते हुए आगे निकल जाता है। इस नवम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म

ऐसा गूढ है कि वाक् और मन उसे पाये बिना ही लौट आते हैं, परन्तु जो ऐसे गूढ ब्रह्म के आनन्द को जानता है वह किसी प्रकार के भय से त्रस्त नहीं होता – यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति।[३०]

आगे आचार्य कहते हैं कि ब्रह्मानन्द को जानने वाले ऐसे विद्वान् को किसी प्रकार की कोई शङ्का सन्तप्त नहीं करती, उसे अपने से कदापि यह नहीं पूछना पड़ता कि मैंने यह शुभ कर्म क्यों नहीं किया अथवा वह पापकर्म क्यों किया। उस विद्वान् के लिये ये दोनों, शुभ एवं अशुभ, पाप एवं पुण्य, एक ही हैं, दोनों आत्मा के, अपने भीतर विद्यमान ब्रह्म के, ही रूप हैं। इस प्रकार जानते हुए वह आत्मा को ही सबल करता है। जो इस प्रकार आनन्दस्वरूप एवं अद्वैत ब्रह्म को जानता है वही विद्वान् है। द्रष्टा आचार्य ब्रह्मानन्दवल्ली का उपसंहार करते हुए आग्रहपूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार जानना ही ज्ञान है, यही उपनिषद् है।

साक्षात्कार की ओर: भृगुवल्ली

शीक्षावल्ली में जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अनुकूल बनाने के लिये समुचित अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मानन्दवल्ली में जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के स्वरूप से परिचित करवाने का प्रयास हुआ है। वहाँ ब्रह्मविद्या के गूढतम रहस्यों का अनावरण करते हुए आचार्य जिज्ञासु को उपदेश देते हैं कि कैसे वह एकमेव अव्यक्त ब्रह्म अपने से ही अभिव्यक्त हुई अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय पुरुषों की परतों के भीतर आनन्दमय पुरुष हो निवास करते हुए इस सब को, सृष्टि एवं मानव दोनों को ही, परिपूर्ण किये रहता है। शीक्षावल्ली के अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन और ब्रह्मानन्दवल्ली के ब्रह्म के स्वरूप विषयक विशद उपदेश से निकलकर जिज्ञासु निश्चय ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन, इस सब के भीतर व्याप्त आनन्दस्वरूप एकमेव अव्यक्त ब्रह्म के साक्षात्कार, के योग्य हो जाता है। उपनिषद् की अन्तिम वल्ली में आचार्य ऋषि भृगु के साक्षात्कार के उदाहरण से जिज्ञासु को प्रत्यक्ष दर्शन एवं साक्षात्कार के पथ पर ही ले चलते हैं। यहाँ यह कदाचित् उल्लेखनीय है कि भृगुवल्ली के आरम्भ में साक्षात्कार के इस पथ के द्वार पर खड़ा जिज्ञासु अन्न के ही दर्शन करता है और भृगुवल्ली के अन्त पर आनन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करने के उपरान्त वह और आचार्य मिलकर अन्न की महिमा एवं अन्न के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का ही गम्भीर गायन कर उठते हैं।

---

[३०] तैत्तिरीयोपनिषद् २.९, पृ.२०८।

भृगु का तप और दर्शन

भृगुवल्ली का प्रारम्भ महर्षि भृगु के ब्रह्म के अन्वेषण के प्रति आग्रह से होता है। आचार्य कहते हैं कि एकदा वरुण के पुत्र विख्यात ऋषि भृगु अपने पिता के समक्ष प्रस्तुत होकर उनसे ब्रह्म का बोध करवाने की प्रार्थना करते हैं। पुत्र के इस निवेदन के उत्तर में पिता उसे सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के द्वारभूत छः पदार्थों, अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं वाक् का स्मरण करवाते हैं। अत्यन्त सङ्क्षिप्तता से उपदेश देते हुए वरुण इन छः द्वारों की ओर मात्र सङ्केत ही करते हैं – अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।[३१] और इसके उपरान्त वे भृगु को आदेश देते हैं कि वह उसे जानने का सघन प्रयास करे जिससे सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर जिसके माध्यम से वे सब जीवननिर्वाह करते हैं और जीवन पूरा होने पर अन्ततः जिसमें जाकर वे सब लीन हो जाते हैं। वरुण आग्रहपूर्वक भृगु को कहते हैं कि उसी को भली-भाँति जानो, वही ब्रह्म है। वरुण का आदेश है – यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंवशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।[३२]

पिता के इस आदेश को स्वीकार कर भृगु अपने मन एवं समस्त इन्द्रियों को अपने अन्वेषण के एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म पर एकाग्र करते हुए तप में लीन हो जाते हैं और अपने इस तप के सम्पन्न होने पर देखते हैं कि अन्न ही वह ब्रह्म है जिसको जानने का आदेश पिता वरुण ने उन्हें दिया था। भृगु द्वारा अन्नब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

> अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
> अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।।[३३]
>
> उसने जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। निश्चय ही अन्न से ही ये सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे अन्न में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार अन्नब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं और पुनः उनसे ब्रह्म का बोध करवाने का निवेदन करते हैं। पुत्र के इस निवेदन के उत्तर में वरुण उसे तप से ब्रह्म को जानने का आदेश देते हैं। वरुण आग्रहपूर्वक उसे कहते हैं कि तप ही ब्रह्म है, तप से उसे जानो। पिता का यह आदेश पाकर भृगु पुनः तप में लीन हो जाते हैं और तप के सम्पन्न

[३१] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१, पृ.२१४।
[३२] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१, पृ.२१४।
[३३] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.२, पृ.२१८।

होने पर वे प्राणों में ब्रह्म के दर्शन करते हैं। भृगु द्वारा प्राणब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३४]

उसने जाना कि प्राण ही ब्रह्म हैं। निश्चय ही प्राणों से ही ये सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे प्राणों से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे प्राणों में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार प्राणब्रह्म को जानने के पश्चात् भृगु पुनः अपने पिता वरुण के पास जाते हैं, पुनः उनसे ब्रह्म का बोध करवाने की प्रार्थना करते हैं और वरुण उन्हें पुनः तप करने का आदेश देते हैं, क्योंकि जैसा कि वरुण कहते हैं, तप ही ब्रह्म है। पिता का आदेश शिरोधार्य कर भृगु पुनः तप में लीन हो जाते हैं और तप के सम्पन्न होने पर अब उन्हें मन में ही ब्रह्म के दर्शन होते हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि मन ही वह ब्रह्म है जिसे जानने का आदेश पिता वरुण ने दिया था। भृगु द्वारा मनोब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३५]

उसने जाना कि मन ही ब्रह्म है। मन से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे सब मन से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे मन में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार मनोब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं, पुनः ब्रह्म का बोध करवाये जाने विषयक निवेदन करते हैं और पुनः तप में लीन होने का आदेश पाते हैं। अब तप सम्पन्न होने पर भृगु विज्ञान में ही ब्रह्म के दर्शन करते हैं। विज्ञानब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३६]

---

[३४] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.३, पृ.२२०।
[३५] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.४, पृ.२२१।
[३६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.५, पृ.२२२।

उसने जाना कि विज्ञान ही ब्रह्म है। विज्ञान से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे विज्ञान से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार विज्ञानब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं और उनका आदेश पाकर वे पुनः तप में लीन हो जाते हैं। अब तप के सम्पन्न होने पर उन्हें अन्ततः आनन्द स्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते हैं। भृगु द्वारा आनन्दब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।।[३७]

उसने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे आनन्द के माध्यम से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार भृगु ब्रह्मानन्दवल्ली में सिखायी गयी ब्रह्मविद्या का प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे आत्मसात् करते हैं। ब्रह्मानन्दवल्ली में उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य बताते हैं कि कैसे अव्यक्त ब्रह्म सृष्टि में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय की परतों में अभिव्यक्त होते हुए इन सब को आनन्दमय होकर परिपूर्ण किये रहता है। भृगुवल्ली में अब महर्षि भृगु क्रमपूर्वक अन्नब्रह्म, प्राणब्रह्म, मनोब्रह्म और विज्ञानब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए अन्ततः आनन्दब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं।

उस अव्यक्त ब्रह्म के इन विभिन्न व्यक्त रूपों का और इन सब के मध्य विद्यमान अव्यक्त आनन्दब्रह्म का साक्षात्कार कर भृगु अपने अन्वेषण के लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। आनन्दब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन करते ही उनका अन्वेषण पूर्ण हो जाता है, और अब आचार्य इस प्रकार ब्रह्म के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार करते हुए आनन्दब्रह्म तक पहुँचने वाले जिज्ञासु को प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करते हैं। आचार्य कहते हैं –

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद
प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ।।[३८]

[३७] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६, पृ.२२३।
[३८] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६, पृ.२२३।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्तिः अन्न

यह भार्गवी-वारुणी विद्या है, वरुण ने इसका उपदेश किया है और भृगु ने इस विद्या का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, इसे जाना है। यह भार्गवी-वारुणी विद्या परमाकाश में स्थित है, सम्पूर्ण सृष्टि को और हृदय के मध्य विद्यमान आकाश को परिपूर्ण किये हुए है। जो इस विद्या को जान लेता है वह ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। वह प्रजा एवं पशुओं से और ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले तेज से सम्पन्न हो महान् हो जाता है। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नब्रह्म का अनुशासन

भृगु के अन्वेषण की पूर्ति के साथ ही उपनिषद् का ब्रह्मविद्या विषयक उपदेश भी प्रायः पूर्ण हो जाता है। उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य ने शीक्षावल्ली में जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के योग्य बनने के लिये उपयुक्त अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन का पाठ पढ़ाने और ब्रह्मानन्दवल्ली में उसे ब्रह्मविद्या के स्वरूप का विशद परिचय करवाने के पश्चात् अब भृगुवल्ली के प्रथम छः अनुवाकों में भृगु द्वारा आनन्दब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन करते हुए जिज्ञासु के लिये साक्षात्कार का पथ प्रशस्त कर दिया है। ब्रह्मविद्या के किसी रहस्य का अनावरण करना अब शेष नहीं रहा।

उपनिषद् के अन्तिम चार अनुवाकों में आचार्य अन्न के अनुशासन एवं अन्न की ध्यान-उपासना से सम्बन्धित एक नये और वृहद् उपदेश का समारम्भ करते हैं। इन चार अनुवाकों में आचार्य जिज्ञासु को समझाते हैं कि कैसे अन्न की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, कैसे अन्न के प्रति कदापि उपेक्षा का भाव नहीं रखना चाहिये, कैसे सतत अन्नबाहुल्य के प्रयास में लगे रहना चाहिये और कैसे घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना कदापि लौटाना नहीं चाहिये। अन्न के इस गहन अनुशासन के साथ ही वे जिज्ञासु को सृष्टि के विभिन्न घटकों को अन्न की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हुए अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। और अन्ततः अन्न के साथ एकरूप हुए जिज्ञासु के आनन्दविभोर हो 'अहमन्नम्' के गायन से आचार्य उपनिषद् का उपसंहार करते हैं।

अन्न के अनुशासन एवं अन्न की ध्यान-उपासना का यह उपदेश ऐसे जिज्ञासु को दिया जा रहा है जो शीक्षावल्ली के अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासित जीवन के उपदेश को आत्मसात् कर चुका है, जो ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या के स्वरूप से परिचित हो चुका है और

जिसे भृगुवल्ली में ब्रह्म के साक्षात्कार का पथ दिखाया जा चुका है। उपनिषद् के इस सुदीर्घ उपदेश को ग्रहण करते हुए और ब्रह्मविद्या के इस प्रशस्त मार्ग पर द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए जिज्ञासु यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कदाचित् स्वयं आनन्दब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कर स्वयं द्रष्टा बन चुका है। ऐसे कृतार्थ जिज्ञासु को अब उपनिषद् के प्रायः उपसंहार पर अन्न के अनुशासन एवं अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना का यह सघन उपदेश दिया जा रहा है।

श्रीआदिशङ्कराचार्य उपनिषद् के इस प्रकरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि अन्न के अनुशासन एवं ध्यान-उपासना का यह उपदेश इसलिये आरम्भ किया जा रहा है क्योंकि अन्न ब्रह्म की प्राप्ति का द्वार है, अन्न के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जाता है – किं चान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं,[३९] और श्रीसायणाचार्य इस सन्दर्भ में प्रायः इन्हीं शब्दों का उपयोग करते हुए कहते हैं – यस्मादन्नेन द्वारभूतेनोपासितेन ब्रह्मज्ञानं लभते।[४०]

अन्नं न निन्द्यात्

भृगुवल्ली के सप्तम अनुवाक से अन्नानुशासन एवं अन्नोपासना का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि अन्न की कदापि निन्दा न करो, यह व्रत है, इस व्रत का कभी उल्लङ्घन मत करो। और तदुपरान्त वे अन्न को शरीर एवं शरीर में विद्यमान प्राण दोनों के ही मूल कारण के रूप में देखते हुए अन्न की ध्यान-उपासना की शिक्षा देते हैं। आचार्य कहते हैं –

> अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे
> शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।
> स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति।
> महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥[४१]

अन्न की निन्दा न करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। प्राण निश्चय ही अन्न हैं, और शरीर प्राणरूपी अन्न का भोक्ता है। प्राण शरीर में प्रतिष्ठित हैं और शरीर प्राण में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर आश्रित होते हुए शरीर एवं प्राण दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, अतः यहाँ अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है, और

---

[३९] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.२२६।
[४०] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ९.७, पृ.६८०।
[४१] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७, पृ.२२६।

अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नं न परिचक्षीत

भृगुवल्ली के अगले, अष्टम अनुवाक में आचार्य ऊपर प्रारम्भ किये गये अन्नानुशासन को आगे बढ़ाते हुए आदेश देते हैं कि अन्न की कदापि उपेक्षा न करो, यह व्रत है, इसका कभी उल्लङ्घन मत करो। तदुपरान्त वे सृष्टि के मूल तत्वों के रूप में व्याप्त जल एवं अग्नि को अन्न ही की अभिव्यक्ति समझते हुए अन्न की ध्यान-उपासना की शिक्षा देते हैं। आचार्य का उपदेश है–

> अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु
> ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।
> स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति।
> महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥[४२]

अन्न की उपेक्षा न करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। जल ही अन्न है और ज्योति अर्थात् अग्नि, इस अन्न की भोक्ता है। ज्योति जल में प्रतिष्ठित है और जल ज्योति में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर आश्रित होते हुए जल एवं ज्योति दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, अतः यहाँ अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है, और अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नं बहु कुर्वीत

भृगुवल्ली के नवम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि जिज्ञासु एवं ब्रह्मवेत्ता को सब ओर अन्नबाहुल्य का ही प्रसार करना चाहिये, यह व्रत है, इस अनुशासन का कभी उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। और इसके उपरान्त आचार्य सृष्टि के मूलतत्व पृथिवी एवं

---

[४२] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.८, पृ.२२८।

अन्नब्रह्म का अनुशासन

आकाश को अन्न की ही आभिव्यक्तियों के रूप में देखते हुए अन्न की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। आचार्य कहते हैं –

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥[४३]

अन्नबाहुल्य करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। पृथिवी ही अन्न है और आकाश इस अन्न का भोक्ता है। आकाश पृथिवी में प्रतिष्ठित है और पृथिवी आकाश में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होते हुए पृथिवी एवं आकाश दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है और अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

न कश्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत

उपनिषद् के अगले एवं अन्तिम अनुवाक में अन्न की महिमा, घर-द्वार पर आने वाले प्रत्येक याचक को अन्न से तृप्त करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन और इस अनुशासन का पालन करने एवं सृष्टि के मूल कारण अन्नब्रह्म को जानने वाले को प्राप्त होने वाले अतुलनीय आनन्द का विशद गायन हुआ है। यह अनुवाक अन्न की महिमा एवं अन्नानुशासन के प्रति श्रद्धा के भाव से ऐसा परिपूर्ण है कि पूर्ववर्ती अध्यायों में इस अनुवाक का सन्दर्भ और इसमें से कतिपय उद्धरण सहज ही आ गये हैं।

भृगुवल्ली के इस दशम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना न लौटाया जाये, यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता एवं जिज्ञासु के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। और इस अनुशासन के प्रतिपादन के उपरान्त आचार्य कहते हैं कि इस अनुशासन का सतत पालन करने के लिये अपनी समस्त शक्ति एवं क्षमता

[४३] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.९, पृ.२२९।

का उपयोग करते हुए सर्वदा बहुमात्रा में अन्न प्राप्त कर बहुमात्रा में अन्नपाक करते रहना चाहिये। आचार्य का उपदेश है –

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते ॥[४४]

घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना और समुचित आतिथ्य से सत्कृत किये बिना न लौटायें। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता एवं जिज्ञासु के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। अतः किसी-न-किसी विधि से प्रचुर अन्न प्राप्त करें और बहुमात्रा में अन्नपाक कर घोषणा करें कि प्रचुर अन्न प्रस्तुत है, सब आयें और इस अन्न का उपभोग करें।

क्योंकि जो प्रचुर मात्रा में अन्न पकाकर ऊँचे सम्मान-सत्कार के साथ प्रचुर अन्नदान करता है, उसे वैसे ही ऊँचे सत्कार के साथ प्रचुर अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यम मात्रा में अन्न पकाकर मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्नदान करता है, उसे वैसे ही मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्न प्राप्त होता है। और जो हीन मात्रा में अन्न पकाकर, अवहेलना के भाव से किञ्चित् मात्रा में ही अन्नदान करता है, उसे वैसी ही अवहेलना के साथ किञ्चित् अन्न प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मोपासना

अन्न के अनुशासन एवं अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना के इस गहन उपदेश का उपसंहार करते हुए आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियों का एकदा पुनः स्मरण करते हुए श्रद्धापूर्वक इस सब के मूल कारण उस एकमेव ब्रह्म की उपासना करने की शिक्षा देते हैं। उपनिषद् की इस अन्तिम ध्यान-उपासना में जिज्ञासु का मार्गदर्शन करते हुए आचार्य कहते हैं –

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति ॥

[४४] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०।

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे।
सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत।
महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति।।

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान्
भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः।
परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।।[४५]

जो अन्न के इस माहात्म्य और अनुशासन को जानता है वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। ऐसा विद्वान् ब्रह्म की ध्यान-उपासना में लीन हो अनुभव करता है कि –

वह ब्रह्म वाणी में क्षेम के रूप में विद्यमान् है, प्राप्त की गयी धन-सम्पत्ति का संरक्षण उसी के अधीन है। वह प्राण और अपान वायु में योगक्षेम के रूप में विद्यमान् है, उसी से सब वस्तुओं की प्राप्ति और उनका संरक्षण होता है। वह हाथों में कर्म के रूप में स्थित है, उसी के करने से सब कार्य होते हैं। वह पाँवों में गति के रूप में स्थित है, उसी से सब प्राणियों में गति का सञ्चार होता है। और वह मलोत्सर्जन सम्बन्धी अङ्गों में उत्सर्जन की वृत्ति के रूप में विद्यमान् है, उसी से सब जीव निवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

यह मानवीय शरीर में विद्यमान ब्रह्म की उपासना है। अब आगे दैविक तत्वों में विद्यमान् ब्रह्म की उपासना कही जाती है –

वह ब्रह्म वृष्टि में तृप्ति के रूप में विद्यमान् है, उस के होने से ही वर्षा पृथिवी पर तृप्ति का सञ्चार करती है। वह विद्युत् में ऊर्जा के रूप में स्थित है, उसी से विद्युत् ऊर्जावान् है। पशुओं का यश और नक्षत्रों की ज्योति उसी की उपस्थिति से है। वह ब्रह्म ही जननेन्द्रियों में प्रजनन, अमरत्व एवं आनन्द की वृत्ति के रूप में विद्यमान् है, उसी के होने से प्राणी प्रजनन की ओर प्रवृत्त हो अमरत्व एवं आनन्द को प्राप्त होते हैं। और, वही आकाश में इस सब के रूप में स्थित है, यह जो सब है वह उसी से है, उसी का रूप है।

उस ब्रह्म की इस सब की प्रतिष्ठा के रूप में, सब के आश्रय स्थान के रूप में, श्रद्धापूर्वक

[४५] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०-३१।

उपासना करने वाला स्वयं प्रतिष्ठित होता है, ब्रह्म में अचल आश्रय को प्राप्त होता है। उस ब्रह्म की महः व्याहृति के रूप में उपासना करने वाला महत्त्व को प्राप्त होता है, महान् बनता है। उस ब्रह्म की मन के रूप में, चिन्तन-मनन के स्रोत के रूप में, उपासना करने वाला मनन की क्षमता से सम्पन्न होता है। उस ब्रह्म की नमः के रूप में, विनम्रता के स्रोत के रूप में, उपासना करने वाले के समक्ष समस्त काम्य पदार्थ विनम्र हो प्रस्तुत होते हैं। उस ब्रह्म की ब्रह्म के रूप में उपासना करने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मवान् हो जाता है। उस ब्रह्म की ब्रह्म के परिमर के रूप में उपासना करने वाले के, ब्रह्म ब्रह्म में ही लीन हो जाता है इस भाव से ब्रह्म की उपासना करने वाले के,सब द्वेषी काल में लीन हो जाते हैं, उसका अप्रिय चाहने वाले सब भ्रातृव्य काल के प्रवाह में बह जाते हैं।

वह जो इस पुरुष में है और वह जो उस आदित्य में है वह एक ही है। आध्यात्मिक शरीर एवं आधिभौतिक सृष्टि को परिपूर्ण किये रहने वाला वह ब्रह्म एक ही है।

अहमन्नम्

उस एक ब्रह्म की इस गूढ ध्यान-उपासना का उपदेश करने के उपरान्त आचार्य इस ध्यान-उपासना में श्रद्धापूर्वक रत उपासक को प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करते हैं। और यही फल कदाचित् उस जिज्ञासु का भी प्राप्य है जो उपनिषद् में प्रतिपादित अध्ययन, अनुशासन,उपासना, बोध एवं प्रत्यक्ष दर्शन के इस दीर्घ क्रम को सम्पन्न करते हुए यहाँ तक आ पहुँचता है। ब्रह्म के उपासक ऐसे कृतार्थ जिज्ञासु के फल का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं –

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते।
हा३वु हा३वु हा३वु॥[४६]

वह जो ब्रह्म को इस प्रकार जान लेता है, वह इस लोक को लाँघकर क्रम से अन्नमय,

[४६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४१।

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता हुआ, क्रम से उन सबको लाँघता चला जाता है। इन सभी विभिन्न पुरुषों को जानकर और उनका अतिक्रमण कर वह कामान्नी, इच्छानुसार अन्न को भोगने वाला, और कामरूप, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला, हो जाता है। इस प्रकार समस्त भोगों एवं समस्त रूपों का धारक बन वह इन सब लोकों में विचरता हुआ इस साम का गायन करता है – हा३वु हा३वु हा३वु ।

और अब उपनिषद् के अन्तिम छन्द में आचार्य उस सामगान के विषय में बतलाते हैं जिसका गायन करते हुए वह कृतार्थ हुआ जिज्ञासु विभिन्न लोकों में विचरण करता है। यह उस जिज्ञासु का गायन है जो उपनिषद् में निर्दिष्ट ब्रह्मविद्या के इस महान् उपदेश को आत्मसात् कर चुका है और जो विभिन्न लोकों और विभिन्न पुरुषों में अभिव्यक्त ब्रह्म का दर्शन कर उन सब लोकों और पुरुषों से परे जा चुका है। ऐसा कृतकृत्य जिज्ञासु अब जिस सामगान का गायन करता है वह वस्तुतः उस सूक्त के समान ही है जिसका गायन इस अध्याय के प्रारम्भ पर हम अन्न के अभिमानी अन्नदेवता के मुख से सुन चुके हैं। अन्नदेवता का वह सूक्त तैतिरीय ब्राह्मण का अङ्ग है। अब तैत्तिरीयोपनिषद् में उपनिषद् के उपदेश के चरम पर पहुँचा हुआ जिज्ञासु प्रायः उसी सूक्त को दोहराते हुए गाता है –

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः।
अह९ श्लोककृदह९ श्लोककृदह९ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य।
पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः।
अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः
य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥[४७]

मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्न हूँ। मैं अन्नाद हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। मैं श्लोककृत् हूँ, मैं अन्न एवं अन्न के भोक्ता को एक साथ लाता हूँ, मैं ही उन्हें साथ लाता हूँ, मैं ही उन्हें साथ लाता हूँ।

मैं यज्ञ का प्रथम जनयिता हूँ, सर्वप्रथम यज्ञ मुझसे ही उत्पन्न होता है। मैं ही सृष्टि के पूर्वकाल में देवों के लिये अमृत का स्रोत बनता हूँ, देवों के लिये अमृत का सम्पादन मुझसे ही होता है।

---

[४७] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४५।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्तिः अन्न

जो मुझे दान करता है वही वास्तव में मुझे प्राप्त करता है। जो मुझे अन्यों को दिये बिना स्वयं मेरा उपभोग करता है उसका मैं विनाश कर देता हूँ। मैं अन्न हूँ, अन्नदान न करने वालों को मैं खा जाता हूँ।

मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, मेरे में ही यह विश्व प्रलय को प्राप्त होता है। मेरी ज्योति सूर्य के समान प्रकाशमान है।

जो यह जानता है वह अपने लक्ष्य को पा जाता है। यही उपनिषद् है।

इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए ब्रह्मविद्या के इस वृहद् अनुसन्धान को सम्पन्न कर अपने लक्ष्य पर पहुँचने वाला जिज्ञासु अन्न के साथ एकरूप हो जाता है। क्योंकि अन्न ब्रह्म ही है। वस्तुतः अन्न ब्रह्म ही है।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः।
शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्।
तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!



उपसंहार १

अन्नं बहु कुर्वीत

भारत अन्नानुशासन को निभाता रहा

बहु मात्रा में अन्न उत्पन्न करने और स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के जिस अनुशासन की शिक्षा भारत के चिरन्तन ऋषि दे गये हैं, उस अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का निर्वाह भारत के महान् राजा, तपस्वी एवं सामान्य गृहस्थ सर्वदा करते रहे हैं। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान का यह अनुशासन भारतीय चिन्तन और भारत के सहज सार्वजनिक जीवन की मूलभूत मर्यादाओं का अङ्ग बना रहा है। सुदूर अतीत से लेकर प्रायः वर्तमान काल तक भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में बसने वाले और विभिन्न सांस्कृतिक मर्यादाओं का वहन करने वाले भारतीय अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान की मर्यादा का पालन सदैव करते आये हैं। विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न कालों में रचे गये भारतीय साहित्य में सब की सन्तुष्टि के लिये किये जाने वाले महान् यज्ञों एवं अन्यों की क्षुधा की शान्ति के लिये किये गये महान् बलिदानों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता ही रहता है। और, सभी क्षेत्रों एवं सभी कालों के राजा इतना तो सर्वदा सुनिश्चित करते आये हैं कि उनके संरक्षण में आने वाली भूमि पर अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान का अनुशासन क्षीण न होने पाये, सर्वत्र अन्न की प्रचुरता बनी रहे और कहीं कोई भूखा रहने को विवश न हो।

आपुत्रन् के तप की गाथा

इस सन्दर्भ में आपुत्रन् के तप सम्बन्धी सुप्रसिद्ध तमिल कथा विशेष उल्लेखनीय है। तमिल भाषा में 'मणिमेखलै' नाम का प्राचीन बौद्ध महाकाव्य अत्यन्त विख्यात है। आपुत्रन् की कथा इस महाकाव्य के अनेक मर्मस्पर्शी कथानकों में से एक है। आपुत्रन् एक अक्षय पात्र के साथ एक निर्जन द्वीप पर अकेले छूट जाते हैं, और क्योंकि उस द्वीप पर ऐसा अन्य कोई नहीं है जिस के

साथ वे उस अक्षय पात्र से प्राप्त भोजन को बाँट सकें अतः वे स्वयं भी उस पात्र से भोजन का उपभोग नहीं कर पाते। इस प्रकार कदापि अकेले अपने ही लिये भोजन का उपभोग न करने की मर्यादा का पालन करते हुए आपुत्रन् उस निर्जन द्वीप पर अपने अक्षय पात्र को हाथ में लिये हुए भूखे मर जाते हैं।[१]

मणिमेखलै कालातीत वेद-उपनिषद् एवं इतिहासों से भिन्न ऐतिहासिक काल का ग्रन्थ है। तमिल साहित्य में मणिमेखलै के साथ ही एक अन्य ग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम्' का नाम भी लिया जाता है। मणिमेखलै और शिलप्पधिकारम् प्राचीन तमिल साहित्य के युग्म महाकाव्य हैं, शिलप्पधिकारम् के पात्र-पात्रों की अगली पीढ़ी की कथा मणिमेखलै में कही गयी है। परन्तु जहाँ शिलप्पधिकारम् का किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रति कोई आग्रह नहीं है वहीं मणिमेखलै निश्चय ही तमिल बौद्धों का साम्प्रदायिक ग्रन्थ दिखायी देता है। मणिमेखलै के रचयिता शात्तनार आग्रहपूर्वक अपने काव्य को वैदिक परम्परा से पृथक् करने का प्रयास करते हैं, वे वैदिक परम्परा के वाहक लोगों का उल्लेख करते हुए उनके लिये 'नान्मरै माकल्'[२] – चार रहस्यों का बोझा ढोने वाले ढोर – और ऐसे ही अन्य अपनामों का उपयोग करते हैं। और, ऐसे सम्प्रदायबद्ध महाकाव्य मणिमेखलै का आपुत्रन् स्वयं खाने से पहले अन्यों को खिलाने के अनुशासन के प्रति इतना समर्पित है कि इस अनुशासन का निर्वाह करते हुए जो बलिदान उसने किया उसकी उपमा महाभारत में वर्णित कुरुक्षेत्र के उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण और महाभारत के ही उस धर्मनिष्ठ कपोत के बलिदान को छोड़कर अन्यत्र कहीं पाना कठिन है। तमिल बौद्ध महाकाव्य मणिमेखलै के नायक आपुत्रन् का महान् कृत्य निश्चय ही 'केवलाघो भवति केवलादी' के सनातन श्रुतिवाक्य की सम्पूर्ण भारतवर्ष में सार्वकालिक सार्वत्रिक मान्यता का द्योतक है।

मणिमेखलै की कथा के अनुसार आपुत्रन् वाराणसी के एक ब्राह्मण की पत्नी शालि का पुत्र था। शालि वाराणसी में अपने पति के घर को त्याग कर भारतवर्ष के दक्षिण छोर पर स्थित कन्याकुमारी के दर्शन के लिये निकली थी। इस लम्बी यात्रा के मध्य में ही उसका गर्भ सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ और सुदूर दक्षिण के एक गाँव के बाहर रात के अन्धेरे में शालि ने एक पुत्र को जन्म दिया। अपने घर से तो वह निष्कासित हो चुकी थी, अतः मार्ग में उत्पन्न हुए अपने बच्चे को वहीं खुले खेत में छोड़कर शालि अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गयी।

खुले खेत में इस प्रकार अकेले निराश्रय पड़े बच्चे का रुदन सुन एक गाय वहाँ पहुँची। उस

---

[१] मणिमेखलै, अध्याय १३-१४, पृ.२७४-२९६।

[२] मणिमेखलै १३.६९, पृ.२७५।

गाय ने अपनी जीभ से स्नेहपूर्वक चाट-चुपकार कर उस नवजात शिशु को सान्त्वना दी और अपने मधुर दूध से उसका पोषण करने लगी। उस स्नेहशीला गाय ने सात दिन तक उस अनाथ बच्चे की देखभाल की। तभी उस शिशु का नाम आपुत्रन् पड़ा, तमिल में गाय के लिये 'आ' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः गाय का पुत्र आपुत्रन् हुआ।

सात दिन पूरे होने पर पड़ोस के किसी गाँव के एक ब्राह्मण दम्पती की दृष्टि गाय द्वारा पोषित उस अनाथ शिशु पर पड़ी। ब्राह्मण और उसकी पत्नी उस बच्चे को अपनी ही सन्तान मानते हुए उसे घर ले गये और आस-पड़ोस में घोषणा करवा दी कि उन्हें पुत्ररत्न का प्रसाद प्राप्त हुआ है। वह शिशु ब्राह्मण सगे-सम्बन्धियों के मध्य बड़ा हुआ और विधिवत् अध्ययन कर वैदिक विद्याओं में पारङ्गत हुआ।

तब भाग्यवश एक दिन आपुत्रन् का किसी गाय को लेकर गाँव के अन्य ब्राह्मणों के साथ कुछ विवाद हो गया। कलह के बढ़ने पर अनेक लोग वहाँ एकत्र हो विभिन्न प्रकार की ऊँची-नीची बातें कहने लगे। तभी वहाँ खड़े किसी ब्राह्मण ने उन सब लोगों के समक्ष आपुत्रन् के जन्म और उसकी माँ द्वारा उसके परित्याग की घटना की चर्चा कर दी। कन्याकुमारी की यात्रा से लौटते हुए आपुत्रन् की माँ शालि की उस ब्राह्मण से भेंट हुई थी, और उसे सहृदय सहयात्री जान शालि ने अपनी व्यथाकथा का वर्णन उससे कर दिया था। उस ब्राह्मण ने इतने लम्बे समय तक उस रहस्य को अपने हृदय में ही छिपाये रखा था, परन्तु अब विवाद के आवेश में उसने आपुत्रन् के जन्म के उस रहस्य को प्रायः सारे गाँव के सामने अनावृत कर दिया।

अपने जन्म की कथा सुनते ही आपुत्रन् अपना पालन-पोषण करने वाले उस सदय ब्राह्मण दम्पती को छोड़ मदुरै नगर की ओर निकल पड़ा। अपने समय की अत्यन्त वैभवशाली नगरी मदुरै में पहुँचकर उसने चिन्तादेवी के मन्दिर में शरण ली। चिन्तादेवी वाणी एवं विद्या की अधिष्ठात्री देवी हैं, जिनका स्मरण हम सरस्वती के नाम से भी करते हैं। चिन्तादेवी के उस भव्य मन्दिर में रहते हुए आपुत्रन् प्रतिदिन भिक्षा पात्र लेकर दक्षिण की उस महान् नगरी के उदार एवं समर्थ गृहस्थों के द्वार पर पहुँच जाता था। इस प्रकार प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में भिक्षा एकत्र कर वह मन्दिर लौटता और आसपास जो भी चक्षु, श्रोत्र एवं गति से हीन अथवा अन्यथा दुर्बल या निराश्रय जन होते, उन सब को वहाँ बुला उनसे भोजन ग्रहण करने का आग्रह करता। भिक्षा से जुटाये गये अन्न से आसपास के सभी क्षुधित जनों की स्नेह एवं सत्कारपूर्वक क्षुधा शान्त करने के उपरान्त ही वह स्वयं भोजन किया करता था। और, अन्यों को खिलाने के पश्चात् बचे अवशिष्ट अन्न का उपभोग कर धर्मज्ञ एवं धर्मनिष्ठ आपुत्रन् अपने भिक्षापात्र का ही सिरहाना बनाकर वहीं मन्दिर के खुले आँगन में सहर्ष सो जाता था।

एक दिन जब आपुत्रन् इस प्रकार मन्दिर के आँगन में सोया हुआ था तब देर रात में वहाँ कुछ यात्री आ पधारे। वे लम्बी एवं कठिन यात्रा करते हुए वहाँ पहुँचे थे, मार्ग के श्रम से वे श्रान्त थे और भूख से त्रस्त। परन्तु आपुत्रन् तो स्वयं प्रतिदिन भिक्षा माँगकर ही अपना पेट भरता था, उसके पास अन्न का कोई संग्रह होने का तो प्रश्न ही नहीं था। देर रात में आये उन अतिथियों के सत्कार के लिये वह अन्न कहाँ से लाता? अतिथिधर्म की मर्यादा के निर्वाह में अपने आप को इस प्रकार असमर्थ पा आपुत्रन् गहन अवसाद में डूब गया। उसे अवसन्न देख स्वयं चिन्तादेवी विचलित हो उठीं। तुरन्त वे आपुत्रन् के समक्ष प्रकट हुईं और उसे एक अक्षयपात्र भेंट करते हुए वर दिया कि चाहे सारी पृथिवी अकाल से ग्रस्त हो जाये, आपुत्रन् के उस पात्र से भोजन का प्रवाह बना ही रहेगा, और उस पात्र से भोजन ग्रहण करने वाले चाहे लेते-लेते थक जायें परन्तु उस पात्र में भोजन कभी क्षीण नहीं होगा।

आपुत्रन् ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक देवी के हाथों से वह दिव्य पात्र स्वीकार किया और उस पात्र के भोजन से सर्वप्रथम देर रात के समय अपने विश्राम स्थान पर आये उन क्षुधित एवं श्रान्त अतिथियों को तृप्त किया। उसी समय से लेकर वह निरन्तर उस पात्र के भोजन से अपने आस-पड़ोस में सब ओर क्षुधितों की क्षुधा मिटाने लगा। उस के आसपास नित्य भोजनाकाङ्क्षी मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों की भीड़ लगी रहती, और वह उन सब को भोजन से सन्तुष्ट करता रहता। उसके पास जुटे मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों के प्रसन्न स्वर ऐसे सुनाई देते थे मानों फलो से लदे किसी पेड़ पर पक्षियों के झुण्ड चहक रहे हों। और किसी भव्य फलवान् वृक्ष की ही भाँति आपुत्रन् अपने आश्रय में आने वाले प्रत्येक अतिथि को क्षुधा एवं श्रान्ति से निवृत्त करता जाता था।

आपुत्रन् के उस निरन्तर अन्नदान की ऐसी ख्याति हुई कि देवों के राजा इन्द्र उससे ईर्ष्या करने लगे। आपुत्रन् को अपने उस महान् कर्म से विचलित करने के लिये अन्ततः इन्द्र स्वयं ही निर्बल वृद्ध के रूप में आपुत्रन् के पास पहुँचे और उसकी समस्त कामनाओं की पूर्ति का लोभ उसे दिखाने लगे। परन्तु आपुत्रन् ने उस वृद्ध के रूप में उपस्थित हुए देवों के राजा इन्द्र का उपहास करते हुए कहा – ''देखिये, यह दिव्य पात्र क्षुधितों की क्षुधा शान्त कर दुःख से ग्रस्त मुखों को तुरन्त सन्तुष्टि के तेज से दीप्त कर देता है। क्षुधा से निस्तेज हुए मुखों पर सन्तोष की इस दीप्ति का सञ्चार होता देखने से बड़ा सुख भला और क्या हो सकता है? देवों के राजा इन्द्र, तुम मुझे अन्नदान के इस दिव्य आनन्द से अधिक आनन्ददायक कौन सी वस्तु दोगे? खाने के लिये सुस्वादु भोजन? या पहनने के लिये सुन्दर कपड़े? या साथ निभाने के लिये युवा सहचरियाँ?''[३]

---

[३] मणिमेखलै १४.४४-४८, पृ.२९५।

आपुत्रन् के तप की गाथा

आपुत्रन् से इस प्रकार तिरस्कृत हो इन्द्र ने समस्त पृथिवी को धन-धान्य से सम्पन्न कर देने का सङ्कल्प किया– पृथिवी पर न कहीं कोई अभाव होगा और न ही कोई आपुत्रन् के हाथ से भोजन ग्रहण करने आयेगा। इन्द्र के प्रभाव से सब स्थानों पर सुसमय में प्रचुर वृष्टि होने लगी और शीघ्र ही समस्त पृथिवी पर सुभिक्ष व्याप गया। सब स्थानों पर अन्न का ऐसा प्राचुर्य हुआ कि लोग क्षुधा के दुःख को सर्वथा भूल गये और चिन्तादेवी के मन्दिर में आपुत्रन् के दिव्य अक्षय-पात्र से भोजन ग्रहण करने आने वाला कोई न रहा।

तब आपुत्रन् अपना अक्षयपात्र लेकर गाँव-गाँव घूमने लगा। परन्तु कहीं भी उसे कोई ऐसा क्षुधित नहीं मिला जो उसके पात्र से भोजन ग्रहण करने को तत्पर हो। वस्तुतः, स्थान-स्थान पर लोग आपुत्रन् की हँसी उड़ाने लगे। जब सहज ही अन्न का ऐसा बाहुल्य हो तो कोई किसी दिव्य पात्र की अपेक्षा क्यों करे?

इस प्रकार निराश भटकते हुए आपुत्रन् को एक स्थान पर कुछ नाविक मिले। वे कुछ ही समय पहले अपनी समुद्रयात्रा से लौटे थे और उनकी सूचना थी कि समुद्र पार सावकदेश में सूखा पड़ा है और वहाँ लोग भूख से मर रहे हैं। सावक सम्भवतः आज के जावा का ही प्राचीन तमिल नाम है। सावकदेश में व्याप्त अकाल की सूचना पाते ही आपुत्रन् उन नाविकों के साथ हो लिया। उनका पोत सावक की ही यात्रा पर निकल रहा था, आपुत्रन् भी उसी पोत पर चढ़ बैठा। मार्ग में सहसा समुद्र विक्षुब्ध हो उठा और पोत ने मणिपल्लव द्वीप के तट पर शरण ली। पोत को तट पर रुका देख आपुत्रन् द्वीप पर उतरकर अकारण इधर-उधर घूमने लगा। इसी मध्य समुद्र शान्त हो गया और आपुत्रन् की अनुपस्थिति से अनजान नाविक पोत को तट से निकाल अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गये। आपुत्रन् उस निर्जन द्वीप पर अकेला छूट गया।

आपुत्रन् के पास चिन्तादेवी के प्रसाद से प्राप्त वह अक्षयपात्र अभी भी था। परन्तु उस निर्जन द्वीप पर तो अन्य कोई भी नहीं था, और किसी अन्य को खिलाये बिना उस दिव्य पात्र के भोजन का वह अकेले कैसे उपभोग कर सकता था? इस प्रकार सोचते हुए आपुत्रन् ने अपने-आप से ही कहा कि, ''यह पात्र तो मुझे अन्यों का पोषण करने के लिये ही प्राप्त हुआ था, इस पात्र से मैं अकेले अपना पोषण तो कदापि नहीं कर सकता। निश्चय ही मेरे तप का सञ्चित फल क्षीण हो चुका है। अब इस दिव्य अक्षयपात्र को अपने साथ लिये घूमने का क्या उपयोग?''[४]

अपने-आप से ऐसा कहकर आपुत्रन् ने वह अक्षयपात्र उस द्वीप पर स्थित गोमुखी नाम की एक भव्य झील के निर्मल पानी में विसर्जित कर दिया। और सर्वथा निराहार रहने का व्रत लेकर उसने उस द्वीप पर अपने प्राण त्याग दिये।

---

[४] मणिमेखलै १४.८७-९०, पृ.२९६।

भारत अन्नानुशासन को निभाता रहा

महाकाव्य की कथा के अनुसार समय पाकर वह दिव्य पात्र महाकाव्य की नायिका मणिमेखलै को प्राप्त हुआ और उस पात्र के प्रभाव से वह भी अन्यों की क्षुधा शान्त करने वाली महान् साध्वी के रूप में विख्यात हुई। उचित समय पर आपुत्रन् ने सावकदेश के राजा की गाय के गर्भ से पुनर्जन्म लिया और सावकदेश के धर्मनिष्ठ राजा पुण्यराजन् के नाम से उसकी ख्याति हुई।

आपुत्रन् निश्चय ही उन विभ्रमित लोगों को प्राप्त होने वाली भयङ्कर गति को जानता था जो अन्न का प्रसाद पाकर उसे अन्यों में बाँटे बिना अकेले ही उसका भक्षण कर लेते हैं। उस निर्जन द्वीप पर अकेले छूट जाने पर उसने निराहार रहकर मरना स्वीकार किया परन्तु अपने पास उपलब्ध अक्षयपात्र से अकेले अपने लिये अन्न का उपभोग करना नहीं। 'केवलादी' होकर 'केवलाघ' होने, केवल पाप के ही भागी होने, और भूख से प्राण गँवाने के मध्य दुविधा उपस्थित होने पर आपुत्रन् ने स्वेच्छा से मृत्यु का ही वरण किया।

राजा हर्षवर्धन के यज्ञ

अन्यों से बाँटने के उपरान्त ही स्वयं उपभोग की ओर प्रवृत्त होने का यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन विभिन्न कालों एवं विभिन्न क्षेत्रों के साहित्य मात्र में ही प्रतिष्ठित नहीं हुआ। विभिन्न कालों एवं क्षेत्रों के राजा भी अपने-अपने समय की राज्य एवं समाज व्यवस्थाओं को 'संविभाग कर उपभोग करने' के सनातन सिद्धान्त के अनुरूप ही ढालते आये हैं।

भारतीय इतिहास के जिन राजाओं के काल सम्बन्धी हमें समुचित जानकारी उपलब्ध है उनमें राजा हर्षवर्धन की महिमा बहुत ऊँची है। हुयेन-त्सांङ्ग नाम का प्रसिद्ध चीनी विद्वान् राजा हर्षवर्धन के काल में भारत की यात्रा पर आया था। उस विद्वान् यात्री के वृत्तान्तों से हमें राजा हर्षवर्धन के राज्य के विषय में अत्यन्त विशद जानकारी मिलती है।और हुयेन-त्साङ्ग के वृत्तान्तों में राजा हर्षवर्धन के राज्य का जो पक्ष प्रमुखता से उभरकर आता है वह संविभाग के सिद्धान्त के प्रति उनकी अद्भुत श्रद्धा से ही सम्बन्ध रखता है। हुयेन-त्साङ्ग के अनुसार राजा हर्षवर्धन प्रति पाँचवें वर्ष गङ्गा-यमुना के सङ्गमस्थल प्रयाग में एक भव्य यज्ञ का आयोजन कर राजकीय कोष में एकत्रित हुई सारी सम्पदा लोगों में बाँट दिया करते थे और फिर अपने पहनने के वस्त्र तक अपनी बहिन से माँगकर पुनः राजकीय कोष के लिये योगक्षेम की प्रक्रिया प्रारम्भ करते थे।

हुयेन-त्साङ्ग के शिष्यों श्रमण हुई-ली और श्रमण येन-त्सुङ्ग ने अपने गुरु के जीवनचरित्र

में भारत यात्रा के उनके अनुभवों का विस्तृत सङ्कलन किया है। श्रमण ली एवं श्रमण त्सुङ्ग द्वारा रचित हुयेन-त्साङ्ग के इस जीवनचरित्र में राजा हर्षवर्धन के एक ऐसे यज्ञ का वर्णन हुआ है जिसमें हुयेन-त्साङ्ग स्वयं उपस्थित थे। हुयेन-त्साङ्ग के आँखों देखे इस यज्ञ का वर्णन पढ़ते हुए ऐसा आभास होता है कि मानो वे राजा श्रीराम अथवा राजा युधिष्ठिर जैसे किसी पूर्वयुगीन भारतीय राजा के यज्ञ में ही सम्मिलित हुए हों। नीचे हम हुयेन-त्साङ्ग के चीनी जीवनचरित्र के उन्नीसवीं शती में किये गये एक अङ्ग्रेजी अनुवाद से राजा हर्षवर्धन के उस यज्ञ के वृत्तान्त का कदाचित् मुक्त हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस वृत्तान्त में राजा हर्षवर्धन का शिलादित्य राजा के नाम से और हुयेन-त्साङ्ग का धर्माचार्य के विशेषण से उल्लेख हुआ है। श्रमण हुई-ली और श्रमण येन-त्सुङ्ग लिखते हैं[८] –

‘‘धर्माचार्य हुयेन-त्साङ्ग ने उन्नीसवें दिन उस सम्मेलन के सम्पन्न होने के उपरान्त, नालन्दा विहार के भिक्षुओं से विदा ली और अपनी पुस्तकें एवं प्रतिमाएँ एकत्र कर घर लौटने के विचार से शिलादित्य राजा के समक्ष प्रस्तुत हुए।

‘‘राजा ने कहा – ‘आपका यह शिष्य अपने पूर्वजों से राजसत्ता पाने के उपरान्त तीस वर्षों से भारत पर राज्य करता आ रहा है। इस अवधि में मुझे सर्वदा यह चिन्ता बनी रही है कि मेरे पूर्व कर्मों का सञ्चित पुण्य कदाचित् पर्याप्त नहीं हैं। अतः मैं प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयागराज में गङ्गा एवं यमुना के सङ्गम पर एक महान् धर्म सभा का आयोजन करता हूँ। तब वहाँ सङ्गम पर राज्य के समस्त कोष एवं समस्त प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह किया जाता है और उस सभा में भाग लेने के लिये पाँचों भारत खण्डों के सभी ब्राह्मणों एवं सभी श्रमणों के अतिरिक्त समस्त दरिद्रों एवं अनाथों को वहाँ आमन्त्रित किया जाता है। उस सभा की पचहत्तर दिन की अवधि में उदारतापूर्वक निरन्तर दान का सत्र चलता है। सतत दान के इस सत्र को ‘मोक्ष’ कहा जाता है। अपने राज्यकाल में मैं इस प्रकार की पाँच धर्मसभाओं का आयोजन कर चुका हूँ। अब छठी सभा के आयोजन का उपक्रम हो रहा है। आप अपना प्रस्थान किञ्चित् स्थगित कर इस सभा तक रुकिये और हमारे साथ चलकर इस भव्य आयोजन का आनन्द लीजिये।’

‘‘शिलादित्य राजा के इस निवेदन के उत्तर में धर्माचार्य हुयेन-त्साङ्ग ने कहा, ‘बोधिसत्त्व ने अपने पुण्य कर्मों एवं अनुशासित आचार से अपने-आप को बोध प्राप्ति के योग्य बनाया। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने पुण्य कर्मों का फल भोगते हुए यह कदापि नहीं भूलता कि पुण्य कर्म ही सुखप्राप्ति का कारण हैं। यदि स्वयं महाराज अन्यों के भले के लिये अपने समस्त कोष का व्यय

[८] हुयेन-त्साङ्ग, पृ.१८३-७।

करते हुए कोई सोच-विचार नहीं करते तो मैं हुयेन-त्साङ्ग घर के लिये अपने प्रस्थान में किञ्चित् देरी का क्यों विचार करूँ। मुझे महाराज के साथ प्रयागयात्रा पर चलने की अनुमति दी जाये।'

''राजा यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्नीसवें दिन वे हुयेन-त्साङ्ग को लेकर प्रयागराज पहुँचे और वहाँ सीधे महान् दानसत्र के लिये निश्चित किये गये वृहत् प्राङ्गण में गये। इस दान-प्राङ्गण के उत्तर में गङ्गा और दक्षिण में यमुना बह रही थी। उत्तरपश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई इन नदियों का यहीं प्रयागराज में सङ्गम होता है।

''गङ्गा-यमुना के सङ्गमस्थान के पश्चिम की ओर चौदह या पन्द्रह 'ली' की परिधि में फैला हुआ एक विस्तृत क्षेत्र है। यह क्षेत्र दर्पण-सा समतल एवं सपाट है। प्राचीन काल से विभिन्न राजा दान बाँटने के उद्देश्य से इस स्थान पर आते रहे हैं। इसीसे इस क्षेत्र का नाम 'दान-प्राङ्गण' पड़ गया है। कहा जाता है कि यहाँ दिये गये दमड़ी मात्र दान का पुण्य अन्य किसी स्थान पर दिये गये सहस्रों के दान से भी अधिक होता है। पुरातन काल से ही इस स्थान की ऐसी ऊँची मान्यता चली आ रही है।

''शिलादित्य राजा ने उस विस्तृत क्षेत्र में बाँस की बाड़ से सहस्र पग लम्बा एवं सहस्र पग चौड़ा एक चौकोर बनाने का निर्देश दिया। इस चौकोर प्राङ्गण में दान बाँटा जाना था। राजा के आदेश से क्षेत्र के मध्य में छप्पर तान-तान कर बीसियों कच्चे घर बनाये गये। इन कच्चे घरों में दान के लिये लाया गया कोष रखा गया। इस कोष में सोना, चाँदी, बहुमूल्य मोती, पद्मराग और इन्द्रनील मणि एवं महानील मणि जैसे अमूल्य रत्न थे। सोना-चाँदी एवं मणि-मानिक से परिपूर्ण इन घरों के पार्श्व में राजा ने सैकड़ों लम्बे-लम्बे बारजे बनवाये। इनमें सूती एवं कौशेय वस्त्रों और सोने-चाँदी के सिक्कों के भण्डार एकत्रित किये गये।

''बाँस की बाड़ के बाहर राजा ने अन्नवितरण के लिये अनेक स्थान बनवाये। इन सबके अतिरिक्त उसने विभिन्न कोषागारों के सामने लम्बे-लम्बे सैकड़ों गलियारे बनवाये। हमारी राजधानी के प्रमुख चौकों के गलियारों जैसे इन भव्य गलियारों में से प्रत्येक में प्रायः एक सहस्र लोग विश्राम कर सकते थे।

''इन सब उपक्रमों को प्रारम्भ करवाने के कुछ पूर्व ही राजा ने पाँचों भारतखण्डों में घोषणा करवाकर सभी श्रमणों, निर्ग्रन्थियों एवं अन्य समस्त धर्मावलम्बियों को और समस्त दरिद्रों, अनाथों एवं अन्यथा निराश लोगों को दान-प्राङ्गण में पहुँचकर वहाँ एकत्रित सम्पति को दान में स्वीकार करने के लिये बुला भेजा था।

''धर्म गुरु हुयेन-त्साङ्ग इस मध्य कान्यकुब्ज की सभा में पहुँच गये थे और अब वे शीघ्रता से उस दानक्षेत्र की ओर लौट आये। अठारह राज्यों के राजा भी महाराज हर्षवर्धन के पीछे-

पीछे उस दान क्षेत्र में एकत्रित होने के उद्देश्य से आ पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि प्रायः ५००,००० लोग वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे।

''शिलादित्य राजा ने गङ्गा के उत्तरी तट पर अपना शिविर स्थापित किया। दक्षिण भारत के राजा ध्रुवभट्ट का शिविर सङ्गम के पश्चिम की ओर लगा। कुमार राजा ने यमुना के दक्षिण में पुष्प वाटिकाओं के पास अपना डेरा जमाया। दान ग्रहण करने आये जनसमूह को ध्रुवभट्ट राजा के शिविर के पश्चिम की ओर निवासस्थान दिया गया।

''आयोजन के लिये निश्चित दिन प्रातः शिलादित्य राजा एवं कुमार राजा के समस्त सैनिक अनुचर नावों पर आरूढ हुए एवं ध्रुवभट्ट राजा के अनुचर हाथियों पर चढ़ बैठे। इस प्रकार सब लोग भव्य शोभायात्रा में निकलकर सभास्थल पर पहुँचे।

''पहले सत्र के पहले दिन दान-प्राङ्गण में स्थित छप्पर से ढके एक कच्चे घर के भीतर बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गयी। तदुपरान्त मधुर सङ्गीत के स्वरों और फूलों की बौछार के मध्य अत्युत्तम कोटि के बहुमूल्य पदार्थ और वस्त्र बाँटे गये और सब को उत्कृष्ट भोजन से सन्तुष्ट किया गया। इस प्रकार दिन बीतने पर सभी लोग अपने-अपने शिविरों को लौट गये।

''दूसरे दिन उन्होंने आदित्यदेव की प्रतिमा की स्थापना की और पहले दिन की तुलना में आधे मूल्य के बहुमूल्य पदार्थ एवं वस्त्र बाँटे।

''तीसरे दिन ईश्वरदेव की प्रतिमा की स्थापना की गयी और दूसरे दिन ही के समान बहुमूल्य उपहार दान में दिये गये।

''चौथे दिन एक सौ पङ्क्तियों में सज्जित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के दस-दस सहस्र अनुयायिओं को उपहार बाँटे गये। उनमें से प्रत्येक को सौ स्वर्ण मुद्रायें, एक मोती, एक सूती वस्त्र, खाने-पीने के लिये विभिन्न सुस्वादु पदार्थ और पुष्प एवं सुगन्धित द्रव्य भेंट किये गये। इस दानसत्र के पश्चात् वे सब अपने-अपने शिविरों को लौट गये।

''इस क्रम में पाँचवाँ आयोजन ब्राह्मणों को भेंट-उपहार देने का था। यह आयोजन बीस दिन चला।

''छठा आयोजन अन्य धर्मावलम्बियों को दान बाँटने का था। यह आयोजन दस दिन चला।

''तदुपरान्त सुदूर स्थानों से आये याचकों को दान देने का आयोजन हुआ और यह भी दस दिन तक चला।

''आठवाँ आयोजन निर्धन, अनाथ एवं दरिद्र जनों के लिये दान बाँटने का था। यह दान एक महीने तक चलता रहा।

''इस अन्तिम आयोजन के सम्पन्न होते-होते पाँच वर्षों में सञ्चित सम्पूर्ण कोष समाप्त हो

गया। अश्वों, हाथियों और सार्वजनिक व्यवस्था एवं राजकीय सम्पदा के लिये आवश्यक सैनिक साज-सामान के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहा। राजकीय कोष में सञ्चित धन-सम्पदा के साथ-साथ राजा ने अपने निजी आभूषण एवं अन्य वस्तुएँ, अपने वस्त्र, हार, कुण्डल, कड़े, कण्ठियाँ और ज्वलन्त शिरोभूषण दान में दे दिये। उसने यह सब मुक्तहस्त हो दान कर दिया।

"इस प्रकार अपना सर्वस्व दान करने के उपरान्त राजा ने अपनी बहिन से एक साधारण-सा पुराना वस्त्र भिक्षा के रूप में ग्रहण किया और इस वस्त्र को पहनकर उसने दसों दिशाओं के बुद्धों को अपनी पूजा अर्पित की। श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर और आनन्द से अभिभूत होते हुए उसने बुद्धों के प्रति निवेदन किया कि, 'इस समस्त धन-सम्पदा का सञ्चय करते हुए मुझे सर्वदा यह भय बना रहता था कि इस कोष की समुचित सुरक्षा के लिये पर्याप्त सुरक्षित स्थान का प्रबन्ध नहीं हो पाया। अब इस पुण्य-क्षेत्र में इस कोष को दान में वितरित कर देने के पश्चात् मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि यह सब धन-सम्पदा सुरक्षित अपने स्थान पर पहुँच गयी है। मैं शिलादित्य अपने समस्त भावी जन्मों में इसी प्रकार अपनी सञ्चित सम्पदा का मानव-मात्र में धर्मपूर्वक वितरण करता रहूँ, और उस दान के प्रभाव से अपने में बुद्ध के दशबलों का सञ्चय कर पाऊँ।' "

प्रत्येक पाँचवें वर्ष आयोजित किये जाने वाले राजा हर्षवर्धन के इस महान् दानसत्र का वृत्तान्त पढ़ते हुए भारतीय बोध के कालातीत आदर्श राजाओं के महान् यज्ञों का स्मरण बरबस हो आता है। राजा श्रीराम, राजा दशरथ अथवा राजा युधिष्ठिर की ही भाँति राजा हर्षवर्धन यज्ञ के आयोजन के लिये सावधानीपूर्वक अपनी राजधानी से बाहर किसी पुण्य क्षेत्र का चुनाव करते हैं। राजा हर्षवर्धन इस कार्य के लिये गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर स्थित तीर्थराज प्रयाग का वरण करते हैं, उनके काल में यह अत्यन्त पुण्य सङ्गम क्षेत्र सम्भवतः उनके पूर्ववर्ती राजाओं के इस क्षेत्र में फलित औदार्य के फलस्वरूप ही 'दान-प्राङ्गण' के रूप में विख्यात था। पुनः भारत के कालातीत राजाओं के समान ही राजा हर्षवर्धन भारतवर्ष के समस्त लोगों को यज्ञ में भाग लेने के लिये आमन्त्रित करते हैं, अपने दानसत्र के प्रारम्भ से पूर्व वे पाँचों भारतखण्डों में घोषणा करवाते हैं कि सभी 'श्रमण, निर्ग्रन्थी एवं अन्य धर्मावलम्बी और सभी दरिद्र, अनाथ एवं अन्यथा निराश जन' उस दान-प्राङ्गण में आयें और वहाँ एकत्रित धन-सम्पदा को दान में स्वीकार करें। भारत के कालातीत राजाओं के यज्ञों की भाँति ही राजा हर्षवर्धन के यज्ञ में असंख्य लोगों के रहने-ठहरने और अन्नपान की वृहत् व्यवस्था की जाती है। इस सारी व्यवस्था के सम्पन्न होने पर जब राजा हर्षवर्धन यज्ञभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं तो भारत के युगयुगीन राजाओं की भाँति ही भारतवर्ष के अन्य सभी महान् राजा उनके पीछे-पीछे चलते दिखायी देते हैं, पूर्व,

पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण से आये अठारह महान् राजा अपनी सेनाओं समेत राजा हर्षवर्धन का अनुसरण करते हुए यज्ञभूमि में पहुँचते हैं। और अन्ततः जब राजा हर्षवर्धन का यज्ञ प्रारम्भ होता है तो भारत के आदर्श राजाओं के यज्ञों की भाँति ही समस्त यज्ञभूमि में अन्नपान एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के दान की अबाध धारा प्रवाहित हो उठती है, और यह प्रवाह तब तक चलता रहता है जब तक सब उपस्थित जन सर्वथा सन्तुष्ट नहीं हो जाते और राज्य की समस्त सञ्चित सम्पदा संविभाजन के उस प्रवाह में पूर्णतः निःशेष नहीं हो जाती।

भारतीय इतिहास के महान् राजा भारत के कालातीत साहित्य में प्रतिपादित एवं भारत के युगयुगीन आदर्श राजाओं द्वारा सेवित संविभाजन के अनुशासन का इस गहनता से अनुसरण करते आये हैं। यहाँ यह कदाचित् उल्लेखनीय ही है कि राजा हर्षवर्धन के दानसत्र का उपरोक्त वृत्तान्त, जो निश्चय ही महाभारत अथवा रामायण के किसी यज्ञ के वृत्तान्त जैसा ही है, एक चीनी बौद्ध विद्वान् के संस्मरणों से आया है। वह चीनी विद्वान् बौद्ध धर्म में ऐसा निष्णात था कि उसके शिष्य उसे धर्माचार्य के नाम से ही सम्बोधित करते थे, और अपने धर्म के प्रति वह इतना निष्ठावान् था कि भारत के बौद्धेतर लोगों को वह विधर्मियों एवं अपधर्मियों की श्रेणी में रखता था। ऐसे विदेशी एवं निष्ठावान् बौद्धाचार्य का राजा हर्षवर्धन के दानपर्व का ऐसा वर्णन भारतवर्ष में संविभाजन के अनुशासन की सर्वथा अनुल्लङ्घनीयता का ही प्रमाण है।

तञ्जावूर के छत्र

भारतीय इतिहास के राजा और भारत के लोग अर्वाचीन काल तक संविभाजन के अनुशासन का पालन करते रहे हैं। अठारहवीं शती के अन्तिम दशकों से ही भारत पर तब सद्य-आरोपित परकीय राज्य के ब्रितानी प्रशासकों के वृत्तान्तों में भारतवर्ष में प्रचलित आतिथ्य एवं संविभाजन की संस्थाओं का वर्णन पुनः पुनः होने लगता है। उस समय के ब्रितानी प्रलेखों में भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों से ऐसी संस्थाओं के वृत्तान्त मिलते हैं। उत्तर में केदारनाथ, पश्चिम में जयपुर एवं उदयपुर, पूर्व में पुरी और दक्षिण में रामेश्वरम् एवं तञ्जावूर में आतिथ्य एवं संविभाजन की विभिन्न संस्थाओं के प्रचलन के विषय में ब्रितानी प्रशासकों के विस्तृत प्रलेख उपलब्ध हैं। ब्रितानी प्रशासक इन संस्थाओं को लेकर विशेषतः चिन्तित दिखायी देते हैं। अपने प्रशासन के प्रारम्भिक दशकों में वे पाते हैं कि भारत की सार्वजनिक आय का बड़ा अंश तो अतिथ्य एवं संविभाजन की इन संस्थाओं को चलाने एवं अन्य अनेक सार्वजनिक कार्यों के वहन के लिये प्राचीन काल से ही अभ्यर्पित किया जा चुका है। ब्रितानी प्रशासक इन समस्त अभ्यर्पणों का नये ब्रितानी राज्य

के पक्ष में अधिग्रहण करने और सामान्यतः सार्वजनिक कार्यों पर होने वाले सब प्रकार के व्यय को सीमित करने के प्रति अत्यन्त उद्यमशील रहे। ब्रितानी प्रशासन के राजस्व को जैसे कैसे बढ़ाते जाने के अभियान में रत वे प्रशासक कई दशकों तक भारत की पारम्परिक आतिथ्य एवं संविभाजन की संस्थाओं एवं अन्य समस्त सार्वजनिक व्यवस्थाओं को खण्डित करने का सतत प्रयास करते रहे और अपने इन प्रयासों के लेखे-जोखे में वे भारतीय सार्वजनिक नीति की इन सहज संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं का विशद वृत्तान्त छोड़ गये।

उस काल का एक सजीव वृत्तान्त धुर दक्षिण के तञ्जावूर राज्य से सम्बन्ध रखता है। तञ्जावूर राज्य के तटीय क्षेत्र की अधिकतर भूमि का राजस्व तब वहाँ के अनेक मठों एवं छत्रों के पक्ष में अभ्यर्पित था। इन छत्रों एवं मठों में यात्रियों एवं अन्य याचकों को आश्रय एवं अन्न दिया जाता था, और मठ तो विभिन्न विषयों में विशेषतः उच्च विद्वत्ता के केन्द्र भी हुआ करते थे। तञ्जावूर राज्य के छत्रों का प्रबन्ध राजकीय कुटुम्ब की रानियों के हाथों में था और छत्रों से सम्बन्धित भूमि पर भी रानियों का ही अधिकार माना जाता था। तञ्जावूर राज्य १७९९ ईस्वी में ब्रितानी प्रशासन के अधीन आ गया और ब्रितानी प्रशासकों ने तुरन्त विभिन्न सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिये अभ्यर्पित भूमि एवं राजस्व के आकलन एवं अधिग्रहण के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। इसी क्रम में छत्रों के कार्यनिर्वाह के लिये रानियों के अधिकार में दी गयी तटीय भूमि के विषय में एक विस्तृत जाँच प्रारम्भ की गयी। इस सन्दर्भ में ब्रितानी प्रशासकों की पूछताछ के उत्तर में उस समय तञ्जावूर राज्य के सम्राट राजा सरफोजी महाराज ने तञ्जावूर सभा में आरोपित ब्रितानी 'रेसीडेंट' के नाम एक पत्र लिखकर ब्रितानी प्रशासकों को छत्रों के कामकाज एवं सहज भारतीय व्यवस्था में इन संस्थाओं के महत्त्व से अवगत कराने का प्रयास किया। १८०१ ईसवी में लिखा गया यह पत्र अपने समय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रलेख है। तञ्जावूर राज्य के छत्रों और उनके प्रति तञ्जावूर के राजाओं की नीति का सजीव चित्रण करते हुए राजा सरफोजी महाराज इस पत्र में लिखते हैं कि [६] –

''सार्वजनिक पुण्य कार्यों के लिये विभिन्न व्यक्तियों को सर्वमान्यम् अथवा श्रोत्रियम् के रूप में जो भूमि अभ्यर्पित की गयी है उसके लिये मेरे प्रथम पूर्वज के समय से ही राजकीय मुद्रा के

---

[६] तञ्जावूर के सम्राट राजा सरफोजी का तञ्जावूर के रेसीडेंट बी. टोरिन के नाम पत्र, दिनाङ्क २०.१.१८०१, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *प्रोसीडिङ्गस आफ द बोर्ड आफ रिवेन्यु,* २.२.१८०१, खण्ड २७१ सी, पृ.११५५-५७। इस अभिलेख में राजा सरफोजी महाराज के पत्र का अङ्ग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है। यहाँ हम उस अङ्ग्रेजी अभिलेख का हिन्दी रूपान्तर दे रहे हैं। इस अभिलेख और अठारहवीं शती के भारत सम्बन्धी अन्य ऐतिहासिक सामग्री की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करवाने के लिये हम श्रीधर्मपाल के आभारी हैं।

साथ नियमित आज्ञापत्र दिये जाते रहे हैं। परन्तु राजपरिवार की रानियों को अभ्यर्पित छत्रों अथवा पुण्य कार्यों के लिये उन्हें दी गयी अन्य राशियों के लिये कभी कोई आज्ञापत्र नहीं लिखे गये। ऐसा कदाचित् इसलिये हुआ कि अपने समय के सभी राजाओं को पूर्ण विश्वास था कि उनका या उनके पुत्रों एवं अन्य वंशजों का कोई मन्त्री कभी पुण्य कार्यों के हेतु रानियों के अधिकार में दी गयी भूमि के लिये लिखित आज्ञापत्र दिखाये जाने की माँग नहीं करेगा। अतः रानियों का यह अधिकार सर्वदा मात्र 'परवानगी' से ही चलता आया है।

''सार्वजनिक पुण्य कार्यों में रत ये संस्थाएँ अधिकतर समुद्रतट के आसपास के क्षेत्र में स्थित हैं, और इस क्षेत्र की भूमि अत्यन्त निम्न श्रेणी की है। रामेश्वरम् का मार्ग भी इसी क्षेत्र में पड़ता है और भारत के सभी भागों से, बनारस, अवध, देहली, औरङ्गाबाद और पूना से चालीस सहस्र यात्री प्रति वर्ष इस मार्ग पर आते-जाते हैं। छत्रों की स्थापना मुख्यतः इन यात्रियों की सुविधा के लिये ही की गयी है। प्रत्येक छत्र के साथ मन्दिर, धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ बनायी गयी हैं। यहाँ मैं आपको इन छत्रों से प्रवाहित होने वाले पुण्य कार्यों के स्वरूप एवं विस्तार से अवगत करवा दूं – यहाँ आने वाले सब यात्री, ब्राह्मण से लेकर परया (हरिजन) तक सब जातियों के, और जोगी, जङ्गम, अतीत, बैरागी आदि विभिन्न रूपों में आने वाले सब लोग, यहाँ पहुँचने पर पके चावल का भोजन पाते हैं। उनमें से जो पका अन्न ग्रहण नहीं करते उन्हें विभिन्न आवश्यक द्रव्यों समेत कच्चा चावल दिया जाता है। पके एवं कच्चे अन्न का यह वितरण आधी रात तक चलता रहता है और तब घण्टी बजाकर घोषणा की जाती है कि जिस किसी को तब तक भोजन प्राप्त न हुआ हो वह आकर अपने भाग का अन्न ले जाये।

''जो यात्री किसी कारणवश अपनी यात्रा पर आगे जाने में असमर्थ हो, उन्हें जब तक वे छत्र में रहें, तब तक भोजन मिलता रहता है।

''प्रत्येक छत्र में चार वेदों के अध्यापन के लिये एक-एक आचार्य, एक सामान्य शिक्षक और विभिन्न रोगों, सब प्रकार के शोथ एवं सांप-बिच्छु आदि के विष की चिकित्सा करने में दक्ष वैद्य नियुक्त किये गये हैं। अनजान लोगों के भी जो अनाथ बच्चे छत्र में आ पहुँचते हैं उन सब को शिक्षक की देखभाल में रखा जाता है, उन्हें दिन में तीन समय भोजन दिया जाता है और प्रति चौथे दिन उनका तेल से अभ्यञ्जन होता है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें औषधि एवं समय-समय पर वस्त्र उपलब्ध करवाये जाते हैं, और उनकी सब प्रकार से समुचित देखभाल करने के सब प्रयास किये जाते हैं। जिस किसी विद्या में उनकी रुचि हो उन्हें उसी विद्या में शिक्षा दिलवायी जाती है, और जब वे अपनी रुचि के विषय में पारङ्गत हो जाते हैं तो उनके विवाह का व्यय छत्र उठाता है।

''छत्र में पहुँचकर अथवा उससे पूर्व भी जो यात्री अस्वस्थ हो जाते हैं उनके लिये औषध एवं समुचित अन्नपान का प्रबन्ध किया जाता है और स्वस्थ होने तक उनकी सम्मान एवं स्नेह पूर्वक सेवा-शुश्रूषा की जाती है।

''जो यात्री छत्र में अपने निवास की अवधि में प्राण त्याग बैठते हैं उनके अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध उनकी जाति की रीति-नीति के अनुरूप सम्पन्न करने की व्यवस्था की जाती है।

''शिशुओं के लिये दूध दिया जाता है। गर्भवती महिलाओं की विशेष स्नेहपूर्वक देखभाल की जाती है और उन में से जिनका गर्भ छत्र में रहते हुए पूर्ण हो जाता है, उनके प्रसव का व्यय छत्र उठाता है। उनके लिये समुचित औषधियाँ उपलब्ध करवायी जाती हैं और प्रसव के पश्चात् तीन महीने तक उन्हें छत्र में ही रहने की अनुमति दी जाती है।

''जो लोग छत्र से आवेदन कर उपनयन, विवाह अथवा पिता की मृत्यु के उपरान्त किये जाने वाले विभिन्न संस्कारों के सम्पादन में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, उन्हें अवसर के अनुरूप समुचित धन दिया जाता है।

''क्योंकि इन छत्रों के लिये अभ्यर्पित भूमि प्रायः अत्यन्त निम्न स्तर की है, अतः ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब वर्षा के अभाव से इस भूमि पर छत्र के व्यय के वहन के लिये पर्याप्त उत्पादन नहीं हो पाता। ऐसे अवसरों पर इन छत्रों से होने वाले महान् पुण्य कार्य में किसी प्रकार का कोई ह्रास न होने देने के प्रति अत्यन्त सचेत रहते हुए मैं उनके घाटे की पूर्ति के लिये राजकीय कोष से पर्याप्त धन भेजता रहता हूँ। इन छत्रों से होने वाले पुण्य कार्य को मैं अपनी राजकीय प्रतिष्ठा से सम्बन्धित उच्चतम गौरव का विषय मानता हूँ। मिस्टर हैरिस को स्मरण होगा कि जब उन्हें 'सूबे' के प्रबन्ध के लिये नियुक्त किया गया था तब विभिन्न अवसरों पर मैं उनसे छत्रों के उपयोग के लिये भारी मात्रा में धान की माँग करने को विवश हुआ था।

'' इन छत्रों की स्थापना कोई आजकल में नहीं की गयी। मेरे पूर्वज प्रतापसिंह ने चालीस वर्ष से भी पूर्व मणमेरकुडी के छत्र एवं कुछ अन्य छत्रों की स्थापना की थी और वे सब छत्र तब से लेकर निरन्तर आश्रय एवं अशन आदि का वितरण करते चले आ रहे हैं। मेरे पिता स्वर्गवासी तुलजाजी राजा ने पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व मीनमेसल, सुलक्षणाम्बालपुरम् और राजामठम् के छत्रों की स्थापना की। अमरसिंह के राज्यकाल में किसी छत्र की स्थापना नहीं हुई और न ही मेरे राज्यसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् कोई नया छत्र बना है। परन्तु चाहे इन छत्रों का प्रारम्भ मुझसे नहीं हुआ तो भी मैं इनको अपने घर का ही अङ्ग मानता हूँ, और मेरे विचार में ये छत्र मेरी गरिमा एवं मेरी प्रसन्नता को बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं। तञ्जावूर राज्य अपने दान-पुण्य के लिये जगत् में प्रसिद्ध है। इसे धर्मराज्य के नाम से जाना जाता है, और इस नाम के माध्यम

से समस्त राज्यों में मुझे जो विशेष सम्मान प्राप्त होता है उसे मैं अपने पद का सब से उच्च गौरव मानता हूँ। मेरे पूर्वजों और मेरे पिता तुलजाजी राजा ने दान-पुण्य के इन कार्यों के लिये जो राजस्व अभ्यर्पित किया है उसे कभी भी राज्य के सकल राजस्व में नहीं गिना गया। मेरे पूर्वज सदा इन दान-पुण्य की संस्थाओं का सम्मान एवं समर्थन करते रहे हैं, मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि मैं भी ऐसा ही करता रहूँ। इन संस्थाओं का प्रबन्ध सर्वदा वरिष्ठ रानी से कनिष्ठ रानी को हस्तान्तरित होता आया है। राजमाता अपनी मृत्यु पर्यन्त इनके प्रबन्ध को देखती हैं और उनकी मृत्यु के उपरान्त यह उत्तरदायित्व उस समय के राजा की पत्नी पर आता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे पूर्वजों के समय से रूढ इस नियम का उल्लङ्घन नहीं किया जायेगा और मुझे अपने राज्यकाल में इस नियम का अतिक्रमण होते देखने का अपमान नहीं झेलना पड़ेगा।

"प्रतापसिंह एवं तुलजाजी राजा ने कोट के विजित होने से पूर्व जो 'परवानगियाँ' दी थीं, उन्हें ढूँढ पाना अब सम्भव नहीं है। कोट के गिरने के पश्चात् नवाब ने राजप्रासाद में लूटपाट मचायी और 'दफ्तर' में उपलब्ध सभी प्रलेख वह उठा ले गया। अतः अब उस तिथि से पहले का कोई प्रलेख शेष नहीं बचा। कोट के पुनःस्थापन के पश्चात् स्वर्गवासी तुलजाजी राजा ने प्राचीन काल से चली आ रही दान-पुण्य की समस्त संस्थाओं के लिये और उनके अपने समय में स्थापित ऐसी संस्थाओं के लिये भी नयी 'परवानगियाँ' प्रदान कीं। वे 'परवानगियाँ' अब मेरे पास उपलब्ध हैं।

"सेतुबावा छत्र के लिये भी नियमित अधिकार पत्र उपलब्ध है।

"इस से अधिक मैं और क्या लिखूँ।"[७]

चीनी बौद्ध विद्वान् हुयेन-त्साङ्ग का राजा हर्षवर्धन के यज्ञ का वृत्तान्त पढ़ चुकने के उपरान्त अब इस बात पर तो कदाचित् कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि तञ्जावूर के राजा सरफोजी महाराजा के इस पत्र की मुख्य भावना ही नहीं, अपितु इसके शब्द एवं शैली भी इतिहास-पुराण से सम्बन्धित दिखती है। इस पत्र में राजा सरफोजी की अङ्ग्रेजों के समक्ष विवशता एवं किञ्चित् दीनता का जो आभास उभरता है वह भी राजा युधिष्ठिर के वनवास के उन प्राथमिक दिनों का

---

[७] सेतुबावा छत्र और अन्य जिन चार छत्रों का नाम इस पत्र में आया है वे सब पट्टुकोट्टै से रामेश्वरम् जाने वाले राजमार्ग पर स्थित हैं। इन पाँचों को इस राजमार्ग पर आज भी पहचाना जा सकता है, परन्तु इन से जुड़े भवनों के अब मात्र अवशेष ही बचे हैं। अभिलेखागार में उपलब्ध तञ्जावूर के राजा के पत्र के अङ्ग्रेजी अनुवाद में इन छत्रों के किञ्चित् विकृत्-से नाम दिये गये हैं। हिन्दी रूपान्तर करते हुए हमने इनके आज प्रचलित नामों का ही उल्लेख किया है।

ही स्मरण कराता है जब वे राजसी बल-वैभव को तो सहजता से ही त्याग आते हैं, परन्तु अन्यों का भरण-पोषण करने के राजसुलभ गौरव को छोड़ने के लिये अपने-आप को कदापि तत्पर नहीं कर पाते।

भारत के कालातीत आदर्श राजाओं की ही भाँति तञ्जावूर के राजा के लिये भी राज्य में स्थित दान-पुण्य की संस्थाएँ उनके सहज गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का ही अङ्ग हैं। वे कहते हैं कि इन संस्थाओं को मैं 'अपने घर का ही अङ्ग मानता हूँ और मेरे विचार में ये छत्र मेरी गरिमा एवं मेरी प्रसन्नता को बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं।' और इससे पहले वे अङ्ग्रेजों को बताते हैं कि जब वर्षा के अभाव से छत्रों से जुड़ी भूमि पर छत्रों के व्यय के वहन के लिये पर्याप्त उत्पादन नहीं हो पाता तब 'ऐसे अवसरों पर इन छत्रों से होने वाले महान् पुण्य कार्य में किसी प्रकार का कोई ह्रास न होने देने के प्रति अत्यन्त सचेत रहते हुए मैं उनके घाटे की पूर्ति के लिये राजकीय कोष से पर्याप्त धन एवं धान्य भेजता रहता हूँ। इन छत्रों से होने वाले पुण्य कार्य को मैं अपनी राजकीय प्रतिष्ठा से सम्बन्धित उच्चतम गौरव का विषय मानता हूँ।' वस्तुतः भारत के कालातीत राजाओं की ही भाँति तञ्जावूर के राजा का मानना है कि दान-पुण्य की विभिन्न संस्थाओं को चलाना ही प्रमुख धर्मकार्य है। इन संस्थाओं के होने से ही कोई राज्य धर्मराज्य कहलाने का अधिकारी होता है और धर्मराज्य का राजा होने से ऊँचा गौरव तो और कोई नहीं होता। अपनी इन मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए राजा सरफोजी लिखते हैं कि 'तञ्जावूर राज्य अपने दान-पुण्य के लिये जगत् में प्रसिद्ध है। इसे धर्मराज्य के नाम से जाना जाता है और इस नाम के माध्यम से समस्त राज्यों में मुझे जो विशेष सम्मान प्राप्त होता है उसे मैं अपने पद का सबसे उच्च गौरव मानता हूँ।' ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के युगयुगीन राजाओं की ही भाँति राजा सरफोजी को पूर्ण विश्वास है कि राजा होने का गौरव, सम्मान, वैभव एवं आनन्द सब इसी एक तथ्य पर निर्भर हैं कि राजपद पर आसीन हो राजा अन्यों का भरण-पोषण करने का स्वर्णिम अवसर पा जाता है।

छत्रों में आने वालों के भोजन एवं उनकी सेवा-शुश्रूषा के प्रबन्धों का जो वृत्तान्त तञ्जावूर के राजा इस पत्र में प्रस्तुत करते हैं, वह इन्द्रप्रस्थ में राजा युधिष्ठिर के घर आने वालों को प्राप्त होने वाले उस आतिथ्य के ही समान दिखता है जिसका अपने वनवास के दिनों में सत्यभामा के समक्ष वर्णन करते हुए द्रौपदी ऐसी भावप्रवण हो उठती हैं,और जब राजा सरफोजी लिखते हैं कि छत्रों में आधी रात के समय घण्टियाँ बजाकर यह घोषणा की जाती थी कि 'जिस किसी को तब तक भोजन प्राप्त न हुआ हो वह आकर अपने भाग का अन्न ले जाये', तब राजा युधिष्ठिर के उस महान् राजसूय यज्ञ का स्मरण सहज ही हो आता है जिसमें निरन्तर पङ्क्तें बैठती चली

जाती थीं और एक लाख की एक पङ्क्त के उठने पर होने वाला दुन्दुभिवादन जहाँ निरन्तर होता चला जा रहा था।

तञ्जावूर् के राजा सरफोजी महाराज का यह पत्र जनवरी १८०१ का है। आज से मात्र दो सौ वर्ष पहले तक भारतवर्ष के शासक इस प्रकार सोचा-लिखा करते थे!

चेङ्गलपेट् : संविभाजन पर आधारित समाज

तञ्जावूर् के राजा अपने राज्य में व्याप्त छत्रों एवं मठों आदि को बचाने का प्रायः अन्तिम प्रयास कर रहे थे। परन्तु उनके काल के भारत में संविभाजन के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति आतिथ्य एवं दान-पुण्य की इन संस्थाओं मात्र में नहीं हुई थी, उस समय की तो सम्पूर्ण समाजव्यवस्था ही संविभाजन के सिद्धान्त के आधार पर ही रची गयी थी और अङ्ग्रेजों के शासन में वह सम्पूर्ण व्यवस्था ही शीघ्र खण्डित होने जा रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहवीं शती तक भारत की राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था का मूल मन्त्र मात्र एक ही था – भूमि से बहुमात्रा में अन्न प्राप्त किया जाये और उस अन्न का ऐसा उदार एवं विस्तृत संविभाजन हो कि ग्राम के समस्त परिवारों का और ग्राम एवं क्षेत्र के सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्धित समस्त संस्थाओं का निर्वाह सौलभ्य एवं मान-मर्यादा के साथ होता रहे।

अङ्ग्रेजों के यहाँ आने से पूर्व तमिलनाडु के मद्रास नगर के आसपास के क्षेत्र में संविभाजन पर आधारित यह सहज भारतीय व्यवस्था किस प्रकार चलती थी, इस विषय में पर्याप्त विशद एवं विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। मद्रास के आसपास के इस क्षेत्र का प्रारम्भिक ब्रितानी प्रलेखों में 'जागीर' के नाम से उल्लेख हुआ है, अङ्ग्रेजों ने अपने पिछलग्गू आर्काट के नवाब से यह क्षेत्र अपनी जागीर के रूप में ही ले लिया था। कुछ दशक पश्चात् मुख्यतः इसी क्षेत्र को लेकर चेङ्गलपेट् जिले का गठन किया गया। यह चेङ्गलपेट् क्षेत्र अङ्ग्रेजों के सीधे प्रशासन के अधीन आने वाले भारतवर्ष के प्रथम क्षेत्रों में से एक है। उस समय तक अङ्ग्रेज प्रशासक भारत की पारम्परिक व्यवस्थाओं के विषय में कुछ विशेष नहीं जान पाये थे। अतः चेङ्गलपेट् क्षेत्र में अपना नया प्रशासनतन्त्र स्थापित करने से पूर्व उन्होंने यहाँ पहले से ही व्याप्त व्यवस्थाओं को जानने-समझने का सघन प्रयास किया। इस उद्देश्य से इस क्षेत्र के प्रायः २००० ग्रामों में वहाँ के सार्वजनिक जीवन के सभी पक्षों का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया। यह सर्वेक्षण १७६७ से १७७४ ईसवी तक सात वर्षों में पूरा हुआ। इस सर्वेक्षण के ताड़पत्रों पर लिखित मूल तमिल विवरण और उन मूल विवरणों के अङ्ग्रेजी सार-सङ्क्षेप दोनों दैववश उपलब्ध हैं। इन तमिल ताड़पत्रों एवं

अङ्ग्रेजी अभिलेखों से उस समय के भारत में व्याप्त संविभाग पर आधारित राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का एक अद्भुत चित्र उभरकर आता है। भारत की सहज संविभागनिष्ठ सार्वजनिक व्यवस्थाओं के इस विशद चित्र के कुछ पक्षों का अवलोकन हम नीचे करेंगे।[८]

ऐसा प्रतीत होता है कि खेतों में अनाज की कटाई-गहाई के साथ ही इस क्षेत्र के ग्रामों में संविभाजन का एक विस्तृत क्रम प्रारम्भ हो जाता था। सर्वेक्षण के प्रलेखों में प्रायः एक सौ ऐसी संस्थाओं एवं सेवाओं का उल्लेख आता है जिनके लिये विभिन्न ग्रामों की उपज में से भाग निकलता था। किसी माध्य ग्राम की उपज में प्रायः तीस ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग तो हुआ ही करता था। इस वृहत् संविभाजन के क्रम में मन्दिर, मठ, छत्र, विभिन्न विषयों के विद्वान्, पाठशालाओं के शिक्षक और वैद्य, सङ्गीतकार एवं नर्तक आदि तो अपना-अपना भाग पाते ही थे, साथ ही सिञ्चाई एवं अनाज की तुलाई आदि जैसी आर्थिक सेवाओं के लिये और ग्राम का बही-खाता रखने एवं बाह्य अथवा आन्तरिक उत्पातों से ग्राम की रक्षा करने जैसे प्रशासनिक कार्यों के लिये भी समुचित भाग निकाल लिया जाता था। किसी ग्राम की उपज में इस प्रकार भाग पाने वाली संस्थाओं एवं सेवाओं में से कुछ तो मात्र उसी ग्राम से ही सम्बन्ध रखती थीं, जैसे ग्राम के स्थानीय मन्दिर की अथवा ग्राम के धोबी अथवा नापित की सेवाएँ तो ग्राम तक या अधिक-से-अधिक आस पड़ोस के दो-चार ग्रामों तक ही सीमित होती थीं। इन स्थानीय संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग भी अपने ग्राम की उपज में ही होता था। दूसरी ओर क्षेत्र के बड़े वैभवशाली मन्दिरों, उच्च विद्वानों, अपनी कला में विलक्षण दक्षता रखने वाले कलाविदों और बड़े-बड़े सेनानायकों आदि का कार्यक्षेत्र निश्चय ही किसी एक ग्राम की सीमाओं से कहीं अधिक व्यापक होता था। अनेक ग्रामों की सेवा करने वाली इन संस्थाओं एवं कार्यभारियों का अनेक ग्रामों की उपज में भाग भी होता था, सर्वेक्षण के प्रलेखों के अनुसार इनमें से कुछ तो सैकड़ों ग्रामों की उपज में भाग पाते थे।

संविभाजन की यह प्रक्रिया चार विशिष्ट चरणों में सम्पन्न होती थी। पहला संविभाग कटाई के समय होता था और दूसरा गहाई के पश्चात् परन्तु अनाज की तुलाई के पूर्व किया जाता था।

[८] अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र की सार्वजनिक व्यवस्थओं के विषय में निम्न जानकारी 'समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास' में किए जा रहे शोध पर आधारित है। चेङ्गलपेट् क्षेत्र के अठारहवीं शती के सर्वेक्षण के अङ्ग्रेजी भाषा में लिखे गये सारांश तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, मद्रास में उपलब्ध हैं। सर्वेक्षण के ताड़-पत्रों पर अङ्कित मूल तमिल विवरण तञ्जावूर में स्थित तमिल विश्वविद्यालय के 'ताड़पत्र पाण्डुलिपि विभाग' में सुरक्षित हैं।

इन दो चरणों में निकाले गये भाग को 'स्वतन्त्रम्' की संज्ञा दी गयी थी, और जैसा कि संविभाजन के इस क्रम से स्पष्ट ही है, विभिन्न संस्थाओं और सेवाओं के लिये जो अनाज 'स्वतन्त्रम्' भाग के रूप में निकाला जाता था उसकी ग्राम के उत्पादन में गिनती ही नहीं होती थी। कटाई के समय संविभाजन के पूर्वनिश्चित नियमों के अनुरूप एक निश्चित संख्या में गट्ठरों के कटने के उपरान्त अगला गट्ठर 'स्वतन्त्रम्' भाग के लिये पृथक् कर दिया जाता था। इसी प्रकार अनाज की तुलाई के समय प्रत्येक 'कलम्' भर अनाज मापने के पश्चात् कुछ निश्चित 'मरक्काल्' एवं 'पडि' भर अनाज 'स्वतन्त्रम्' भाग के रूप में निकाल दिय जाता था।[९] इस प्रकार 'स्वतन्त्रम्' भाग निकालने के उपरान्त बचा शेष अनाज ही वस्तुतः माप में आता था।

तीसरा एवं चौथा संविभाजन मापे गये उत्पादन में से होता था। तीसरा भाग मापे गये सकल उत्पादन से निकलता था और चौथा उपज के केवल राजस्व अंश में से। इन दो चरणों पर निकाले गये भाग 'मेरै' कहलाते थे। विभिन्न संस्थाओं एवं कार्यभारियों के लिये निकाले गये ये 'स्वतन्त्रम्' और 'मेरै' भाग ग्राम की व्यवस्था में उन संस्थाओं एवं कार्यभारियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकारों को स्थापित करते थे। 'स्वतन्त्रम्' भाग प्रायः ग्राम की 'अपनी' संस्थाओं और 'अपने' कार्यभारियों के लिये ही निकलता था, और 'मेरै' भाग उन संस्थाओं और कार्यभारियों के लिये निकलता था जिनका कार्यक्षेत्र ग्राम की सीमाओं से परे किसी बड़े क्षेत्र तक व्याप्त होता था। इस प्रकार क्षेत्र के बड़े मन्दिर, ऊँचे विद्वान्, क्षेत्रीय स्तर के प्रशासनिक कार्यभारी और क्षेत्र की राजनैतिक सत्ता के वाहक जन अपनी सेवाओं से लाभान्वित होने वाले ग्रामों की उपज में 'मेरै' भाग ही पाते थे। ग्राम का स्थानीय मन्दिर और ग्राम ज्योतिषी, शिक्षक, वैद्य, नापित एवं धोबी आदि अपने ग्राम की उपज में से 'स्वतन्त्रम्' भाग के अधिकारी होते थे। ग्राम के स्थानीय प्रशासनिक एवं राजनैतिक कार्यभारी प्रायः दोनों भाग पाया करते थे। इस प्रकार ग्राम का बही-खाता रखने वाला 'कनक्कपिळ्ळै', ग्राम की सुरक्षा टुकड़ियों का नायक 'पालयक्कारर्' और गाँव के प्रमुख गृहस्थ 'काणियाच्चिकारर्' आदि ग्राम की उपज में 'स्वतन्त्रम्' और 'मेरै' दोनों भागों के अधिकारी हुआ करते थे।

---

[९] इस क्षेत्र में अनाज तोला नहीं अपितु सुनिश्चित आकार एवं आयतन के डिब्बों में मापा जाता था। माप की मूल इकाई 'पडि' थी, आठ 'पडियों' का एक 'मरक्काल्' बनता था और १२ 'मरक्काल्' की एक 'कलम्'। तमिल किसानों के घरों और इस क्षेत्र के मन्दिरों में मानक 'पडि', 'मरक्काल्' एवं 'कलम्' के आकार एवं आयतन के डिब्बे अभी भी मिल जाते हैं। चेङ्गलपेट् क्षेत्र की 'पडि' में १.३ किलोग्राम के आसपास धान आता था। अतः 'कलम्' का माप १२५ किलोग्राम धान के आसपास बैठता था। इस सन्दर्भ में देखिये, *टेबलस आफ वेटस एण्ड मेजर्स एण्ड क. एण्ड करेक्ट बैट्टी टेबलस मेड यूस आफ एट द डिफरेंट पोरटस आफ ईस्ट इण्डीस*, लन्दन १७७८, और *मद्रास अलमानाक*, मद्रास १७९५।

संविभाजन के इस वृहद् एवं अत्यन्त सुनिश्चित क्रम में विभिन्न संस्थाओं एवं सेवाओं के लिये जो भाग निकलता था वह किसी प्रार्चीन विधान की मात्र औपचारिक अथवा साङ्केतिक पूर्ति जैसा नहीं हुआ करता था। साधारणतः किसी ग्राम की उपज का प्रायः ३० प्रतिशत अंश संविभाग के विभिन्न चरणों में निकल जाता था और इस संविभाग से विभिन्न संस्थाओं और सेवाओं के भाग में उपज का जो अंश आता था वह उन संस्थाओं एवं सेवाओं के समुचित प्रबन्ध एवं वहन के लिये वाञ्छित साधनों के अनुरूप ही होता था। संविभाग की यह प्रक्रिया वस्तुतः किसी आधुनिक राज्य की 'बजट'-निर्धारण की प्रक्रिया के समकक्ष ही दिखायी देती है। इस वृहत् संविभाग के माध्यम से प्रत्येक ग्राम अपने सहज सार्वजनिक जीवन के वहन के लिये आवश्यक संस्थाओं एवं सेवाओं के लिये समुचित साधनों का नियोजन करता था और साथ ही ग्राम की सीमाओं से परे के बड़े क्षेत्र तक व्याप्त वृहत्तर व्यवस्थाओं के वहन में अपना अंशदान भी जोड़ता था। परन्तु संविभाजन के माध्यम से 'बजट'-निर्धारण की यह विलक्षण-सी दिखती प्रक्रिया निश्चय ही एक विशिष्ट प्रकार के तन्त्र को परिभाषित करती है। सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पक्षों को व्यवस्थित करने के इस विशिष्ट भारतीय तन्त्र में ग्राम अपने-आप में एक स्वतन्त्र राज्य-सा ही दिखता है, यह ग्रामराज्य स्वयं अपने ही उद्यम से अपनी सहज रीति-नीति और सुदीर्घ काल से प्रतिष्ठित अपनी ही व्यवस्थाओं के आधार पर अपने सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक कार्यों का प्रबन्ध करता है, और अपनी उपज में से इन सब सार्वजनिक कार्यों के लिये समुचित साधनों का नियोजन करता है। अपने भीतर की सभी व्यवस्थाओं का स्वयं संयोजन करने वाला यह ग्रामराज्य अपनी सीमाओं से परे तक व्याप्त क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के लिये भी समुचित भाग निकाल कर उन वृहत्तर व्यवस्थाओं का भी संयोजक एवं भर्ता हो जाता है। इस प्रकार इस सहज भारतीय तन्त्र में ग्रामराज्य वृहत्तर सार्वजनिक तन्त्र की मूल इकाई ही नहीं होता, वह उस वृहत् तन्त्र का कर्ता ही है। इस तन्त्र में ग्रामराज्य से ही वृहत्तर राज्य परिभाषित होता है और ग्रामराज्य से ही वह वृहत्तर राज्य संरक्षण एवं भरण पाता है।

ग्राम की उपज में से विभिन्न संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग निकालने के अतिरिक्त अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में संविभाजन की एक अन्य प्रक्रिया भी प्रचलित थी। उपज में भाग पाने वाली संस्थाओं और कार्यभारियों में से कुछ ग्राम की जोत के कुछ विशिष्ट भागों का राजस्व पाने के भी अधिकारी होते थे। भूमि के राजस्व अधिकार के संविभाजन की इस व्यवस्था को 'मान्यम्' कहा जाता था। अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् की प्रायः एक चौथाई भूमि 'मान्यम्' के रूप में संविभाजित थी। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं उस समय खेती की उपज का प्रायः एक-तिहाई भाग ग्राम-समाज के विभिन्न सार्वजनिक कार्यों के लिये निकाल लिया जाता था।

उन सब कार्यों का प्रबन्ध करने और उनके लिये उपज का एक-तिहाई भाग नियुक्त करने के उपरान्त अन्य किसी राजस्व अंश का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता, और ऐसा मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सहज भारतीय राज्य व्यवस्था में भूमि की उपज में राजस्व का अंश क्षुद्र ही हुआ करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के कुछ भाग को 'मान्यम्' में पाने वालों के लिये इस अधिकार का आर्थिक महत्त्व प्रायः नगण्य ही था। 'स्वतन्त्रम्' एवं 'मेरै' के रूप में मिलने वाले उपज के भागांश इस दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दिखते हैं।

'मान्यम्' की व्यवस्था से कदाचित् एक सर्वथा अन्य ही प्रकार के संविभाग का सम्पादन होता था। भूमि के राजस्व में भाग रखने का अर्थ तो राज्य की सम्प्रभुता में भाग पाना ही होता है। और राज्य-समाज की सम्प्रभुता को अनेक स्तरों एवं अनेक कुल-परिवारों में संविभाजित किये रखना आदर्श भारतीय राज्यव्यवस्था में सर्वदा अभीष्ट माना गया है। भारत में सदा से यह माना जाता रहा है कि जब रामराज्य की स्थापना होती है तब राज्य की सम्प्रभुता में भाग रखने वाले 'राजकुल' शतगुण संवृद्ध हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मान्यम्' व्यवस्था के माध्यम से अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में अनेक संस्थाएँ एवं अनेक परिवार क्षेत्र की सम्प्रभु सत्ता में भाग रखने के अधिकारी हो गये थे।

उपज एवं राजस्व के अधिकार के इस वृहत् संविभाग में किसानों, वणिकों एवं बुनकरों को छोड़कर क्षेत्र के प्रायः सभी परिवारों एवं सभी संस्थाओं का भाग हुआ करता था। किसानों, वणिकों एवं बुनकरों को छोड़कर समाज के सब लोग क्षेत्र की आर्थिकता एवं सम्प्रभुता में अधिकार रखते थे। परन्तु वार्ता के वाहक किसान, वणिक और बुनकर, और विशेषतः किसान तो इस सारे संविभाजन के लिये आवश्यक उत्पादन के कर्ता ही थे। अपने एवं अन्यों के भरण के लिये समुचित उत्पादन करने वाले, अपने व अन्य सब के भर्ता, ये किसान एवं वार्ता के वहन में लगे अन्य परिवार तो अपने-आप में सम्प्रभु थे ही।

उपभोग से पूर्व संविभाग करने के और स्वयं अपना पोषण करने से पूर्व अन्य सब के भरण की व्यवस्था करने के सनातन भारतीय विचार को अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में इस प्रकार साकार किया गया था। अपनी सहज व्यवस्थाओं के अनुरूप चल रहे तब के भारत में सब के भरण एवं सब की मान-मर्यादा के संरक्षण का ऐसा प्रबन्ध हुआ करता था।

अन्नबाहुल्य

जिस वृहत् संविभाजन का ऊपर वर्णन हुआ है वह किसी ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकता है जहाँ संविभाजन की इस उदारता के अनुरूप विपुल मात्रा में अन्न उपजाया जाता हो।

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् से सम्बन्धित ताड़पत्रों एवं प्रलेखों में कृषि के क्षेत्र में ऐसे अत्यन्त समृद्ध समाज का ही चित्रण हुआ है। इन प्रलेखों में उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर चेङ्गलपेट् क्षेत्र की प्रायः २ लाख 'काणि' भूमि पर होने वाले कृषि उत्पादन का पूर्ण विश्वसनीयता के साथ आकलन किया जा सकता है। हमारी गणना है कि १७६७ से १७७४ ईसवी के काल में चेङ्गलपेट् क्षेत्र की इस २ लाख काणि भूमि पर प्रायः २० लाख कलम् अनाज का माध्य वार्षिक उत्पादन होता था। इस उपज में तीन-चौथाई से अधिक अंश धान का था और शेष एक-चौथाई से कुछ अल्प मोटे अनाजों का। इस भूमि की उपज पर कोई ४६ सहस्र कुटुम्ब निर्भर करते थे।

आज प्रचलित परिमाणों के अनुसार एक काणि आधा हेक्टेयर भूमि के तुल्य बैठती है और चेङ्गलपेट् क्षेत्र की कलम् प्रायः १२५ किलोग्राम धान अथवा अन्य अनाजों के तुल्य। अतः उपरोक्त आँकड़ों को आज के परिमाणों में रखा जाये तो अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में प्रत्येक कुटुम्ब के लिये प्रायः ५.५ टन अनाज का वार्षिक उत्पादन होता दिखायी देता है। आज के समान ही तब भी चेङ्गलपेट् के कुटुम्ब में ४-५ सदस्य ही हुआ करते थे। पाँच सदस्यों के कुटुम्ब के लिये ५.५ टन अनाज की वार्षिक उपज आज के समृद्धतम विश्व के स्तर के तुल्य है। आज के भारत में तो पाँच व्यक्तियों के कुटुम्ब के लिये एक टन अनाज की माध्य वार्षिक उपलब्धि भी कठिनाई से ही हो पाती है।

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में भूमि की माध्य उत्पादकता तो बहुत ऊँची नहीं दिखायी देती। कुल २ लाख काणि भूमि पर २० लाख कलम् के उत्पादन का अर्थ है कि तब वहाँ १० कलम् प्रति काणि अथवा २.५ टन प्रति हेक्टेयर की माध्य उपज होती थी। भूमि की उत्पादकता का यह स्तर आज के भारत की माध्य उत्पादकता से तो निश्चय ही ऊपर बैठता है, परन्तु पूर्वकाल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की उत्पादकता के जिस उच्च स्तर के प्रमाण मिलते हैं उस की तुलना में तो अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र की उत्पादकता अल्प ही थी। चेङ्गलपेट् वस्तुतः तटीय क्षेत्र है और यहाँ की भूमि की सहज-स्वाभाविक उर्वरता विशेष नहीं है। अठारहवीं शती में अत्यन्त सावधानी एवं परिश्रम से पानी को सहेजकर क्षेत्र के अनेक छोटे-छोटे खण्डों में उत्कृष्ट उत्पादन कर लिया जाता था, और उन खण्डों की अत्यन्त उच्च उत्पादकता से ही इस अपेक्षाकृत कठिन क्षेत्र का माध्य उत्पादन २.५ टन प्रति हेक्टेयर के स्तर पर पहुँच पाता था।

चेङ्गलपेट् की तुलना में कावेरी नदी से सिञ्चित तञ्जावूर क्षेत्र की सहज उर्वरकता कहीं ऊँची है। तञ्जावूर क्षेत्र के ९०० से १२०० ईसवी के शिलालेखों में वहाँ प्रति 'वेलि' भूमि की उपज से १०० कलम् का और कहीं-कहीं तो १२० कलम् तक का राजस्व अंश पाये जाने का उल्लेख हुआ है। तञ्जावूर की एक 'वेलि' चेङ्गलपेट् की ५ काणि और आज के २.५ हेक्टेयर भूमि के

तुल्य होती थी। तञ्जावूर की कलम् चेङ्गलपेट् की कलम् से छोटी हुआ करती थी। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि तञ्जावूर की दो कलमें चेङ्गलपेट् की एक कलम् के तुल्य बैठती थीं। उपरोक्त शिलालेखों का विश्लेषण करते हुए बहुधा इतिहासकार तञ्जावूर में तब प्रचलित राजस्व अंश को कुल उपज के एक-चौथाई के तुल्य मानते हैं। परन्तु भारत के प्रामाणिक धर्मशास्त्रों में उपज के छठे भाग से अधिक राजस्व अंश प्राप्त करने की अनुशंसा नहीं हुई। अतः यह असम्भव ही दिखता है कि तञ्जावूर के राजा अपने शिलालेखों में छठे भाग से अधिक राजस्व अंश पाने का उल्लेख करने का साहस कर पाये हों। अतः जिस भूमि से १०० से १२० कलम् प्रति वेलि तक का राजस्व अंश पाने का उल्लेख इन शिलालेखों में आया है उसकी सकल उपज ६०० से ७२० कलम् प्रति वेलि अथवा १५ से १८ टन प्रति हेक्टेयर रही होगी।[१०]

तञ्जावूर के आसपास के क्षेत्रों से कुछ ऐसे शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें भूमि से प्राप्त राजस्व अंश का नहीं अपितु भूमि के सकल उत्पादन का ही उल्लेख है। दक्षिण आर्काट के एक ग्राम से सम्बन्धित ११०० ईस्वी के एक शिलालेख के अनुसार उस समय वहाँ भूमि की उपज ५८० कलम् प्रति वेलि अथवा १४.५ टन प्रति हेक्टेयर थी। और रामनाथपुरम् क्षेत्र से सम्बन्धित १३२५ ईस्वी के एक शिलालेख में वहाँ की भूमि पर ८०० कलम् प्रति वेलि अथवा २० टन प्रति हेक्टेयर तक उपज होने का उल्लेख है।[११]

ब्रितानी प्रशासन के प्रारम्भिक काल में अङ्ग्रेज पर्यवेक्षक देश के विभिन्न भागों से तञ्जावूर, दक्षिण आर्काट एवं रामनाथपुरम् के शिलालेखों में उल्लिखित उपज जितनी ही ऊँची उपज का वर्णन करते हैं। अलाहाबाद क्षेत्र से १८०३ ईस्वी में एक यूरोपीय पर्यवेक्षक ७.५ टन प्रति हेक्टेयर गेहूँ की उपज का वर्णन करता है,[१२] और १८०७ का एक ब्रितानी प्रशासक कोयम्बतूर में उस समय धान की उपज १३.० टन प्रति हेक्टेयर के आसपास आँकता है।[१३]

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में पानी एवं उर्वरकता को सहेज-सहेज कर प्राप्त की गयी अपेक्षाकृत उपजाऊ भूमि पर २.५ टन प्रति हेक्टेयर की उस क्षेत्र की माध्य उत्पादकता से कहीं

---

[१०] उपज के राजस्व अंश को एक चौथाई जितना ऊँचा और 'कलम्' के माप को अति न्यून आँककर कतिपय इतिहासकार इन शिलालेखों से ४-५ टन प्रति हेक्टेयर के स्तर की उत्पादकता का आकलन करते हैं। उदाहरणतया देखिये, *कैम्ब्रिज एकानामिक हिस्टरी आफ इण्डिया*, दिल्ली १९८४, में एल.बी. अलायेव का लेख, खण्ड १, पृ.२३१-२।

[११] *कैम्ब्रिज एकानामिक हिस्टरी आफ इण्डिया*, दिल्ली १९८४, में एल.बी. अलायेव का लेख, उपरोक्त।

[१२] *एडिनबर्ग रिव्यू*, खण्ड ४ अङ्क ८, जुलाई १८०४, में पृ. ३२३ पर उद्धृत डा. टेनेन्ट की कृति *इण्डियन रिक्रिएशनस*, १८०३ के अंशों से।

[१३] देखिये, आर. रत्नम, *एग्रीकल्चरल डिवेलपमेंट इन मद्रास स्टेट परायर टु १९००*, मद्रास १९६६, पृ. ८७।

अधिक उपज होती थी। क्षेत्र की सर्वोत्तम भूमि पर ३५ कलम् प्रति काणि अथवा ९ टन प्रति हेक्टेयर तक उत्पादन होता था। ५००० कलम् प्रति वर्ष से अधिक अन्न उपजाने वाले क्षेत्र के ६५ ग्रामों की माध्य उत्पादकता १८ कलम् प्रति काणि अथवा ४.५ टन प्रति हेक्टेयर बैठती थी। इन ६५ ग्रामों में क्षेत्र की कुल जोत का छठा भाग और कुल उपज का तीसरा भाग आ जाता था।

विपुल मात्रा में अन्न उपजाने और उसका उदारता के साथ वृहत् संविभाजन करने के सनातन भारतीय अनुशासन का पालन अपने देश में ऐसी श्रमसाध्य सम्पूर्णता के साथ हुआ करता था। भारत ने 'अन्नं बहु कुर्वीत' और 'न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत' के श्रुतिसम्मत व्रतों के अनुरूप व्यवस्था करना कदाचित् बहुत पहले सीख लिया था और अभी कुछ सौ वर्ष पूर्व तक हम उन व्रतों के अनुरूप जीवन जीते आये हैं।



उपसंहार २

अट्टशूला जनपदाः

अनुशासन से भ्रष्ट होना

हम स्मृति को सहेजते रहे

कोई बहुत पुरानी बात नहीं है। तब जब माँ रोटी बनाने बैठतीं तो हम घर के सब बच्चे अँगीठी के इर्द-गिर्द जुड़ जाया करते थे। माँ आटे का पहला पेड़ा निकालतीं, उसे किञ्चित् घी के साथ छुआतीं और हम में से किसी एक को थमा देतीं। जिस बच्चे को वह पेड़ा मिलता वह दौड़ा-दौड़ा जाता और गली में किसी गाय को ढूंढकर आटे का वह पहला पेड़ा उसके मुँह में डाल आता। इस प्रकार गाय का भाग निकालने के उपरान्त ही माँ अँगीठी पर तवा चढातीं। फिर वे आटे का एक छोटा-सा पेड़ा लेतीं और उसे घी में डुबो कर उससे गर्म तवे की अच्छी प्रकार लिपायी करतीं। घी और तवे की कालिस से भरा वह आटे का छोटा-सा पेड़ा वहीं तवे पर ही एकओर रख दिया जाता और अन्ततः वह चींटियों एवं कव्वों के काम आता। अगले पूरे पेड़े को माँ रोटी के आकार में बेलकर तवे पर डालतीं, परन्तु इस पहली रोटी को वे एक ही ओर से पकाती थीं। उस अधपकी रोटी को तवे से उतारकर वे उस पर थोड़ा-सा सरसों का तेल लगातीं और हममें से किसी अन्य बच्चे को पकड़ा देतीं, और हम भागकर वह रोटी गली में घूमते किसी कुत्ते को खिला आते। अगली दो रोटियाँ पकाकर माँ उन्हें उस दिन बनी दाल अथवा भाजी की एक कटोरी के साथ गुरुद्वारे के लिये अलग रख देतीं। दोपहर में कभी गुरुद्वारे के भाई की पत्नी, भज्ञानी आतीं और गुरुद्वारे के भाग की वह रोटियाँ ले जातीं। हमारे छोटे-से नगर में भी प्रायः चालीस घरों से उन्हें इस प्रकार गुरुद्वारे के भाग का अन्न प्राप्त होता होगा और उतने अन्न से उनके कुटुम्ब का और गुरुद्वारे में आने वाले कतिपय अतिथियों का निर्वाह हो ही जाता होगा।

वे बचपन के दिन थे और तब भूख कुछ अधिक ही तीखी हुआ करती थी। परन्तु हम कितना

भी भूख-भूख चिल्लायें, माँ के गाय, कव्वे, कुत्ते और गुरुद्वारे का भाग निकालने की प्रतीक्षा तो हमें करनी ही पड़ती थी। और पेट में चाहे कैसे चूहे कूद रहे हों, अन्यों का भाग निकलने की इस प्रकार प्रतीक्षा करना कुछ भला ही लगता था। हमारे छोटे-छोटे हाथों से आटे का पेड़ा लेती हुई गाय की जीभ प्रायः हमें छू जाती, और गाय की वह ऊष्ण एवं सिक्त छुहन गाय का आशीर्वाद पाने जैसा आभास छोड़ जाती। गली में घूमते किसी कुत्ते को विशेषतः उसके लिये पकायी गयी और तेल से संस्कृत की गयी रोटी खिलाकर मन गहन स्नेह की भावना से भर उठता। और जब गुरुद्वारे की भञ्जानी गुरुद्वारे के भाग का अन्न लेने आतीं तो ऐसा प्रतीत होता मानो पूरा घर और घर का सारा अन्न ही गुरुओं के प्रसाद से धन्य हो गया हो।

हमारा घर एक साधारण-सा घर था। सुबह और शाम के खाने में हमारे यहाँ रोटी और कोई एक दाल-भाजी ही बना करती थी। परन्तु हमारे उस सामान्य-से घर से भी कुछ-न-कुछ अन्न तो बँटता ही रहता था। दिन में प्रायः चार-पाँच भिखारी आकर पुकार लगाते थे, और द्वार पर आकर इस प्रकार पुकार लगाने वाले प्रत्येक भिखारी को एक मुट्ठी आटा तो सर्वदा दिया ही जाता था। भिखारियों को आटा देने का यह काम भी बहुधा हम बच्चों के ही भाग में आता था, और आटे के बर्तन में पूरा हाथ सानकर एक मुट्ठी आटा निकालने और उसे द्वार पर खड़े भिखारी की झोली में डालने का अपना ही एक विशिष्ट आनन्द हुआ करता था। गुरुद्वारे की भञ्जानी के ही समान बाहर गली को बुहारने वाली 'ताई' भी अपने भाग की रोटी लेने आती थीं और उसे भी कभी-कभार रोटी के साथ थोड़ी-सी दाल-भाजी मिल जाया करती थी। हम बच्चों को ऐसे प्रतीत होता था मानो घर में सारा दिन अन्न का सहज प्रवाह चल रहा हो। वैसे माँ इस प्रवाह को बनाये रखने के प्रति विशेष सजग ही रहती थीं, अन्न के बर्तन का खाली होना या रोटियों के डिब्बे का रीता रह जाना उन्हें किसी अकल्पनीय अपशकुन-सा लगता था। और, वे सर्वदा यह सुनिश्चित किया करती थीं कि रात में जब सब का भोजन हो चुके तब भी डिब्बे में एक-आध रोटी तो शेष बची ही रहे।

जैसे-जैसे हम बड़े होते गये वैसे-वैसे अन्न का यह प्रवाह कुछ थमने-सा लगा। गुरुद्वारे की भञ्जानी को घर-घर जाकर अन्न एकत्र करने में कुछ सङ्कोच-सा होने लगा, गुरुद्वारे का भाग पैसों में पाना उन्हें अधिक उपयुक्त दिखायी देने लगा। गली को बुहारने वाले ताई को प्रति दिन एक रोटी देना भारी पड़ने लगा, उसके स्थान पर उसको मिलने वाले नगण्य-से वेतन में किञ्चित् वृद्धि कर दी गयी। परन्तु उस वृद्धि के पश्चात् भी हमारे घर से उसे मिलने वाला वेतन प्रतिदिन एक रोटी के मूल्य के तुल्य तो नहीं ही बैठा करता था। द्वार पर आने वाले भिखारियों की झोली में एक मुट्ठी आटा डालने के स्थान पर उन्हें पाँच-दस पैसे का सिक्का दिया जाने लगा। कुछ समय

पाकर वह तुच्छ सिक्का भी कठिन लगने लगा और भिखारियों का आना प्रायः रुक-सा ही गया। जब हम पहले स्कूल और आगे कालेज की ऊँची शिक्षा पाकर आधुनिक काल का आचार-व्यवहार सीखने लगे तब तो हमें गाय, कव्वे और कुत्ते के लिये रोटी निकाला जाना दुर्लभ अन्न को व्यर्थ फेंकने-सा ही लगने लगा, और अन्न के बर्तन को सर्वदा भरा रखने और अन्न का प्रवाह सदा बनाये रखने के माँ के आग्रह को हम पुरातनपन्थी भावुकता की संज्ञा देने लगे।

पिछले तीस-चालीस वर्षों में काल में ऐसा परिवर्तन आ गया है। अपने बचपन में हम माँ को गाय, कव्वे, कुत्ते और गुरुद्वारे का जो भाग निकालते हुए देखते थे वह अपेक्षाकृत अच्छे समय में भारतीय गृहस्थ जो वृहद् संविभाजन किया करते थे उसका अत्यन्त सङ्क्षिप्त रूप ही था। हमें खिलाने से पहले माँ का अन्यों के लिये वह दो-चार रोटी का भाग निकालना मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान जैसा तो नहीं था, न ही माँ के उस किञ्चित् संविभाजन की अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में होने वाले वृहद्-विस्तृत संविभाग से कोई तुलना की जा सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी उदार भरणवृत्ति से आप्लावित कर देने वाले वैसे किसी अनुष्ठान का निर्वाह कर पाने का सामर्थ्य तो भारत के लोग कदाचित् दीर्घ काल से खो चुके हैं। परन्तु प्रायः वर्तमान काल तक भारत के साधारण लोग स्वयं खाने से पहले अन्यों को खिलाने के सनातन भारतीय अनुशासन को किसी-न-किसी स्तर पर निभाते ही आये हैं। भारत के अपेक्षाकृत साधन-सम्पन्न सम्भ्रान्त समाज ने तो भारतीयता को प्रायः परिभाषित-सा करने वाले उस मूलभूत अनुशासन की स्मृति भी कदाचित् खो दी है, पर भारत के साधारण लोगों ने अब तक उस स्मृति को बनाये ही रखा है। अपनी स्मृति के उस अनुशासन का उस अनुशासन में निहित सहज भव्यता एवं उदारता के साथ निर्वाह करने की क्षमता चाहे वे काल के प्रवाह में कहीं खो बैठे हों, परन्तु उस अनुशासन की स्मृति को तो वे अपनी अमूल्य धरोहर-सा ही मानते आये हैं, उस स्मृति को सर्वदा श्रद्धापूर्वक सहेजते ही रहे हैं।

अन्नानुशासन को छिन्न करने के प्रयास

अन्नानुशासन का उपहास

भारत में ब्रितानी प्रभुता की स्थापना के प्रारम्भिक काल में यहाँ आने वाले ब्रितानी प्रशासकों एवं अन्य यूरोपीय पर्यवेक्षकों को घर-द्वार पर अथवा ग्राम में आने वाले प्रत्येक याचक का समुचित आतिथ्य करने की सहज भारतीय वृत्ति का अनुभव पुनः पुनः होता है। वे इस वृत्ति को देखने-समझने का प्रयास करते हैं, और अपने लेखन में वे प्रायः निन्दा एवं उपहास की भाषा में ही इसका वर्णन करते हैं।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

उस प्रारम्भिक काल में भारत आने वाले यूरोपीय पर्यवेक्षकों में एब्बे दुबोय का नाम अनेक लोग जानते हैं। फ्रांस देश के ईसाई प्रचारक एब्बे दुबोय १७९२ ईसवी में भारत आये और भारतीयों की सुविख्यात आतिथ्यवृत्ति का लाभ उठाते हुए ३१ वर्षों तक मैसूर प्रदेश के गाँवों में रहते रहे। भारत के ग्रामवासियों के आचार-व्यवहार एवं ग्राम के आन्तरिक जीवन को भीतर से जानने के उद्देश्य से वे मैसूर के ग्रामवासियों के से कपड़े पहनकर उन्हीं में से एक होने का दिखावा करते रहे। यहाँ रहते हुए उन्होंने 'हिन्दुओं के आचार-व्यवहार एवं रीति-नीति' के विषय पर प्रायः इसी शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। भारतीय ग्रामवासियों के आन्तरिक जीवन के इस दम्भपूर्ण अवलोकन के लिये उन्हें आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र का पितामह कहा जाता है और स्वतन्त्र भारत के आज के विद्वान् समाजशास्त्री भी एब्बे दुबोय को इस प्रकार सम्मानित करने में कोई सङ्कोच नहीं करते।

भारत के लोगों के आचार-व्यवहार का वर्णन करते हुए एब्बे दुबोय भोजन पर बैठने से पूर्व अन्यों का भाग निकालने के भारतीय अनुशासन का पर्याप्त विस्तार से विवेचन करते हैं। वे लिखते हैं कि कैसे सामान्य गृहस्थ भोजन करने से पहले विस्तृत अनुष्ठान का सम्पादन करता है, कैसे वह भोजन के समय स्वच्छता एवं निर्मलता बनाये रखने का प्रयास करता है, कैसे वह स्वयं भोजन ग्रहण करने से पहले देवों, पितरों एवं भूतों का भाग निकालता है, और कैसे प्रत्येक गृहस्थ की यह इच्छा रहती है कि भोजनकाल पर उसके घर में अधिक-से-अधिक अतिथि उपस्थित हों। एब्बे भृत्यों को सम्मानपूर्वक भोजन करवाने की भारतीय वृत्ति का विशेष उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि, "बचा हुआ भोजन कभी सहेजकर नहीं रखा जाता, ...न ही ऐसा अन्न भृत्यों को परोसा जाता था। ...भृत्य होने से तो कोई छोटा नहीं होता। भृत्य सामान्यतः भर्ता के साथ ही खाता है, और उनके खाने के उपरान्त जो शेष बचता है वह तो दरिद्रों में भी नहीं बाँटा जा सकता, ...दरिद्रों को दिया जाने वाला भात ...अलग से पकाया जाता है।"[१]

एब्बे को भारत के लोगों का यह अनुष्ठान, यह आचार-व्यवहार एवं यह अनुशासन नितान्त अभद्र लगता है। अपने सारे लेखन में वे भारतवासियों के आचार-व्यवहार का उपहास-सा उड़ाते हुए ही दिखते हैं। ऊँची विद्वत्ता में रुचि रखने वाले एब्बे साधारण जनों के अपने से भिन्न लोगों के प्रति सहज पूर्वाग्रहों से कुछ विशेष अभिशप्त दिखते हैं। परन्तु कदाचित् उन्हें यह चिन्ता भी सता रही है कि दिन प्रति दिन के विभिन्न कर्मों में इस प्रकार के विस्तृत अनुशासन का निर्वाह करने वाले लोगों की अन्य धर्मों के प्रति कोई रुचि कैसे हो सकती है? ऐसे अनुशासन का पालन

---

[१] एब्बे जे.ए. दुबोय, *हिन्दु मैनर्स, कस्टमस एण्ड सेरेमनीस*, तीसरा संस्करण, आक्सफोर्ड १९०६, पृ.१८४।

करने वाले लोगों को तो अन्य धर्मावलम्बी लोग और विशेषतः उस समय के यूरोपीय किसी असभ्य बर्बर जाति के लोगों से ही दिखते होंगे। ऐब्बे जिस यूरोपीय सभ्यता एवं ईसाई धर्म को भारतीय सभ्यता एवं धर्म की तुलना में अत्यन्त परिष्कृत मानने का दम्भ करते थे, उस धर्म एवं सभ्यता का ऐसे अनुशासननिष्ठ लोगों पर भला क्या प्रभाव हो सकता था? भारतवासियों के और विशेषतः अपनी सनातन सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़े साधारण भारतीय गृहस्थ के जीवन के सब कार्यों में सहज अनुशासन को देखकर ही कदाचित् एब्बे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि विजेता यूरोपीय जाति के धर्म को स्वीकार करने के स्थान पर भारत के लोग असभ्य एवं धर्मविहीन रहना ही कहीं अधिक वरणीय मानेंगे। अपने साथी ईसाई धर्मप्रचारकों को निराश एवं खिन्न कर देने वाली भाषा में लिखते हुए एब्बे दुबोय आग्रहपूर्वक घोषणा करते हैं कि, ''दोनों (यूरोपीय और भारतीय) जातियों के लोगों में आपसी मेलजोल के कभी भविष्य में मैत्री एवं आत्मीयतापूर्ण होने पर यदि इस देश के धर्म एवं आचार में कोई परिवर्तन होने लगा तो भी वे ईसाई धर्म को अपनाने के लिये अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ेंगे, अपितु वे नितान्त नास्तिक ही हो जायेंगे, (और वह स्थिति मेरे विचार में मूर्तिपूजक होने से सहस्रगुणा निकृष्ट होगी) ...।''[२]

समाजतन्त्र का विखण्डन

भारत आने वाले ब्रितानी प्रशासकों के मन में भी भारतीय सभ्यता की मूल वृत्तियों के प्रति ऐसा ही विद्वेष भरा हुआ था। परन्तु भारत में व्याप्त आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं के प्रति शङ्का का भाव रखने का उनके पास एक नितान्त व्यावहारिक कारण भी था। जैसे कि हम पूर्ववर्ती अध्याय में देख चुके हैं, संविभाग के उपरान्त ही उपभोग में प्रवृत्त होने के सनातन भारतीय सिद्धान्त का निर्वाह हमारे यहाँ लोकों की व्यक्तिगत पुण्यवृत्ति मात्र पर नहीं छोड़ दिया गया था, अपितु इस सिद्धान्त को समाज की विभिन्न सार्वजनिक व्यवस्थाओं में प्रतिष्ठापित कर पूरा समाजतन्त्र ही संविभाग के आधार पर गढ़ा गया था। अतः बहुदा ग्रामों की उपज का पर्याप्त बड़ा भाग आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं और अन्य सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिये रूढ परम्पराओं के अनुरूप नियोजित हो जाता था। उपज के बड़े भाग के इस प्रकार पहले से ही सार्वजनिक कार्यों के लिये समर्पित हो जाने के उपरान्त ब्रितानी प्रशासन के लिये पर्याप्त राजस्व जुटा पाने की सम्भावना ही नहीं बच रहती थी। अतः यह कदाचित् बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि ब्रितानी प्रशासकों को भारत के लोगों की आतिथ्य एवं संविभाजन की वृत्ति किसी घिनौने व्यसन-सी लगने लगी।

---

[२] उपरोक्त में सम्पादक की प्रस्तावना में उद्धृत।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र में प्रतिष्ठित संविभाजन की वृत्ति प्रारम्भिक काल के ब्रितानी प्रशासकों के लिये ऐसी गहन चिन्ता का विषय बन गयी थी कि मैसूर राज्य की पराजय के पश्चात् सद्यविजित राज्य के प्रशासन सम्बन्धी निर्देश देते हुए उस समय के ब्रितानी गवर्नर-जनरल रिचर्ड वेलसली को सहज भारतीय तन्त्र की इस संविभाजन वृत्ति का विशेष उल्लेख करना आवश्यक लगा। मैसूर राज्य में आरोपित ब्रितानी 'रेसीडेंट' को अपने सैनिक-सचिव के माध्यम से १७९९ में विस्तृत निर्देश भेजते हुए रिचर्ड वेलसली लिखते हैं[३] –

''हिन्दू राजा सामन्यतः अपने निजी उपभोग के विषय में पर्याप्त मितव्ययता का परिचय देते हैं, और वैसी ही मितव्ययता का भाव उनके प्रशासन के सभी विभागों में प्रायः रहता है। परन्तु एक विशेष विषय में अत्यन्त उदारतापूर्वक व्यय करने की उनमें अदमनीय वृत्ति बनी रहती है, इस विषय में वे इतने उदार हो जाते हैं कि प्रायः उनका समस्त आर्थिक प्रबन्ध लड़खडाने लगता है। यह विषय है विभिन्न व्यक्तियों (सामान्यतः ब्राह्मणों) और मन्दिरों के पक्ष में भूमि के राजस्व का अभ्यर्पण किये जाने का। महामहिम गवर्नर-जनरल को ज्ञात है कि इस प्रकार के समस्त महत्त्वपूर्ण अभ्यर्पणों के लिये पूर्णय्या ने पूर्ववर्ती मैसूर कमिश्नरों के समक्ष निवेदन कर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली है। महामहिम को यह भी ज्ञात है कि अब के अभ्यर्पण हैदर अली खान के राज्य पर अनाधिकार आरोपित होने से पूर्व प्रचलित अभ्यर्पणों की तुलना में अत्यल्प बताये जाते हैं। परन्तु महामहिम का यह मानना है कि ये अभ्यर्पण राज्य के साधनों की तुलना में उदार ही हैं। अतः आपको इन व्यवस्थाओं में कोई वृद्धि करने अथवा सरकार को राजस्व देने वाली भूमि का किसी प्रकार का कोई अभ्यर्पण करने की अनुमति देने के विषय में अत्यन्त सावधानी बरतनी होगी। उपयुक्त तो यही होगा कि आप इस विषय मे पूर्णय्या के साथ किसी पूर्णतया स्पष्ट समझौते पर पहुँच पायें। आपको पूर्णय्या से यह सीधे-स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिये कि आपकी अनुमति के बिना वे ऐसा कोई अभ्यर्पण कदापि नहीं करेंगे। इस सम्बन्ध में महामहिम गवर्नर-जनरल के निषेधात्मक निर्देशों की खुली अथवा लुक-छिप कर की गयी किसी प्रकार की कोई अवहेलना महामहिम को दुष्प्रबन्ध के किसी भी अन्य विषय की अपेक्षा अधिक उद्विग्न कर सकती है और उन्हें श्रीरङ्गपट्टनम् की सन्धि के चौथे अनुच्छेद को लागू करने के लिये बाध्य कर सकती है।''

---

[३] गवर्नर-जनरल के सैनिक सचिव डब्ल्यू. किरकपैट्रिक का मैसूर में ब्रिटिश रेसीडेंट कर्नल बैरी क्लोज के नाम पत्र, दिनाङ्क ४.९.१७९९, *वेलसली पेपर्स*, ब्रिटिश म्यूजियम, एड एमएस १३६६९। यहाँ उद्धृत अंश श्रीधर्मपाल से सौजन्यपूर्वक प्राप्त प्रतिलिपि से लिये गये हैं।

अन्नानुशासन को छिन्न करना

ऊपर श्रीरङ्गपट्टनम् की सन्धि के जिस चौथे अनुच्छेद का उल्लेख हुआ है उसके अनुसार ब्रितानी प्रशासन के गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वे कभी भी मैसूर राज्य के किसी भी विभाग के आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी अध्यादेश एवं निर्देश लागू कर सकते हैं अथवा उस विभाग को 'सीधे कम्पनी बहादुर के कर्मचारियों के प्रबन्ध के अधीन' ला सकते हैं।

स्वयं गवर्नर-जनरल के आदेश से दी गयीं इस प्रकार की स्पष्ट धमकियों के समक्ष झुकते हुए दीवान पूर्णय्या ने नये प्रशासन के पहले ही वर्ष में मैसूर राज्य में आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाओं और सार्वजनिक श्रेयस् के अन्य कार्यों के लिये अभ्यर्पित साधनों को २,३३,९५४ पगोडा प्रति वर्ष से घटाकर मात्र ५६,९९३ पगोडा प्रति वर्ष तक ला दिया।[४] २,३३,९५४ पगोडा की जो राशि हैदर अली खान के राज्यकाल में मन्दिरों, मठों एवं दान-पुण्य की अन्य संस्थाओं और विभिन्न मुस्लिम प्रतिष्ठानों के लिये अभ्यर्पित थी, वह भी हैदर अली खान से पहले के पारम्परिक एवं सहज भारतीय प्रशासन में इन संस्थाओं एवं कार्यों के लिये अभ्यर्पित राशि की तुलना में कहीं अल्प थी। यह तथ्य ब्रितानी गवर्नर-जनरल के उपरोक्त निर्देश में भी स्वीकार किया गया है। अंग्रेजों के अधीन पूर्णय्या की दीवानी के पहले ही वर्ष में ये अभ्यर्पण हैदर अली खान के समय प्रचलित अभ्यर्पणों का भी मात्र एक-चौथाई रह गये। परन्तु दीवान पूर्णय्या कदाचित् भले-बुरे के अपने विवेक के अनुरूप चलने के लिये स्वतन्त्र नहीं थे, मैसूर राज्य को जीतने के पश्चात् अङ्ग्रेजों ने ही उन्हें उस सद्यविजित राज्य के मुख्य कार्यवाहक के रूप में पुनः प्रतिष्ठापित किया था और उनका कार्य मैसूर के राजा के नाम पर परन्तु अङ्ग्रेज प्रशासकों के आदेशानुसार राज प्रबन्ध चलाना ही था।

बुद्धि को विभ्रमित करना

भारत के सहज आचार-व्यवहार के प्रति ऐसे गहन विद्वेष और संविभाग के सिद्धान्त को व्यवहार में साकार करने वाली विभिन्न संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के लिये उपलब्ध साधनों को क्षीण करने के ऐसे प्रबल प्रयासों का प्रभाव तो होना ही था। अतः किसी क्षेत्र में ब्रितानी प्रशासन के स्थापित होने के दस-बीस वर्षों के भीतर उस क्षेत्र में व्याप्त आतिथ्य एवं दान-पुण्य की संस्थाएँ और वस्तुतः सहज भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र की सभी व्यवस्थाएँ खण्डित होने लगतीं। इस प्रकार अङ्ग्रेजों के यहाँ आने के पश्चात् शीघ्र ही सारे भारत का समाज एवं राज्यतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया और संविभाग से सम्बन्धित सुदूर भूतकाल से चली आ रही भारतीय व्यवस्थाएँ

---

[४] देखिये, मेजर एम विल्कस कृत *रिपोर्ट आन द इंटीरियर एडमिनिस्ट्रेशन रिसोर्सेस एण्ड एक्सपेण्डीचर आफ द गवर्नमेंट आफ मैसूर*, फोर्ट विलियम, कलकत्ता १८०५, पुनर्मुद्रण, बङ्गलूर १८६४, पैरा १८५, पृ.३४।

प्रायः पूर्णतः नष्ट हो गयीं। उपभोग से पूर्व संविभाग करने के सिद्धान्त के प्रति साधारण लोगों की व्यक्तिगत आस्था तो निश्चय ही इस सब के उपरान्त भी बनी ही रही, परन्तु उस आस्था की सार्वजनिक अभिव्यक्तियाँ नितान्त क्षीण होने लगीं। इतना ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है कि जो साधनसम्पन्न भारतीय यूरोपीय लोगों के निकट सम्पर्क में आने लगे वे भी शीघ्र ही भारतीय आचार-व्यवहार के प्रति यूरोपीय विद्वेष को आत्मसात् करने लगे। यूरोपीय लोगों से मेल-जोल रखने वाले भारत के सम्भ्रान्त जनों में यह मतिविभ्रम ऐसी शीघ्रता से व्याप रहा था कि १८२९ ईसवी में ही भारत में ब्रितानी प्रशासन के तब के गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिंक भारत के सम्भ्रान्त जनों की मनोस्थिति के विषय में अत्यन्त सन्तोष के साथ निम्न विचार प्रकट कर सके। विलियम बेंटिंक इस विषय में लिखते हैं कि[५] –

''निकट भूतकाल की घटनाओं और अभी वर्तमान में हमारी आँखों के समक्ष जो घट रहा है, उसे देखकर यह मानना उचित प्रतीत होता है कि हमारी देशज प्रजा के लिये जो परिवर्तन लाभकारी सिद्ध होंगे वे कुछ आंशिक स्तर पर तो शीघ्र ही अपना लिये जायेंगे। उनका इन परिवर्तनों को अपनाना केवल इस पर निर्भर करता है कि उनके समक्ष ऐसा करने के लिये पर्याप्त प्रयोजन प्रस्तुत हो। यहाँ के प्रायः सब साधनसम्पन्न लोगों में सुख-सुविधा एवं विलासिता के नितान्त यूरोपीय साधनों को पाने की जो तीव्र रुचि पनप रही है उसका उल्लेख करना तो कदाचित् आवश्यक नहीं है। बहुदा यह वृत्ति असाधारण तीव्र दिखायी देती है। सुना जाता है कि कलकत्ता में उनके अत्यन्त पुण्य उत्सवों के सम्पादन में भी बड़ा परिवर्तन दिखने लगा है। पुराने समय में जो साधन ब्राह्मणों एवं भिखारियों में वितरित कर दिये जाते थे उनका बड़ा अंश अब यूरोपीय लोगों का अत्यन्त आडम्बरपूर्वक स्वागत-सत्कार करने और उन्हें खिलाने-पिलाने में लगा दिया जाता है। ऐसा माना जाता है कि व्यर्थ के भिक्षाकार्यों में व्यय की जाने वाली राशि में सामान्यतः बड़ी कटौती हुई है ...।''

सम्भवतः विलियम बेंटिंक भारत के सम्भ्रान्त समाज में हो रहे परिवर्तनों को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर कह रहे थे। यह तो सत्य ही है कि तब तक भारतीय समाज एवं राज्यतन्त्र की संस्थागत संविभाजन वृत्ति को प्रायः निरुद्ध कर दिया गया। यह भी सच है कि तब तक कलकत्ता और कदाचित् दिल्ली एवं आगरा जैसे नगरों के कतिपय समृद्ध भारतीय यूरोपीय सुख-साधनों एवं आचार-व्यवहार की ओर आकृष्ट होने लगे थे। ये नगर तब तक प्रायः पचास वर्षों तक यूरोपीय

---

[५] विलियम बेंटिंक का मिनट, दिनाङ्क ३०.५.१८२९। यहाँ उद्धृत अंश श्रीधर्मपाल से सौजन्यपूर्वक प्राप्त प्रतिलिपि से लिये गये हैं।

सम्पर्क में रह चुके थे। फिर भी जिन्हें विलियम बेंटिंक 'व्यर्थ के भिक्षाकार्यों' की संज्ञा देते हैं उनके समुचित सम्पादन से बचने की वृत्ति तब तक भारतीय लोगों में बहुत अधिक तो नहीं व्याप पायी होगी। यूरोपीय लोगों के साथ सामाजिक सम्पर्क रखने और उनके सुख-साधनों के लिये लालायित होने योग्य पर्याप्त साधन एवं साहस उस समय भला कितने भारतीय जुटा पाये होंगे। विलियम बेंटिंक के मई १८२९ ईसवी के जिस प्रलेख के कुछ अंश हमने ऊपर उद्धृत किये हैं, वह वस्तुतः लिखा ही इस आशय से गया था कि भारत में अधिक संख्या में 'मेधावी एवं सम्माननीय यूरोपीय जनों' को बसाये जाने का पक्ष स्पष्टता से रखा जाये, जिससे 'देशज प्रजा' के यूरोपीय लोगों के सम्पर्क में आने की सम्भावनायें कुछ बढ़ पायें।

परन्तु जो भारतीय यूरोपीय लोगों के सम्पर्क एवं प्रभाव में आये वे तो निश्चय ही आतिथ्य एवं दान-पुण्य की सनातन भारतीय परम्पराओं की गणना भारतीय समाज की उन रूढ बुराइयों में करने लगे जिनका समूल उन्मूलन करना समाज के सद्यप्रबुद्ध नेता होने के कारण उन्हें अपना कर्तव्य लगता था। भिक्षा देने एवं दान-पुण्य करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रचार करना इन 'प्रबुद्ध' समाज सुधारकों के सुधार कार्यक्रम का अङ्ग बन गया। केशबचन्द्र सेन के सुधार आन्दोलन के मुखपत्र *सुलभ समाचार* के १५ नवम्बर १८७० ईसवी के प्रथम अङ्क में ही भिक्षा देने की 'दुर्वृत्ति' के विरोध में एक लेख प्रकाशित हुआ। इस लेख में कहा गया कि, ''भिखारियों को भिक्षा देना सदयता का कर्म नहीं है, क्योंकि किसी अन्य के दान पर जीना अपने आप में दोषपूर्ण है।''[६] आगे इस लेख में कहा गया कि काम करने में अक्षम भिखारियों को भिक्षा देने के स्थान पर उन्हें 'समाज के लिये उपयोगी कार्य' करने का कोई प्रशिक्षण देना अच्छा है। जिनके पास पेट भरने को अन्न नहीं है उनसे अन्न के मूल्य के रूप में काम की माँग करने का यह नया विचार समय पाकर भारत के अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न लोगों में रूढ-सा हो गया। अपनी परम्पराओं में सने किसी साधारण भारतीय को ऐसा सोचना भी पापकर्म सा लगता रहा होगा, परन्तु नयी आधुनिक एवं तर्कसम्मत चेतना के धारक होने पर गर्व करने वाले सम्भ्रान्त भारतीय, क्षुधित याचकों को अन्न देने से पहले उनसे काम लेने के नये सिद्धान्त के मुखर समर्थक बन बैठे।

निर्दयता के तन्त्र की स्थापना

परन्तु ब्रितानी प्रशासकों और भारतीय सुधारकों के प्रायः सौ वर्ष के प्रयासों के उपरान्त भी साधारण जनों में स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने की प्रवृत्ति इतनी सबल एवं व्यापक

---

[६] डेविड काप्फ कृत *द ब्राह्मोसमाज एण्ड द शेपिंग आफ द माडर्न इण्डियन माइण्ड*, प्रिंसटन १९७९, पृ. १०७-८ से उद्धृत।

बनी रही थी कि १८०० ईसवी के 'दुर्भिक्ष आयोग' को दुर्भिक्ष के समय लोगों तक समुचित सहायता पहुँचाने के उपायों पर विचार करते हुए साधारण भारतीय जनों की इस प्रवृत्ति पर विशेष ध्यान देना आवश्यक लगा। तब तक भारत में ब्रितानी प्रशासन और उसका राजस्व पर्याप्त सुरक्षित आधार पर स्थापित हो चुका था। अतः तब के प्रशासकों के लिये ब्रितानी प्रशासन के प्रारम्भिक काल के किसी वेलसली अथवा बेंटिंक की भाँति सहज भारतीय वृत्तियों की दुराग्रहपूर्वक उपेक्षा करना आवश्यक नहीं था। १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त अन्यों का भरण करने का प्रयास करने की सहज भारतीय वृत्ति से प्रशासन के कार्य में प्राप्त होने वाली लाभ-हानि पर शान्त-निष्पक्ष भाव से विचार कर सकते थे। परन्तु इस शान्त-निष्पक्ष विवेचन के उपरान्त १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त भी प्रायः उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जिस पर १७९९ में रिचर्ड वेलसली और १८२९ में विलियम बेंटिंक पहुँचे दिखायी देते हैं। दुर्भिक्ष-आयुक्तों का मानना है कि स्वयं उपभोग करने से पूर्व अन्यों का भरण करने की भारतीय वृत्ति वस्तुतः एक सामाजिक बुराई ही है, इस बुराई को साधारण समय पर तो कदाचित् अनदेखा किया जा सकता है, परन्तु भीषण दुर्भिक्ष जैसी आपदा के आने पर इसे दबाना ही उपयुक्त है। दुर्भिक्ष-आयुक्तों का कहना है कि भूखों को अन्न देने की भारतीय समाज की सहज वृत्ति का भीषण दुर्भिक्ष के समय पूर्णतया उन्मूलन कर पाना सम्भव न होता हो तो भी उसे नियन्त्रित करना तो आवश्यक ही होगा। दुर्भिक्ष के सन्दर्भ में समुचित प्रशासनिक प्रबन्धों सम्बन्धी ७ जुलाई १८८० को प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में वे लिखते हैं कि [७]–

''भारत का देशज समाज दान-पुण्य की अपनी वृत्ति के लिये उचित ही विख्यात है। यहाँ सब वर्गों के लोग अपने परिवार, जाति, ग्राम अथवा नगर के दरिद्र एवं असहाय लोगों को अपनी क्षमता के अनुरूप सहायता पहुँचाना अपना धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। निस्सहायों की सहायता करने के कर्तव्य की इस गहन भावना के समाज में सर्वव्याप्त होने के कारण ही सामान्य समय पर यहाँ राज्य की ओर से किसी प्रकार के सहायता कार्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु दान-पुण्य के देशज कार्य अङ्ग्रेजी व्यवस्था के अनुरूप नहीं चलते। दान-पुण्य करने वालों में किसी प्रकार का आपसी सहयोग नहीं हो पाता और इस सब में कोई सुव्यवस्थित तन्त्र बैठा पाना कठिन है। देशज दान-पुण्य में कुछ गिने-चुने याचकों का पूर्णतया भरण करने के स्थान पर अनेक याचकों को किञ्चित् अन्न देते चले जाने की वृत्ति अधिक दिखायी देती है। ...आपत्काल के प्रारम्भिक चरण में ऐसे दान-पुण्य को प्रोत्साहित किया जा सकता है, ...परन्तु दुर्भिक्ष के

---

[७] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, लन्दन १८८०, पुनर्मुद्रण, एग्रीकोल, नई दिल्ली १९८९, पैरा १८७, पृ.६०-१।

भीषण स्तर पर व्यापने के पश्चात् इस दान-पुण्य को किसी व्यवस्थागत नियन्त्रण में न लाया जाये तो यह विकट बुराई का रूप ले सकता है। ...जब समस्या को राज्य पूर्णतया अपने हाथ में ले लेता है, सहायता के योग्य सभी व्यक्तियों को किसी-न-किसी रूप में राज्य की ओर से सहायता प्रदान कर दी जाती है और सब भिखारियों एवं आकस्मिक दारिद्रय से प्रभावित सब लोगों को रखने के लिये समुचित परिवृत्त परिसर की व्यवस्था कर दी जाती है, तब गलियों में भिक्षा माँगने और अनजान याचकों को भिक्षा देने की वृत्ति को निरुत्साहित करना, और सम्भव हो तो पूर्णतया निषिद्ध करना ही उचित है।''

वस्तुतः दुर्भिक्ष-आयुक्तों का आग्रह है कि जब राज्य दुर्भिक्षग्रस्त लोगों को सहायता देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है तब तो समाज को अपनी सहज सदयता को छिपाकर राज्य के मार्ग से बस हट ही जाना चाहिये। दुर्भिक्ष-आयुक्त सहायता कार्य में समाज का मात्र आर्थिक योगदान भी राज्य के लिये स्वीकार्य नहीं समझते। उनका कहना है कि [८] –

''जब राज्य सहायता के सभी योग्य पात्रों को सहायता प्रदान करने का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेता है तब ऐसी राजकीय सहायता व्यवस्था में लोगों से राज्य के इस कार्य में आर्थिक योगदान का कोई अनुरोध किये जाने का कोई औचित्य हमें दिखायी नहीं देता। लोगों से इस प्रकार का अनुरोध करना पुरानी व्यवस्थाओं का अवशेष मात्र है और जब राज्य के उत्तरदायित्व पर एवं राजकीय कोष के व्यय पर सुनिश्चित योजना के अनुसार प्रभावी सहायता का प्रबन्ध किया जाता है तब इस कार्य में लोगों से आर्थिक सहायता की अपेक्षा करना नितान्त अनुपयुक्त ही है। ...''

जिस राजकीय सहायता के प्रति दुर्भिक्ष-आयुक्त इतना गहन विश्वास दिखा रहे हैं वह उनकी अपनी अनुशंसाओं के अनुसार मात्र इतनी ही होनी थी कि सहायता के पात्रों से विशेषतः आयोजित सार्वजनिक कार्यस्थलों पर पूरे दिन का परिश्रम करवाकर उन्हें इतना वेतन दे दिया जाये जो उनके 'जीवननिर्वाह के लिये मात्र पर्याप्त हो, उससे कदापि अधिक नहीं।'[९] जिन लोगों का स्वास्थ्य इतना गिर चुका हो कि वे किसी प्रकार का परिश्रम करने के योग्य ही न रहे हो, उनके सन्दर्भ में दुर्भिक्ष आयुक्तों की अनुशंसा थी कि स्वास्थ्य निरीक्षकों द्वारा काम के अयोग्य

---

[८] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १८८, पृ.६१।

[९] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १११, पृ.३६। जीवन निर्वाह के लिये मात्र पर्याप्त वेतन देने और कदापि उससे किञ्चित् भी अधिक न देने का आग्रह रिपोर्ट में अनेक स्थानों पर हुआ है। इस सन्दर्भ में पैरा १४३, पृ.४३ और पैरा १८४, पृ.५० विशेष अवलोकनीय हैं।

प्रमाणित किये जाने पर उन्हें भिक्षा के रूप में कुछ थोड़ी-बहुत सहायता बिना काम करवाये दी जा सकती है, परन्तु आयुक्तों का आग्रह था कि ऐसी सहायता पाने वाला कोई व्यक्ति जैसे ही स्वास्थ्य निरीक्षकों की दृष्टि में काम के योग्य दिखने लगे, तब तुरन्त उसे दी जाने वाली यह तुच्छ सहायता रोक दी जाये। जो महिलाएँ 'जातिगत विधि-निषेधों' के कारण सार्वजनिक स्थानों पर उपस्थित नहीं हो सकती हों, उनके सन्दर्भ में आयुक्तों का कहना था कि उनके और उनके बच्चों के जीवन निर्वाह के लिये दी जाने वाली अन्न की सहायता के मूल्य के रूप में उनसे राज्य के लिये सूत कतवाने का काम ले लेना चाहिये।[१०] यह काम वे कदाचित् घर पर ही रहते हुए कर सकती थीं।

बिना किसी प्रतिकार की अपेक्षा किये किसी क्षुधित को अन्न देने के प्रति ब्रितानी प्रशासक ऐसी गहन वितृष्णा का भाव रखते थे। दूसरी ओर भारतीय जनों के लिये तो क्षुधित को इस प्रकार अन्न देना मानव-मात्र के मूलभूत अनुशासन का ही अङ्ग रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी से काम लिये बिना उसे अन्न देने से ब्रितानियों के किसी सहज नैतिक बोध का ही अतिक्रमण-सा होता था। वे लोगों पर आयी भीषण विपत्ति के समय भी उन्हें अन्न देने से पूर्व उनसे काम लेने का आग्रह करते रहे और ऐसे काल में भी वह अन्न के वितरण को कड़ाई से नियन्त्रित करते रहे। ऐसे नियन्त्रण के प्रति उनका आग्रह सर्वदा बना रहा, चाहे उनका अपना अनुभव यही था कि यहाँ के 'लोग सार्वजनिक दान स्वीकार करने के प्रति सङ्कोच का भाव' रखते हैं और 'वे अवसर मिलते ही स्वयं अपने परिश्रम से अपना निर्वाह कर पाने की तीव्र उत्कण्ठा' का परिचय देते हैं।[११]

दुर्भिक्ष-आयुक्तों का दुर्भिक्ष के प्रशासन सम्बन्धी १८८०ईसवी का प्रतिवेदन सार्वजनिक विपत्ति एवं सहायता के प्रबन्ध के लिये एक विशाल राजकीय तन्त्र की स्थापना का आधार बना। इस प्रकार ब्रितानी प्रशासकों के लोगों की विपत्ति एवं ऐसे विकट काल में लोगों की सहायता के प्रति विचार एवं संवेदनाएँ देश में अन्न की आपूर्ति एवं वितरण को नियन्त्रित करने की वृहत् राजकीय व्यवस्थाओं में मूर्त हो प्रायः स्थायित्व को पा गयीं। उस राजकीय तन्त्र और उसके पीछे के परकीय विचारों एवं संवेदनाओं को हम आज तक ढोते चले आ रहे हैं।

---

[१०] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १४४, पृ.४७। अपेक्षाकृत स्वस्थ सहायतार्थियों से परिश्रम करवाने के लिये विशेष कार्यस्थलों के आयोजन की चर्चा पैरा १२६ से १३६, पृ.४१-५ पर हुई है। परिश्रम करने में नितान्त अक्षम लोगों को स्वास्थ्य निरीक्षकों की स्पष्ट अनुशंसा पर भिक्षा के रूप में किञ्चित् सहायता दिये जाने का विषय पैरा १३७-४६, पृ.४५-८ पर उठाया गया है।

[११] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १०८, पृ.३५।

अन्नबाहुल्य से अन्नाभाव की ओर

संविभाग कर उपभोग में प्रवृत्त होने का सनातन भारतीय अनुशासन और उससे जुड़ी भारत की सहज सार्वजनिक व्यवस्थाएँ इस प्रकार ब्रितानी प्रशासकों एवं उनके भारतीय प्रशंसकों के उपहास, उपेक्षा एवं अनिष्टकारी नियन्त्रण का विषय बनीं। भारतीय अन्नानुशासन एवं उस अनुशासन को मूर्त करने वाली विशिष्ट भारतीय व्यवस्थाओं के विरुद्ध यह सुनियोजित-सा अभियान अङ्ग्रेजों के भारत आने के प्रायः साथ ही आरम्भ हो गया और उनके भारत से चले जाने के पश्चात् भी रुक नहीं पाया। समय पाकर भारत के लोगों का अनुशासन शिथिल होने लगा और अपने-आप को धर्म के पथ पर टिकाये रखने का सङ्कल्प दुर्बल पड़ने लगा। परन्तु भारत के लोगों का अनुशासन एवं सङ्कल्प ही क्षीण नहीं हो रहा था, अङ्ग्रेजों के आने के पश्चात् उनका संविभाजन का सामर्थ्य भी चुकने लगा था। स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा मिटाने के अनुशासन के सम्यक् पालन के लिये जिस अन्नबाहुल्य की आवश्यकता होती है, वह बाहुल्य ही इस देश की सहज सस्यप्रबहुला धरती से उठने लगा था।

उत्पादकता का क्षीण होना

भारतवर्ष के किसी क्षेत्र में ब्रितानी प्रशासन की स्थापना के दस-बीस वर्षों के भीतर ही वहाँ अन्नबाहुल्य के स्थान पर अन्नाभाव व्यापने लगता था। जैसे-जैसे अङ्ग्रेज भारतीय समाज एवं राजतन्त्र की सहज परन्तु अत्यन्त वृहद् एवं सुपरिष्कृत व्यवस्थाओं को खण्डित कर भूमि की उपज में से अभूतपूर्व मात्रा में राजस्व अंश प्राप्त करने के प्रयास करते गये वैसे-वैसे भूमि के बड़े भाग को जोतना असम्भव होता गया और भूमि की उत्पादकता गिरती चली गयी।

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, मद्रास नगर के आसपास के चेङ्गलपेट् क्षेत्र में १७६० एवं १७७० ईसवी के दशकों में भूमि की माध्य उत्पादकता का न्यूनतम आकलन २.५ टन प्रति हेक्टेयर बैठता है। ब्रितानी प्रशासकों के प्रलेखों के अनुसार इस क्षेत्र में उत्पादकता का यह स्तर १७८८ तक तो बना ही रहा था, उस काल में इस क्षेत्र में लड़ी गयीं अनेक लड़ाइयाँ भी क्षेत्र की उत्पादकता को इससे निम्न स्तर तक नहीं ले जा पायी थीं। परन्तु १७९८ ईसवी में इस क्षेत्र की उत्पादकता मात्र ६३० किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रह गयी थी।[१२] तब इस क्षेत्र को सीधे ब्रितानी प्रशासन के अधीन आये दस-बीस वर्ष ही हुए थे। इससे पहले ब्रितानी सम्प्रभुता में नवाब का शासन ही चल रहा था।

---

[१२] देखिये, आर. रत्नम कृत *एग्रीकल्चरल डिवेलपमेण्ट इन मद्रास स्टेट परायर टु १९००*, मद्रास १९६६, पृ. १११।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

इस क्षेत्र का प्रथम ब्रितानी 'जिला कलक्टर' लायनल प्लेस वस्तुतः इस क्षेत्र की तीव्रता से घट रही उत्पादकता के विषय में अत्यन्त चिन्तित था।[१३] इस स्थिति में उसके लिये पर्याप्त राजस्व एकत्र कर राजस्व आहरण के अपने मूल कर्तव्य का निर्वाह करना कठिन हो रहा था। उसका मानना था कि उत्पादकता में गिरावट का मुख्य कारण क्षेत्र में भेड़ों की संख्या के घटने से खेतों के लिये पर्याप्त खाद न मिल पाने में निहित था। और भेड़ों की संख्या इस लिये घट रही थी क्योंकि क्षेत्र में आये यूरोपीय लोग भेड़ों को खाते जा रहे थे। यूरोपीय लोगों के उपभोग के लिये भेड़ें इतनी बड़ी संख्या में काटी जा रही थीं कि लायनल प्लेस के अनुसार 'भेड़ों की जाति के समूल नाश की आशङ्का' उपस्थित हो आयी थी। उसका यह भी मानना था कि क्षेत्र के पड़ोस में स्थित मद्रास नगर के शीघ्रता से बढ़ने से क्षेत्र की भूमि गोबर एवं घास-फूस से वञ्चित होती जा रही थी। परन्तु उत्पादकता के इतनी शीघ्रता से घटने का सबसे बड़ा कारण कदाचित् यही था कि ब्रितानी प्रबन्धन के अधीन खेती घाटे का व्यापार बन गयी थी और कृषक खेत जोतकर भारी राजस्व देने के स्थान पर खेतों को खाली छोड़ना ही अधिक समीचीन पाते थे। खेतों को खाली छोड़ने की वृत्ति इतनी व्याप्त हो गयी थी कि स्वयं लायनल प्लेस को कृषकों को खेत जोतने पर विवश करने के लिये प्रायः बलप्रयोग तक करना पड़ता था।[१४]

उन्नीसवीं शती में भारत के विभिन्न भागों में भूमि की उपज एवं उत्पादकता के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों से जो छिटपुट सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर अधिकतर इतिहासज्ञ यही परिणाम निकालते हैं कि उन्नीसवीं शती की प्रायः पूरी अवधि में भारतवर्ष-भर में भूमि की उत्पादकता या तो घटती चली गयी या किसी अति निम्न स्तर पर रुकी रही। १८९० ईसवी के आसपास से खेती सम्बन्धी आँकड़ों का नियमित सङ्कलन किया जाने लगा। विशेषज्ञों में इस विषय पर मतभेद है कि नियमित सङ्कलन के प्रारम्भिक वर्षों के आँकड़ों पर किस सीमा तक विश्वास किया जा सकता है। परन्तु जो आँकड़ें सङ्कलित किये गये हैं उनसे तो यही प्रतीत होता है कि १८९० ईसवी के पश्चात् भी भूमि की उत्पादकता निरन्तर गिरती चली गयी। अतः यह मानना ठीक ही होगा कि अठारहवीं शती के अन्तिम दशकों से लेकर १९४७ ईसवी में स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारत में भूमि की उत्पादकता में कभी थोड़ी कभी अधिक, परन्तु निरन्तर गिरावट आती चली गयी। इस अवधि के अन्त पर भारतवर्ष में धान की माध्य

---

[१३] देखिये, लायनल प्लेस कृत *रिपोर्ट आन द सेटलमेण्ट फार फसलीस १२०२-४*, दिनाङ्क ६.१०.१७९५, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *चेङ्गलपेट् डिस्ट्रिक्ट रिकार्डस*, खण्ड ४९२, पैरा २५।

[१४] देखिये, लायनल प्लेस का मद्रास बोर्ड आफ रिवेन्यु के नाम पत्र, दिनाङ्क २२.१.१७९७, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *प्रोसीडिङ्गस आफ द बोर्ड आफ रिवेन्यु*, २५.१.१७९७, खण्ड १७२।

उत्पादकता मात्र एक टन प्रति हेक्टेयर रह गयी थी, गेहूँ एक हेक्टेयर पर ७०० किलोग्राम उगता था और मोटे अनाजों की उत्पादकता इस से भी कहीं निम्न स्तर पर थी।[१५]

अन्न की उपलब्धि में ह्रास

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों तक देश की कुल जोत भी सङ्कुचित होती जा रही थी। उस के पश्चात् जोता गया क्षेत्र कुछ बढ़ने लगा। परन्तु जोत में यह वृद्धि भूमि की उत्पादकता में आ रही निरन्तर गिरावट और जनसंख्या में हो रही किञ्चित् बढ़ोतरी की पूर्ति करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त ही थी। अतः प्रति व्यक्ति के भाग में आने वाले अन्न की माध्य वार्षिक मात्रा भी घटती चली गयी। अन्न की उपलब्धि में आने वाली इस गिरावट का सर्वाधिक स्पष्ट एवं अत्यन्त दुःखद प्रमाण तो ब्रितानी प्रशासन की अवधि में भारत के विभिन्न भागों में समय-समय पर व्यापने वाले दुर्भिक्षों के प्रायः अनन्त क्रम में ही देखा जा सकता है।

सन् १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयोग का अनुमान था कि जिस क्षेत्र को उस समय 'ब्रिटिश इण्डिया' कहा जाता था उस में साधारणतया ६.६ करोड़ हेक्टेयर जोत पर ५.१ करोड़ टन अनाज का उत्पादन होता था, और इस क्षेत्र की जनसंख्या उस समय १८.१ करोड़ थी।[१६] अतः इस अनुमान के अनुसार तब तक भूमि की माध्य उत्पादकता मात्र ८०० किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रह गयी थी और अन्न की प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उपलब्धि मात्र २८० किलोग्राम थी। अन्न उपलब्धि के इस स्तर की तुलना अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र में उपजाये जाने वाले प्रायः ५.५ टन प्रति कुटुम्ब अनाज की मात्रा से की जानी चाहिये। चेङ्गलपेट् के जिस ब्रितानी कलक्टर लायनल प्लेस की चर्चा पहले हुई है, उसके अनुसार इस क्षेत्र के माध्य कुटुम्ब में तब ४-५ सदस्य हुआ करते थे।[१७] इस का अर्थ है कि अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में प्रति व्यक्ति के भाग में आने वाले अन्न की माध्य मात्रा १ टन प्रति वर्ष के आसपास थी, और १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्त अपने समय पर इस मात्रा को २८० किलोग्राम प्रति वर्ष आँक रहे थे।

दुर्भिक्ष-आयोग द्वारा आँके गये ५.१ करोड़ टन के सकल अन्न उत्पादन में से आयोग के ही अनुमानों के अनुसार ३० लाख टन पशुओं का भाग होता था और ५०लाख टन भविष्य

---

[१५] देखिये, जे.के. बजाज कृत *ग्रीन रिवाल्यूशन इन द हिस्टारिकल परस्पेक्टिव*, पी.पी.एस.टी. बुलेटिन, मद्रास, नवम्बर १९८२, पृ.१०४।

[१६] *रिपोर्ट आफ द इण्डियन फैमीन कमीशन*, उपरोक्त, पैरा १५६, पृ.५०।

[१७] देखिये, लायनल प्लेस कृत *रिपोर्ट आन द सेटलमेंट आफ जागीर फार फसलीस १२०५-७*, दिनाङ्क ६.६.१७९९, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *बोर्ड्स मिसलेनियस वाल्युम्स*, चेङ्गलपेट्, खण्ड ४५, पैरा ३२६, पृ.३००।

के लिये बचाकर रख लिया जाता था। इस के अतिरिक्त बीज के लिये बरते जाने वाले और अन्यथा व्यर्थ होने वाले अन्न को भी घटा दिया जाये तो कुल ३.८ करोड़ टन अन्न भोजन के लिये शेष रहता था। अतः तब भारत में प्रति व्यक्ति को उपलब्ध होने वाले भोजन की माध्य वार्षिक मात्रा २१० किलोग्राम अनाज के तुल्य थी। आयोग का अनुमान था कि इतनी मात्रा में भोजन की उपलब्धि भारतीय जनसंख्या को दुर्भिक्ष के स्तर से ऊपर रखने के लिये मात्र पर्याप्त थी। अपने पूरे प्रतिवेदन में दुर्भिक्ष-आयुक्त अपना सब गणित इस आधार पर करते हैं कि किसी दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्र में लोगों को भूख से मरने से बचाने के लिये उस क्षेत्र में प्रति पाँच व्यक्तियों के लिये एक टन और बहुत कठिनाई हो तो छह व्यक्तियों के लिये एक टन अनाज उपलब्ध करवाना सर्वथा अनिवार्य होगा।

सन् १८९० ईसवी में जब व्यवस्थित ढङ्ग से खेती सम्बन्धी आँकड़े सङ्कलित करने का प्रथम प्रयास हुआ तो प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उत्पादन दुर्भिक्ष आयोग के २८० किलोग्राम के अनुमान से कहीं अल्प निकला। उन आँकड़ों के अनुसार तब देश में अनाज का उत्पादन मात्र २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष हो रहा था।[१८] स्वतन्त्रताप्राप्ति के समय के आसपास देश में अनाज का प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन और भी घट चुका था। १९५० के दशक के प्राथमिक वर्षों में देश के ३६ करोड़ लोगों के लिये कुल ५.३ करोड़ टन अन्न उपजाया जा रहा था, अतः तब प्रति व्यक्ति माध्य उत्पादन मात्र १५० किलोग्राम प्रति वर्ष ही रह गया था।[१९]

स्वतन्त्र भारत अन्नाभाव से उबर नहीं पाया

स्वतन्त्रताप्राप्ति के तुरन्त पूर्व एवं तुरन्त पश्चात् के कुछ वर्ष अन्न उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति अन्न की उपलब्धि के गणित से विशेष दुर्भाग्यपूर्ण थे। स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही स्थिति में कुछ सुधार आने लगा। साठ के दशक के प्रारम्भ पर देश में अनाज का उत्पादन १८० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष और सत्तर के दशक में १९० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक होने लगा था। आजकल देश में ९० करोड़ लोगों के लिये प्रायः १८ करोड़ टन अनाज उपजता है, अतः प्रति व्यक्ति माध्य वार्षिक उत्पादन अब २०० किलोग्राम के आसपास है।

इस प्रकार स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् के पाँच दशकों के अपने सब प्रयासों का प्राप्य मात्र इतना है कि देश में अन्न का प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन अब प्रायः सौ वर्ष पूर्व १८९० ईसवी

---

[१८] देखिये, जार्ज ब्लिन कृत *एग्रीकल्चरल ट्रेण्डस इन इण्डिया : १८९१-१९४७*, यूनीवर्सिटी आफ पेनसिलवेनिया, फिलेडेलफीया १९६६।

[१९] देखिये, जे.के. बजाज, उपरोक्त, पृ.१०४।

में आँके गये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उत्पादन के तुल्य हो पाता है। २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का यह माध्य उत्पादन अङ्ग्रेजों का प्रशासन स्थापित होने से पूर्व अठारहवीं शती में चेङ्गलपेट् जैसे अपेक्षाकृत कठिन तटीय क्षेत्र में होने वाले प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उत्पादन का पाँचवाँ अंश मात्र है। अङ्ग्रेजी प्रशासन की दो-अढ़ाई सौ वर्षों की अवधि में इस देश में व्यापे अन्नाभाव का निवारण करने का कार्य तो हम प्रारम्भ भी नहीं कर पाये।

देश में अब जो २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति का माध्य वार्षिक उत्पादन होता है, उसमें से बीज का और कुछ मात्रा में सहज ह्रास का प्रबन्ध तो करना ही पड़ता है। अतः हम देश में उपजाये गये अन्न में से पशुओं का किञ्चित् भी भाग न निकालें, तो भी इस देश के माध्य व्यक्ति के भोजन के लिए मात्र १८० किलोग्राम वार्षिक अनाज की मात्रा ही बचती है। अनाज की यह मात्रा १८८० ईसवी के दुर्भिक्ष-आयुक्तों के अनुसार साधारण लोगों के भूख से मरने की स्थिति का प्रतिकार करने के लिये न्यूनतम अपेक्षित मात्रा है। विश्व में आज कुछ गिने-चुने ही ऐसे देश होंगे जहाँ लोगों के भोजन के लिये इतनी अल्प मात्रा में अनाज उपलब्ध हो पाता है।

हमारा माध्य भोजन विश्व भर में न्यूनतम है

मानव का मुख्य भोजन प्रायः सब स्थानों पर अनाज, दालों, कन्दमूलों और मांस-मछली पर ही आधारित है। विभिन्न देशों में इस मुख्य भोजन के उपभोग की मात्रा का आकलन किया जाये तो एक स्थूल अनुमान यह बैठता है कि विश्व के अधिकतर देशों में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ३०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक तो होता ही है।[२०] यूरोप के विभिन्न देशों और विश्व के उन भागों में जहाँ यूरोपीय मूल के लोग जा बसे हैं, इस ३०० किलोग्राम वार्षिक मुख्य भोजन में मांस-मछली का अंश १०० किलोग्राम तक हो सकता है। अफ्रीका एवं एशिया में मांस-मछली का उपभोग अपेक्षाकृत अल्प होता है, यहाँ मांस-मछली का माध्य उपभोग ३० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ही बैठता है, और ३०० किलोग्राम मुख्य भोजन का शेष भाग अनाज एवं कन्दों से पूरा होता है। विश्व के जिन भागों में कन्दों का उपभोग अधिक होता है वहाँ मुख्य भोजन की कुल मात्रा प्रायः ३०० किलोग्राम से कहीं अधिक होती है। अफ्रीका के अनेक देशों में कन्द लोगों के मुख्य भोजन का प्रधान अंश हैं, और अफ्रीका के सर्वाधिक जनाकीर्ण देश नाइजीरिया में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ४२० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठता है। इस ४२० किलोग्राम मुख्य भोजन में कन्दों का अंश प्रायः ३२० किलोग्राम है।

---

[२०] विश्व के विभिन्न देशों में अन्न उपलब्धि सम्बन्धी यहाँ प्रस्तुत सब आँकड़े संयुक्त राष्ट्र की अन्न एवं कृषि संस्था (एफ.ए.ओ.) द्वारा १९९० ईसवी के लिये सङ्कलित आँकड़ों से लिये गये हैं।

अनुशासन से भ्रष्ट होना

भारतीय लोगों का मुख्य भोजन प्रायः पूर्णतया अनाज एवं दालों पर आधारित है। मांस-मछली का उपभोग हमारे यहाँ अल्प मात्रा में होता है और कन्द भी अधिक नहीं खाये जाते। १९९० ईसवी के आँकड़ों के अनुसार भारत में मांस-मछली का माध्य उपभोग ७.५ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है। हम २०.५ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आलू के उपभोग को भी देश के मुख्य भोजन का अंश मान लें तो माध्य भारतीय का कुल मुख्य भोजन २०० किलोग्राम प्रति वर्ष से थोड़ा ही ऊपर बैठता है।

इस प्रकार भारत का माध्य भोजन विश्व के सामान्य स्तर से कोई एक तिहाई नीचे है। भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर विश्व के कुछ ही देश ऐसे हैं जहाँ लोगों को उपलब्ध मुख्य भोजन की माध्य मात्रा हमारे जैसी अल्प है। अफ्रीका के सूडान, इथोपिया एवं सोमालिया और केन्द्रीय एवं दक्षिण अमरीका के ग्वाटेमला, हेती एवं पेरू जैसे कुछ देश इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ऐसे अधिकतर देश तो दीर्घ काल तक राजनैतिक अथवा दैवी विपत्तियों में से निकलते रहे हैं। और, इन में से कुछ देशों में अनाज और मांस-मछली के अतिरिक्त कोई-न-कोई अन्य ऐसा भोजनांश इतनी प्रचुरता में उपलब्ध रहता है कि उसे साधारण लोगों के मुख्य भोजन का अङ्ग माना जा सकता है। उदाहरणतया, सूडान में ११६ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष और सोमालिया में २२६ किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष दूध उपलब्ध है। अफ्रीका और दक्षिण एवं केन्द्रीय अमरीका के कई अन्य देशों में जहाँ मुख्य भोजन की माध्य उपलब्धि अपेक्षाकृत कुछ अल्प दिखायी देती है, वहाँ प्रायः केलों एवं अन्य फलों का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में होता है कि इससे निश्चय ही साधारण जनों का मुख्य भोजन समृद्ध हो जाता होगा।

जो देश कुछ काल तक राजनैतिक एवं दैवी विपदाओं से मुक्त रह पाते हैं, वे प्रायः सर्वदा ही अपने लोगों के लिये इतना भोजन तो उपलब्ध करवाते ही हैं कि वहाँ मुख्य भोजन का माध्य उपभोग ३०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के आसपास तक हो पाये। नैसर्गिक उत्पादकता से वञ्चित अनेक देश भारी मात्रा में भोजन का आयात कर अपने लोगों के लिये इस स्तर तक उपभोग कर पाना सुनिश्चित करते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के देशों के अतिरिक्त इस नियम का अपवाद केवल एशिया में थाईलैण्ड और अफ्रीका में कीन्या, बस यही दो देश हैं। कदाचित् यह मात्र संयोग नहीं है कि भारतीय उपमहाद्वीप के देशों की भाँति ही थाईलैण्ड और कीन्या का सार्वजनिक जीवन भी ब्रितानी विचारों एवं संवेदनाओं से प्रभावित होता रहा है और हमारी ही भाँति वे भी उस प्रभाव से अपने-आप को मुक्त नहीं कर पाये हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप के भीतर नेपाल में मुख्य भोजन का माध्य उपभोग २६० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है, जो हमारी अपेक्षा पर्याप्त ऊँचा है। बाङ्ग्लादेश का २३० किलोग्राम

प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का उपभोग हम से तो कुछ अच्छा ही है। श्रीलङ्का में अनाज, दालों एवं मांस-मछली का उपभोग २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष तक ही हो पाता है, परन्तु वहाँ ७० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष नारियल का उपभोग भी होता है, और नारियल वहाँ मुख्य भोजन के अंश-सा ही है। केवल पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की स्थिति मुख्य भोजन के माध्य उपभोग के सन्दर्भ में हमसे कुछ निकृष्ट दिखायी देती है।

भारत और उसके कतिपय पड़ोसियों की परिस्थिति अत्यन्त असामान्य है। हम मुख्य मानवीय भोजन के माध्य उपभोग के ऐसे निम्न स्तर पर जी रहे हैं, जो विश्व में अन्यत्र कहीं भी सामान्यतः स्वीकार करने योग्य नहीं माना जायेगा। उपभोग का हमारा स्तर वस्तुतः उन्नीसवीं शती के ब्रितानी प्रशासकों द्वारा दुर्भिक्षकाल के लिये अनुशंसित उपभोग के ही तुल्य है।

यह स्थिति मात्र सीधे मानवीय उपभोग के लिये उपलब्ध भोजन की मात्रा के सन्दर्भ में है। जब सीधे मानवीय उपभोग के अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगाये गये अन्न की मात्रा का भी आकलन करते हैं तो भारत की स्थिति विश्व के अन्य देशों की तुलना में और भी अधिक निकृष्ट दिखायी देने लगती है। भारत में अनाज एवं खाने योग्य कन्द की कुल उपलब्धि मात्र २३० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है। इस उपलब्धि में से बीज के लिये उपयोग किया गया और अन्यथा व्यर्थ गया अंश निकाल दिया जाये तो प्रायः २०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की मात्रा बच रहती है, और यह पूरी-की-पूरी मात्रा मानवीय उपभोग में आ जाती है। इस प्रकार पशुओं के लिये अनाज अथवा कन्द का कोई अंश शेष नहीं बचता। विश्व के अधिकतर देशों में पशुओं के लिये बड़ी मात्रा में अनाज एवं कन्द उपजाये अथवा आयात किये जाते हैं। विश्व भर में अनाज एवं कन्द का जो कुल उत्पादन होता है उसका प्रायः आधा भाग ही सीधे मानवीय उपभोग के काम आता है, शेष आधे भाग का बड़ा अंश पशुओं को ही खिलाया जाता है। यूरोप में सीधे मानवीय उपभोग, पशुओं के चारे और उपभोग से सम्बन्धित अन्य कार्यों में आने वाले कुल अनाज एवं कन्द की मात्रा ७०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठती है। उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्यों में प्रायः ९०० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की मात्रा में अनाज एवं कन्द प्रत्यक्ष मानवीय उपभोग, पशुचारे एवं उपभोग सम्बन्धी अन्य कार्यों में उपयुक्त होते हैं। जैसा कि हमने देखा है, अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में भी प्रायः इतनी मात्रा में अनाज उपलब्ध होता था। अर्वाचीन चीन में सीधे मानवीय उपभोग, पशुचारे एवं अन्य कार्यों के लिये अनाज एवं कन्द की उपलब्धि ४५० किलोग्राम प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बैठती है।

हम अपने पशुधन के लिये अपने यहाँ उपलब्ध अनाज आदि में से वैसा ही भाग निकालें जैसा पशुओं के लिये विश्व के अन्य देशों में निकाला जाता है तो हमें अपना अन्न उत्पादन

दोगुना से भी अधिक करना पड़ेगा। क्योंकि हम इतनी अल्प मात्रा में अनाज का उत्पादन कर रहे हैं, इसलिये हम अपने २७ करोड़ पशुओं के लिये अनाज का किञ्चित् अंश भी नहीं छोड़ पाते। यूरोप के प्रायः १२.४ करोड़ पशुओं को १७ करोड़ टन अनाज और ५.४ करोड़ टन कन्द खिलाये जाते हैं। चीन के एक करोड़ पशुओं और ३ करोड़ सूकरों के लिये ६.३ करोड़ टन अनाज और ६ करोड़ टन कन्द का प्रवन्ध होता है।

भारत में अनाज का उत्पादन हमारी आवश्यकताओं की तुलना में इतनी तुच्छ मात्रा में होता है कि हमारे लोग और हमारे पशु दोनों ही भूखे रह जाते हैं।

अभाव एवं निर्दयता देश की परिणति हो गये

भारत में अन्न की उपलब्धि सम्बन्धी आँकड़े निश्चय ही लोगों एवं पशुओं में व्याप रही अविरत क्षुधा की स्थिति की ओर सङ्केत करते हैं। किसी देश के लोगों के कल्याण-मङ्गल को मापने के लिये गढ़े गये समस्त सांख्यिकी मापदण्ड भारत में भूख की व्यापकता को ही प्रमाणित करते प्रतीत होते हैं। प्रायः सर्वत्र मान्य और सर्वत्र ज्ञात आँकड़ों के अनुसार भारत के ४० प्रतिशत लोगों को इतना भोजन भी नहीं मिल पाता कि वे उससे मात्र जीवनयापन के लिये आवश्यक मानी गयी न्यूनतम ऊर्जा के तुल्य पोषण पा सकें, पाँच वर्ष से छोटी आयु के भारत के ६३ प्रतिशत बच्चे इतनी भूख झेल चुके हैं कि कुपोषण के प्रभाव उनके शरीर के विकास में दिखायी देते हैं, और भारत की ८८ प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ इतना अल्प पोषण पाती हैं कि वे रक्तक्षीणता के रोग से ग्रस्त हैं।[२१]

परन्तु भारत में सर्वत्र व्याप रही क्षुधा का परिचय पाने के लिये आँकड़ों को जानना आवश्यक नहीं है। भारत के किसी भी छोटे-बड़े नगर में गायों और कुत्तों को कूड़े के ढेरों में मुँह मार-मार कर खाने योग्य जूठन के कुछ टुकड़े पाने का प्रयास करते देखा जा सकता है। अपेक्षाकृत बड़े नगरों में प्रायः कोई बच्चा और कभी-कभार कोई वयस्क भी उन जूठन के टुकड़ों की खोज में गायों और कुत्तों से होड़ लेता दिखायी दे जाता है। आजकल भारत के सामान्य परिवारों के घरों से निकलने वाले कूड़े में खाने योग्य प्रायः कुछ नहीं होता, बासी एवं जूठे अन्न को भी अब फेंका नहीं जाता। अतः सड़कों-गलियों में घूमती गायें कूड़े के ढेरों से कागज और प्लास्टिक के टुकड़े खा-खा कर अपना पेट भरने का प्रयास करती हैं, गलियों के कुत्ते भूख से विकल हो

---

[२१] उदाहरणतया देखिये, संयुक्त राष्ट्र विकास अभियान (यू.एन.डी.पी.) की *ह्यूमेन डिवलपमेण्ट रिपोर्ट १९९४*, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली १९९४, पृ.१५१ एवं १६५।

रात-रात भर रोते-चिल्लाते रहते हैं, और मानव जाति के बालक और वयस्क भूख से प्रायः बौराये हुए राजमार्गों और गलियों के किनारे खड़े अथवा लेटे पड़े दिखायी दे जाते हैं।

देश-भर को भिन्न-भिन्न दिशाओं से लाँघती हुई यहाँ आधुनिकता के आविर्भाव का दुन्दुभिवादन-सा करती फिरतीं भारत की महान् रेलगाड़ियों की यात्रा चहुँ ओर व्याप्त क्षुधा के और भी निकट से दर्शन करवा जाती हैं। अनेक नन्हे-नन्हे बालक पेट-भर जूठन पाने की आशा से इन गाड़ियों के डिब्बे बुहारते दिखते हैं। उनकी आँखें शैशव एवं लड़कपन की सहज प्रखरता से चमक रही होती हैं, और वे अपनी उस प्रखरता का धैर्यपूर्वक दमन कर यात्रियों एवं रेल कर्मचारियों की निरन्तर दुतकार झेलते चले जाते हैं। उन जैसा धैर्य, साहस एवं कर्मठता जुटाने में अक्षम उनके भाई-बन्धु प्लैटफार्मों पर खड़े होकर तरसती आँखों से यात्रियों को भोजन करते देखते हैं और किसी यात्री से बासी-सूखी रोटी का कोई टुकड़ा अथवा एक-आध इडली मिल जाने पर उनकी आँखें कृतज्ञता से डबडबा आती हैं।

देश के अत्यन्त पुण्य तीर्थस्थलों की यात्रा पर निकलने पर तो देश में व्याप्त क्षुधा के दृश्य तीव्रतर विकरालता से उपस्थित होने लगते हैं। ये वही तीर्थस्थल हैं जिनकी ओर जाने वाले मार्ग सब को सतत आश्रय एवं अशन प्रदान करने वाले छत्रों से आकीर्ण होते थे। उन छत्रों में आधी रात के समय उस दिन का अन्नसत्र समाप्त करने से पहले घण्टियाँ बजाकर घोषणा की जाती थी कि जिन यात्रियों को मार्ग में विलम्ब हो गया हो वे शीघ्रता से आयें और अपने भाग का अन्न ग्रहण करें। और उन छत्रों में पहुँचकर अनजान लोगों के अनाथ बच्चे वयस्क होने तक स्नेह एवं श्रद्धापूर्वक भरण-पोषण पाने का भरोसा पा जाते थे। आजकल उन्ही पुण्यस्थलों की ओर जाने वाली गाड़ियाँ और राजमार्ग सर्वव्याप्त अनन्त क्षुधा के अविस्मरणीय बिम्ब मन पर छोड़ जाते हैं। तिरुपति जैसी महान् तीर्थनगरी, जहाँ से सहस्रों यात्रियों की एक अजस्र धारा बहती चली जाती है, ऐसी पुण्य नगरी तिरुपति के मुख्य मार्ग पर पाँच-छह बरस की कोई बच्ची भूख से विकल हो रहे अपने नन्हे भाई के मुँह में दूध की खाली बोतल लगाकर उसे किसी प्रकार चुप करवाने का प्रयास कर रही हो – यह विकराल दृश्य भला कोई कैसे भुला सकता है।

अन्न उत्पादन एवं अन्न उपलब्धि के आँकड़े और देश के छोटे-बड़े नगरों की गलियों-कूचों में एवं प्रायः सब सार्वजनिक स्थानों पर नित्य घटने वाले विकराल दृश्य इस देश में व्याप्त गहन क्षुधा का ही वर्णन करते हैं। परन्तु इस देश के कर्ता-धर्ता हम सब समर्थ जनों का आग्रह है कि हमारे पास अपनी आवश्यकता के लिये पर्याप्त अन्न उपलब्ध है। बड़े-बड़े अर्थशास्त्री और अन्य नीतिनियोजक १९७० के दशक के प्रारम्भ से ही देश में अन्न की प्रचुरता का उद्घोष करते आये हैं। अब नब्बे के दशक में वे कहने लगे हैं कि देश में उपलब्ध अन्न न केवल हमारी आवश्यकताओं

के लिये पर्याप्त है, वस्तुतः हमारे यहाँ अन्न का किञ्चित् अतिरेक ही हो गया है। अतः उनका सुझाव है कि हमें अनाज का निर्यात कर कुछ विदेशी मुद्रा अर्जित कर लेनी चाहिये, अथवा अनाज उगाने के लिये उपयोग की जा रही भूमि पर अनाज के स्थान पर सरलता से निर्यात करने योग्य अन्य कोई सस्य उगा लेना चाहिये।

देश में अन्न की प्रचुरता का यह आग्रह इस आधार पर किया जा रहा है कि देश में जो अनाज उत्पन्न होता है वह अर्थशास्त्रीय दृष्टि से समुचित मूल्यों पर देश में पूरा बिक नहीं पाता। अतः अर्थशास्त्रियों एवं नीतिनियोजकों का कहना है कि जिनके पास अन्न का समुचित मूल्य चुकाने का सामर्थ्य है उनके लिये देश में अन्न का कोई अभाव नहीं है। और जो मूल्य चुकाने में असमर्थ हैं वे कदाचित् खाने के पात्र भी नहीं हैं। देश में पशुओं के लिये अनाज का किञ्चित् भी भाग न होने के तथ्य के स्पष्टीकरण में भी ऐसा ही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। कहा जाता है कि हम न पशुओं को खाते हैं न हमें उन्हें खिलाने की आवश्यकता है। हम पशुओं से आर्थिक लाभ नहीं पाते तो उनके लिये अनाज में भाग रखने का आर्थिक औचित्य भी नहीं रहता। इस प्रकार, इस कोटि के मानवीय सदयता से रिक्त एवं सर्वथा धर्मविरुद्ध तर्कों के आधार पर, हम देश में व्याप्त क्षुधा और अन्नाभाव दोनों को ही मान्य बनाते चले जाते हैं।

भारतीय सभ्यता में प्रशंसित अन्न सम्बन्धी अनुशासन का तो सार ही यही है कि जो भी इस धरती पर जन्म लेता है वह समुचित भोजन पाने का अधिकारी है। विश्व की अन्य सभ्यताएँ भी इस अनुशासन को तो मानती ही हैं। यह सत्य है कि विश्व के इतर लोग किसी प्राणी को भोजन करवाकर प्रायः उससे समुचित आर्थिक प्रतिकार की अपेक्षा रखते हैं। हम भारतीय अन्यों को भोजन करवाने के कर्म को स्वयं अपने-आप में ही श्रेयस्कर मानते आये हैं। अन्यों के मुख पर क्षुधाशान्ति से व्यापने वाले सन्तोष का दर्शन ही अन्यों को भोजन करवाने का सब से उत्तम फल है। विश्व के इतर लोग अन्यों की क्षुधाशान्ति के प्रति ऐसा निःस्वार्थ भाव नहीं रखते। परन्तु वे भी यह तो नहीं मानते कि जिन मनुष्यों अथवा पशुओं से आर्थिक लाभ पाना सम्भव न हो उन्हें भूखे मरने दिया जा सकता है। अन्यों की क्षुधा के प्रति ऐसा असम्पृक्त भाव तो किसी भी समाज में मान्य नहीं होता। सब स्वस्थ समाज स्वस्थ एवं पुष्ट मनुष्यों एवं पशुओं को अपने-आप में ही उपयोगी माना करते हैं।

हम भारतीय जो समस्त सृष्टि के भरण के प्रति ऐसे सतर्क-सचेत हुआ करते थे, अब अपने ही आसपास के मनुष्यों एवं पशुओं की भूख के प्रति असम्पृक्त हो गये हैं। एक असहज-सी निष्ठुरता एवं निर्दयता हमारे भीतर समा गयी है। हम अपने चहुँ ओर व्याप्त क्षुधा को देखते हुए भी उसके प्रति निश्चिन्त हैं। अन्यों का भूखा रहना हमें सहज-सामान्य लगने लगा है। अन्यों

की क्षुधा के प्रति निश्चिन्तता का यह भाव तो निश्चय ही पाप ही है, और हम सब, इस देश के सब समर्थ जन, इस घोर पाप के भागी हैं।

इस पाप का प्रायश्चित्त करना होगा

हम अपने सार्वजनिक जीवन को इस प्रकार पापमय तो नहीं बनाये रख सकते। पाप का ऐसा भारी बोझा ढोते हुए कोई समाज अपने-आप में सहज-स्वस्थ कैसे हो सकता है? अपनी खोयी हुई अस्मिता को आज के विश्व में पुनः प्रतिष्ठापित करने से पूर्व हमें यहाँ व्याप्त क्षुधा का निवारण तो करना ही होगा।

हमारे भाग में आये इस पाप का समुचित प्रतिकार तो तभी हो पायेगा जब हम अपने चिरन्तन ऋषियों से श्रुत 'अन्नं बहु कुर्वीत' के अनुल्लङ्घनीय व्रत को पुनः अङ्गीकार करते हुए देश में बहुमात्रा में अन्न का उत्पादन प्रारम्भ कर देंगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के पाँच दशकों में हमने अपने देश की कृषि को पुनः जीवन्त करने के कुछ प्रयास तो किये ही हैं। इन प्रयासों के फलस्वरूप आज देश में अनाज की माध्य उपज २ टन प्रति हेक्टेयर के पास पहुँची है। परन्तु उत्पादकता का यह स्तर अठारहवीं शती में चेङ्गलपेट् जैसे अपेक्षाकृत कठिन तटीय क्षेत्र में अर्जित उत्पादकता से नीचे बैठता है, और आज विश्व के प्रायः किसी भी अन्य वृहत् क्षेत्र में उत्पादकता का जो स्तर है, उसकी तुलना में भारत की माध्य उत्पादकता तो अत्यल्प ही है। वस्तुतः कृषि की उत्पादकता बढ़ाने के हमारे सब प्रयास देश की प्रायः ३० प्रतिशत भूमि तक ही सीमित रहे हैं। यह भूमि देश के अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न क्षेत्रों में है और इन क्षेत्रों में प्रचुर पूँजी का नियोजन कर आधुनिक महँगे ढङ्ग की जो खेती की जाती है, उससे उपजे अनाज का मूल्य इतना ऊँचा होता है कि देश के सामान्य जन उस अनाज का उपभोग करने योग्य आर्थिक सामर्थ्य अपने में नहीं पाते। देश की शेष ७० प्रतिशत कृषिभूमि साधनहीनता एवं उपेक्षा की उसी स्थिति में पड़ी है जिस में लाकर अङ्ग्रेज उसे छोड़ गये थे। नितान्त उपेक्षित पड़ी देश की इस ७० प्रतिशत कृषिभूमि का बड़ा अंश भारतभूमि पर बहने वाली अनेक जीवनदायिनी नदियों द्वारा निर्मित अति उर्वर समतल-सपाट क्षेत्रों में पड़ता है। इस सहज उर्वर भूमि पर हमारे साधनहीन किसान दैवमातृक कृषि करते हुए वर्ष-भर में मात्र एक नगण्य-सा सस्य उगा पाते हैं।

भारत की यह अति उर्वर भूमि किञ्चित् साधनों एवं सघन परिश्रम की और साधनों एवं परिश्रम से भी अधिक, समुचित मनोयोग की अपेक्षा करती है। हमारा चित्त देवों के वरदानस्वरूप प्राप्त हुई इस देश की असाधारण उर्वर भूमि पर स्थिर होने लगे तो शीघ्र ही यह

सहज सस्यप्रबहुला भूमि हमें उसी अन्नबाहुल्य से सम्पन्न कर देगी जिस बाहुल्य की भारत के चिरन्तन चिन्तन में इतनी महिमा रही है। इस प्रकार भूमि के पुनर्जीवित होने से देश के असंख्य साधारण जन भी पुनर्जीवन ही पा जायेंगे। भूमि के निष्प्रयोजन पड़े रहने से स्वयं निष्प्रयोजन हुए असंख्य भारतीय जन भूमि पर परिश्रम करने का अवसर पाकर पुनः जी ही जायेंगे।

भारत के सम्भ्रान्त जनों में देश की बढ़ती जनसंख्या के प्रति चिन्ता व्यक्त करते रहने का चलन-सा हो गया है। देश की अन्य सब समस्याओं की भाँति क्षुधा की समस्या भी बढ़ती जनसंख्या का ही परिणाम बतायी जाती है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतभूमि तो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य दुर्लभ नैसर्गिक उर्वरकता से सम्पन्न है। भारतवर्ष के भौगोलिक क्षेत्र का आधे से भी अधिक भाग कृषियोग्य है, भारत के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र को किसी-न-किसी सदासलिला पुण्य नदी के जल से परिपूर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त है, और भारतभूमि पर सूर्यदेवता की ऐसी कृपा है कि प्रायः समस्त क्षेत्रों में वर्ष में बारहों महीने सस्य का आरोहण होता चला जाता है। प्रकृति विश्व के अन्य किसी देश पर ऐसी उदार तो कदाचित् नहीं ही हुई। ऐसी विपुल नैसर्गिक सम्पदा से सम्पन्न किसी देश का जनाकीर्ण होना तो स्वाभाविक ही है, भारतभूमि सदा विश्व के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक जनाकीर्ण ही रही है। आज तो चीन की प्रति हेक्टेयर कृषिभूमि पर हमारे से दोगुना लोग हमारे से कदाचित् दोगुना समृद्ध भरण पा रहे हैं, और यूरोप की भूमि जिसे सूर्य के उर्वर तेज से आप्लावित होने का सौभाग्य वर्ष में कुछ ही दिन प्राप्त हो पाता है, वह प्रायः वञ्चित कृषि भूमि भी प्रति हेक्टेयर प्रायः हमारे जितने लोगों का निर्वाह कर पा रही है। अपनी प्राकृतिक सम्पदा और विश्व के अन्य भागों में आज व्याप्त जनसंख्या की दृष्टि से तो हमारे यहाँ निश्चय ही इस सन्दर्भ में कोई अतिरेक हुआ दिखायी नहीं देता।

भारतभूमि से अन्नभाव का पाप तभी धुल पायेगा जब भारत की प्रायः निष्प्रयोजन पड़ी कृषिभूमि पर पुनः परिश्रम एवं मनोयोग से खेती होने लगेगी, और हम भारतभूमि को प्राप्त नैसर्गिक बाहुल्य को कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार कर उस दैवकृत बाहुल्य से अन्नबाहुल्य का उपार्जन करने लगेंगे। हमने इस दिशा में अभी किञ्चित् ही ध्यान दिया है। हम देश में अनाज के उत्पादन में किसी प्रकार २.५ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि प्राप्त कर जनसंख्या में हो रही सहज वृद्धि की पूर्ति करने का प्रयास ही करते रहे हैं। परन्तु हमारा लक्ष्य तो अनाज के उत्पादन में ऐसी तीव्र गति से वृद्धि करना होना चाहिये जिससे पिछले दो सौ वर्षों का अन्नाभाव शीघ्र समाप्त हो और हम एकदा पुनः अन्नबाहुल्य से सम्पन्न हो जायें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमने मनोयोग पूर्वक कोई प्रयास अभी किया ही नहीं हैं। ऐसा अन्नबाहुल्य पाने के लिये तो हमें अपने समस्त साधनों और समस्त कर्म एवं चिन्तन को कुछ समय के लिये मात्र भूमि पर ही केन्द्रित करना होगा।

देश की भूमि धन-धान्य से सम्पन्न हो जायेगी और देश के लोगों की निरुद्ध वार्ता पुनः प्रवाहित हो उठेगी तो समृद्धि के जिन आधुनिक उपस्करों को पाने के लिये इस देश के हम साधनसम्पन्न जन इतने उद्विग्न हैं, वे उपस्कर भी शीघ्र ही यहाँ बहुलता से उपस्थित हो ही जायेंगे।

हमें भारत की अति उर्वर कृषिभूमि पर ध्यान केन्द्रित कर सम्पूर्ण मनोयोग से 'अन्नं बहु कुर्वीत' के सनातन भारतीय अनुशासन का निर्वाह करने के प्रयासों में जुटना होगा। परन्तु इन प्रयासों के फलीभूत होने और देश में अन्नबाहुल्य आने में जो समय लगेगा उस अवधि तक भी हम देश में व्याप्त भूख की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमारे चिरन्तन ऋषि अत्यन्त आग्रहपूर्वक हमें बता गये हैं कि भूख से त्रस्त मनुष्य और पशु राष्ट्र एवं समाज के समस्त पुण्य को क्षीण कर देते हैं। ऐसे राष्ट्र एवं समाज से देवता भी उठकर चले जाते हैं, और देवों से परित्यक्त कोई समाज अथवा राष्ट्र गहन अन्नाभाव को समाप्त कर अन्नबाहुल्य लाने के महान् प्रयास को कैसे सम्पन्न कर पायेगा? वस्तुतः सनातन भारतीय बोध तो यही है कि जिस समाज अथवा राष्ट्र में अन्यों की क्षुधा की उपेक्षा की जाती है, वह समाज अथवा राष्ट्र किसी अमूर्त स्तर पर ही पापमय नहीं होता, ऐसे राष्ट्र और समाज का प्रत्येक व्यक्ति एवं प्रत्येक गृहस्थ अपने आसपास व्याप्त क्षुधा के पाप में भागी होता है। अन्नाभाव का पाप राष्ट्र और समाज के सभी समर्थ जनों का ही ढोना पड़ता है। इस विषय में श्रुति का स्पष्ट सन्देश है कि जो भी संविभाग किये बिना उपभोग करता है, आसपास के अन्य क्षुधित प्राणियों की क्षुधा शान्त किये बिना स्वयं भोजन करता है, वह पाप का ही उपभोग करता है – केवलाघो भवति केवलादी।

अतः भारत भूमि पर पुनः अन्नबाहुल्य स्थापित करने के महान् प्रयास में लगने से भी पूर्व हमें संविभाग कर उपभोग करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन को पुनः अङ्गीकार करना होगा। हमें देश के लोगों और पशुओं की क्षुधा का निवारण करने का राष्ट्रव्यापी सङ्कल्प लेना होगा। सम्प्रति देश में इतना अन्न उपलब्ध नहीं है कि सभी को पूर्णतया तृप्त किया जा सके। परन्तु सद्गृहस्थ और अनुशासित राष्ट्र तो भीषण अभाव के समय भी अपने यहाँ उपलब्ध किञ्चित् अन्न का समुचित संविभाग करने के उपरान्त ही उपभोग की ओर प्रवृत्त होते हैं। अपने पास उपलब्ध किञ्चित् अन्न से भी अन्य क्षुधित प्राणियों का भाग तो निकालना ही होता है।

हम भारतीय जन संविभाग के अनुशासन को सहजता से ही निभाते आये हैं। हमें अपने पास उपलब्ध किञ्चित् अन्न का समुचित संविभाग कर सभी की क्षुधा मिटाने का आचार किसी से सीखने की आवश्यकता नहीं है। हमारे चिरन्तन ऋषि हमें अन्न और अन्नदान की महिमा का विशद उपदेश दे गये हैं, और हमें अनादि काल से ही अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अनुल्लङ्घनीय मानवीय अनुशासन का बोध रहा है। ऐसे सहज अनुशासननिष्ठ राष्ट्र एवं समाज

के लिये मात्र दो सौ वर्षों के अभाव, विभ्रम एवं स्मृतिभ्रंश को मिटा पाना कोई कठिन कार्य नहीं है। हम भारतीयता के सार को परिभाषित करने वाले संविभाग के अनुशासन का पुनः स्मरण करें। इस पुण्यभूमि पर विपुल अन्नदान की अजस्र धारा पुनः प्रवाहित हो। इस वृहद् देश का प्रत्येक ग्राम-समाज पुनः अपने भीतर एवं अपने आसपास व्याप्त क्षुधा के निवारण में रत हो जाये। अन्न एवं अन्नदान के ऐसे प्रवाह के साथ-साथ अन्नबाहुल्य का आविर्भाव भी हो ही जायेगा।

हम अपनी सहज भारतीयता का निर्वाह करने के लिये उपयुक्त बल एवं तेज से सम्पन्न हों और अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अपने सनातन धर्म में पुनः प्रवृत्त हो भारतवर्ष को पुनः पुण्यभूमि के अपने सहज रूप में प्रतिष्ठित करें।

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलिन्यो न ओषधयो पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् ।।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्ताम् ।
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम् ।
लोकास्समस्तास्सुखिनो भवन्तु ।।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अग्नि : श्री अग्निपुराणम्, हिन्दी अनुवाद सहित, दो खण्डों में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९८६। पुस्तक में दूसरे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

अर्थशास्त्र : कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, प्राच्यविद्यासंशोधनालय ग्रन्थमाला १५८, मैसूर १९८६।

आपस्तम्ब : आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, श्रीमद्धरदत्तमिश्रविरचितया उज्ज्वलाख्यया वृत्त्या संवलितम्, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ९३, चौखम्भा, वाराणसी १९८३।

उत्तररामचरित : उत्तररामचरितम्, महाकवि श्रीभवभूतिप्रणीतं नाटकरत्नम्, श्रीबालमनोरमा शृङ्खला, ५० एवं ५१, मद्रास १९६२।

ऋक्संहिता : ऋग्वेदसंहिता, श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता, तिलक-महाराष्ट्र-विद्यापीठ-शाखाभूत-वैदिक संशोधनमण्डलेन प्रकाशिता, पाँच खण्डों में, क्रमशः १९३३, १९३६, १९४१, १९४६ एवं १९५१ में पुणे से प्रकाशित। पुनर्मुद्रण, पुणे १९८३। पुस्तक में चौथे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

कामन्दकी : कामन्दकीय नीतिसारः, जयमङ्गला-उपाध्यायनिरपेक्षाभ्यां संवलितः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः १३६, खण्ड १, पुणे १९७७ एवं खण्ड २, पुणे १९८२। पुस्तक में पहले खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

गौतम : गौतमधर्मसूत्रम्, मस्करि भाष्योपेतम्, राजकीय प्राच्यविद्या पुस्तकालय ग्रन्थमाला ५०, मैसूर १९१७।

चतुर्वर्गचिन्तामणि : चतुर्वर्गचिन्तामणिः, श्रीहेमाद्रिविरचितः, आसियाटिक्-सोसाइटि-नाम्न्या संस्थया प्रकाशितस्य प्रतिरूपम्, ६ खण्डों में, चौखम्भा, वाराणसी १९८५। पुस्तक में तीसरे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

तैत्तिरीयब्राह्मण : कृष्णयजुर्वेदीयं तैत्तिरीयब्राह्मणम्, श्रीमत्सायणाचार्यविरचित भाष्यसमेतम्, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः ३७, तीन खण्डों में, क्रमशः १८९८, १९१८ एवं १९१८ में पुणे से प्रकाशित। पुस्तक में दूसरे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

तैत्तिरीयारण्यक : कृष्णयजुर्वेदीयं तैत्तिरीयारण्यकम्, श्रीमत्सायणाचार्यविरचित भाष्यसमेतम्, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः ३६, २ खण्डों में, पुणे १९०३। पुनर्मुद्रण १९८१। इस ग्रन्थ में दोनों खण्डों के पृष्ठों को इकट्ठे एक ही क्रम में गिना गया है। अतः पुस्तक में खण्ड का सन्दर्भ नहीं दिया गया।

तैत्तिरीयोपनिषद् : तैत्तिरीयोपनिषद्, सानुवाद शङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर १९३६। पुनर्मुद्रण, गोरखपुर १९९३।

पद्म : श्रीपद्मपुराणम्, खेमराज श्रीकृष्णदास सम्पादितस्य मुम्बई श्रीवेङ्कटेश्वरस्टीम् मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य पुनर्मुद्रणम्, ४ खण्डों में, नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८४। पुस्तक में प्रथम खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

पराशर : पराशरस्मृतिः, श्रीमत्सायणाचार्यकृतव्याख्यासहिता, दि एशियाटिक सोसाइटि, कलकत्ता से दो खण्डों में क्रमशः १८९३ एवं १८९९ में प्रकाशित। पुनर्मुद्रण, कलकत्ता १९७३। पुस्तक में प्रथम खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

भविष्य : श्रीभविष्यमहापुराणम्, खेमराज श्रीकृष्णदास सम्पादितस्य मुम्बई श्रीवेङ्कटेश्वरस्टीम् मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य पुनर्मुद्रणम्, २ खण्डों में, नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८४। पुस्तक में दूसरे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

मणिमेखलै : मणिमेखलै, शैवसिद्धान्त प्रेस, मद्रास १९७१।

मत्स्य : श्रीमत्स्यमहापुराणम्, खेमराज श्रीकृष्णदास सम्पादितस्य मुम्बई श्रीवेङ्कटेश्वरस्टीम् मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य पुनर्मुद्रणम्, नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८४।

मनुस्मृति : मनुस्मृतिः, मेधातिथि - सर्वज्ञनारायण - कुल्लूक - राघवानन्द - नन्दन - रामचन्द्र - मणिराम - गोविन्दराज - भारुचि इति व्याख्याननवकेन समलङ्कृता, पाँच खण्डों में क्रमशः भारतीय विद्याश्रेणी ग्रन्थ २९, ३३, ३७, ३८ एवं ३९ के रूप में मुम्बई से १९७२, १९७५, १९७८, १९८५ एवं १९८२ में प्रकाशित। पुस्तक में दूसरे खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

महाभारत : श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत महाभारत, सरल-हिन्दी अनुवाद सहित, छः खण्डों में, गीताप्रेस, गोरखपुर १९५५। पुनर्मुद्रण १९८७। इस ग्रन्थ में छहों खण्डों के पृष्ठों को इकट्ठे एक ही क्रम में गिना गया है। अतः पुस्तक में खण्ड का सन्दर्भ नहीं दिया गया। सन्दर्भ देते हुए पृष्ठसंख्या से पूर्व सर्वप्रथम पर्व का नाम और तदुपरान्त क्रमशः अध्याय एवं श्लोक की क्रमसंख्या

दी गयी है। गीताप्रेस वाले ग्रन्थ में महाभारत के दक्षिणभारतीय पाठ के श्लोकों की गिनती नहीं की गयी। पुस्तक में इन श्लोकों का सन्दर्भ देते हुए केवल पर्व के नाम एवं अध्याय की क्रमसंख्या का उल्लेख किया गया है।

याज्ञवल्क्य : याज्ञवल्क्यस्मृतिः, विज्ञानेश्वरप्रणीतया मिताक्षराव्याख्यया 'प्रकाश' - हिन्दी व्याख्यया च विभूषिता, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १७८, चौखम्भा, वाराणसी १९८३।

रघुवंश : रघुवंशम्, सञ्जीवन्या समेतम्, मुम्बई १८९७। पुनर्मुद्रण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९८२।

राजनीति : विद्वद्वरश्रीचण्डेश्वर विरचितः राजनीतिरत्नाकरः, 'प्रकाश' - हिन्दी - व्याख्योपेतः, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १९६, चौखम्भा, वराणसी १९७०।

रामायण : श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, हिन्दी भाषान्तर सहित, दो खण्डों में, गीताप्रेस, गोरखपुर १९६०। पुनर्मुद्रण, गोरखपुर १९९३। इस ग्रन्थ के दोनों खण्डों के पृष्ठों को इकट्ठे एक ही क्रम में गिना गया है। अतः पुस्तक में खण्ड का सन्दर्भ नहीं दिया गया। सन्दर्भ देते हुए पृष्ठसंख्या से पूर्व काण्ड का नाम और तदुपरान्त क्रमशः सर्ग एवं श्लोक की क्रमसंख्या दी गयी है।

वराह : श्रीवराहपुराणम्, आङ्ग्लभाषानुवाद सहितम्, सर्वभारतीय काशिराजन्यासः, वाराणसी १९८१।

विष्णु : श्रीविष्णुपुराण, मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर १९३३। पुनर्मुद्रण १९८८।

विष्णुधर्मोत्तर : श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणम्, खेमराज श्रीकृष्णदास सम्पादितस्य मुम्बई श्रीवेङ्कटेश्वरस्टीम् मुद्रणालयेन प्रकाशितस्य पुनर्मुद्रणम्, २ खण्डों में, नाग प्रकाशन, दिल्ली १९८५। पुस्तक में प्रथम खण्ड का ही सन्दर्भ आया है।

शतपथ : श्रीमद्वाजसनेयिमाध्यन्दिनशतपथब्राह्मणम्, श्रीमत्त्रयी भाष्यकारसायणाचार्य विरचित वेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसमेतम्, पुणे १९३९। पुनर्मुद्रण, पाँच खण्डों में, नाग प्रकाशन, दिल्ली १९९०। इस ग्रन्थ के प्रत्येक खण्ड के अनेक भाग हैं और प्रत्येक भाग के पृष्ठों को पृथक्-पृथक् गिना गया है।

हुयेन-त्साङ्ग : द लाइफ आफ हुयेन-त्साङ्ग बाय शमनस हुई-ली एण्ड येन-त्साङ्ग, ट्रांसलेटड इनटू इंग्लिश बाय सेमुअल बील, ट्यूबनेर, लन्दन १८८८।

आज जब विश्व के प्रायः समस्त देश अपनी-अपनी स्वतन्त्र दिशाओं में चल निकले हैं, हम इस तमस में डूबे नहीं रह सकते। हमें अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के स्वरूप और आज के विश्व में अपनी परिस्थिति को स्पष्टता से समझकर अपनी किसी विशिष्ट भारतीय दिशा, अपने किसी विशिष्ट भारतीय लक्ष्य का वरण करना होगा, और उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये एकदा पुनः राष्ट्रव्यापी आत्मविश्वास एवं दृढ सङ्कल्प जागृत करना होगा।

समाजनीति समीक्षण केन्द्र की स्थापना राष्ट्रीय अस्मिता के जागरण एवं आज के विश्व में विशिष्ट भारतीय दिशा के निर्धारण के इस कार्य में सहाई होने के उद्देश्य से की गयी है। केन्द्र ऐसी सार्वजनिक नीतियों के अन्वेषण में भी प्रयासरत है जिन पर चलते हुए देश के समस्त लोग राष्ट्र निर्माण के कार्य में भागी हो पायें और उन सब के सम्मिलित उत्साह एवं ओज से यह राष्ट्र ओजस्वी हो।

केन्द्र के अन्य प्रकाशन हैं --
भारतीय चित्त मानस एवं काल, १९९३, हिन्दी एवं अङ्ग्रेजी में।
अयोध्या एण्ड द फ्यूचर इण्डिया, १९९३, अङ्ग्रेजी में।
इण्डियन एकानामी एण्ड पालिटी, १९९५, अङ्ग्रेजी में।

प्रस्तुत पुस्तक अङ्ग्रेजी एवं तमिल में भी प्रकाशित की जा रही है।

मूल्यः ४००/- रुपये
आई एस बी एन ८१-८६०४१-०६-०

अन्नं बहु कुर्वीत

अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के सनातन भारतीय धर्म का अनुस्मरण

जितेन्द्र बजाज
मण्डयम् दोड्डमने श्रीनिवास

सहज सस्यप्रबहुला भारतभूमि आज अन्नाभाव एवं व्यापक क्षुधा से त्रस्त है। ब्रितानी प्रशासन के इस भूमि पर पाँव धरते ही जो अकाल यहाँ व्यापने लगा था उस अकाल से हम अभी उबर नहीं पाये।

आज हमारे यहा अनाज एवं खाने योग्य कन्दो का उत्पादन इतने अल्प परिणाम में होता है कि हम इस उपज में से पशुओं के लिये किञ्चित् भाग भी नहीं निकाल पाते, और सम्पूर्ण उपज के मानवीय उपभोग को समर्पित कर दिये जाने के उपरान्त भी भारतीय जन के मुख्य भोजन की माध्य मात्रा विश्व-भर के लोगों के मुख्य भोजन की सामान्य मात्रा से एक-तिहाई अल्प बैठती है। भारतदेश के लोग एवं पशु दोनों ही भूखे हैं। परन्तु उनकी क्षुधा के प्रति भारतवर्ष के हम समस्त सक्षम-सम्भ्रान्त जनों ने असम्पृक्त-सा भाव अपना लिया है।

भारतभूमि ऐसी अभावग्रस्त तो कभी नहीं हुआ करती थी, न ही अन्यों की क्षुधा के प्रति हम कभी ऐसे असम्पृक्त हुआ करते थे। भारतवर्ष में तो सर्वदा यह माना जाता रहा है कि बहुमात्रा में अन्न उपजाना और उपजाये अथवा पकाये गये अन्न का व्यापक-उदार संविभाग करने के उपरान्त ही उपभोग की ओर प्रवृत्त होना मानवीय जीवन का मौलिक अनुशासन है। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान मानवीय जीवन का मूलभूत एवं सनातन धर्म हैं। समस्त धर्मसम्मत एषणाओं की ओर प्रवृत्ति अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के इस सुस्थिर आधार पर स्थित होकर ही सम्भव होती है। यहाँ तक कि मोक्ष की साधना भी इसी आधारभूत धर्म के सम्यक् निर्वाह से ही प्रारम्भ होती है।

इस पुस्तक में श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण का अवलम्बन लेकर अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के इस सनातन भारतीय धर्म के अनुस्मरण का प्रयास किया गया है। आशा है कि यह पुस्तक राष्ट्र का ध्यान अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के मौलिक धर्म पर केन्द्रित करने में सहायक होगी।

प्रकाशन से पूर्व यह पुस्तक भारत के अनेक प्रमुख धर्माचार्यों के चरणों पर समर्पित की गयी है। निम्नलिखित आचार्यों ने इस पुस्तक को अपने आशीर्वाद से गौरवान्वित किया है –

श्री जगद्गुरु शृङ्गेरी श्रीमद्भारतीतीर्थमहास्वामीजी
श्री कलियन् वानमामलै रामानुज जीयर् स्वामिगल्
जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य श्रीनिश्चलानन्द सरस्वती महाराज
श्री श्री त्रिदण्डी श्रीमन्नारायण रामानुज जीयर् स्वामीजी
श्री पेजावर अधोक्षज मठाधीश श्री विश्वेशतीर्थ स्वामीजी
विरक्त शिरोमणि परमहंस श्री स्वामी वामदेवजी महाराज
श्रीकाञ्चीकामकोटि शङ्कराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती स्वामिगल्



समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास